दो शब्द

सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द-भवन
रामलीला मैदान, नई देहली–१

प्रस्तुत पुस्तक को आर्य-जनता की सेवा में भेंट करते हुये मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है। श्री के० एम० मुन्शी और उनके साथियों ने 'वैदिक एज' प्रकाशित करके वैदिक साहित्य पर जो अनावश्यक प्रहार किये थे वह उन लोगों के योरुपीय गुरुवों की पुरानी परम्परा की एक नई कड़ी थी। महर्षि स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् भारत के महाविद्वान् मुनिवर पंडित गुरुदत्त एम० ए० ने जिस अपार विद्वत्ता से योरुपीय पंडितों के ईसाई-समर्थक उस षड्यन्त्र को तोड़कर चूर-चूर कर दिया था — आधुनिक काल में ठीक उसी प्रकार आर्य-जगत् के मूर्धन्य विद्वान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महापण्डित आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने अपने अपूर्व विद्याबल से योरुपीय पंडितों के उच्छिष्ट पर निर्वाह करने वाले अधूरे पण्डितम्मन्यों का जिस योग्यता से उत्तर देकर निराकरण किया है उससे वे महर्षि के प्रथम कोटि के शिष्यों की पंक्ति में आ विराजे हैं। वैसे तो उनकी पाण्डित्यपूर्ण लेखनी से 'वैदिक-ज्योति'; 'वैदिक-इतिहास-विमर्श' सरीखे अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे जाकर प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक लिखने में उनके मस्तिष्क में निहित ज्ञान का जैसा प्रकाश लेखनी द्वारा हुआ है निःसन्देह वैदिक-धर्म-रूपी भास्कर पर छा रही काली-नीली बदलियों को छिन्न-भिन्न करने में वह पूर्ण-रूप से सफल होगा।

प्रारम्भ में सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य आदि अनेक ग्रन्थों की कुछ महत्वपूर्ण पंक्तियों को उद्धृत किया गया है — वह वैदिक-धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

फिर डार्विन साहब के विकासवाद पर अटूट तर्क-शैली का अवलम्बन कर जिस योग्यता से योरुपीय विकासवाद को अधूरा, बुद्धि-विरुद्ध और परम्परा-विरुद्ध सिद्ध किया गया है वह अत्यन्त उच्च कोटि की योग्यता, विद्वत्ता और लेखन-कला का मूक प्रदर्शन है। आचार्य जी का यह व्यंगात्मक तर्क कि डार्विन महोदय ने एक-अणुक अमीवा से लेकर जलचर, स्थलचर और नभश्चर — तथा सृष्टिकुल-चूडामणि मानव का

बन्दर से विकसित होना बतलाते हुये कई कड़ियाँ दिखाई हैं, कई कड़ियाँ उनकी अनुसूची में टूटती भी हैं — इच्छा' द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान लिङ्गों से जानी जाने वाली चेतना किस प्रकार जड एवं चेतनाशून्य प्रकृति से 'अमीवा' में प्रकट हुई ? — अकाट्य है ।

"'वैदिक एज' के निर्णीत परिणाम भी अनिर्णीत हैं"—इस शीर्षक से आचार्य जी ने बड़ी खोजपूर्ण योग्यता से ताम्रयुग, कांस्ययुग, लोहयुग, पुरा-पाषाण तथा नव-पाषाणयुग एवं पाश्चात्यों तथा उन्हीं के भारतीय शिष्यों द्वारा वेदाविर्भाव का समय ३५००, ४०००, ८०००, १०००० तथा ५०००० वर्षों की कल्पनावों का चित्र खींचकर उस पर जो समीक्षा की है वह वस्तुतः पठनीय सामग्री है ।

'भूगर्भ-शास्त्र और इतिहास'—इस शीर्षक से अनेकों योरुपीय विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत करने के अनन्तर ग्रन्थकार की यह टिप्पणी बड़ी ही मार्मिक है कि — परन्तु भूस्तरों, चट्टानों आदि के द्वारा पृथिवी का इतिहास, उनका समय और हिमयुगों का निर्धारण ऐसी वस्तुवें हैं जो इस विज्ञान में बलात् प्रविष्ट कर ली गई हैं । इससे यह विज्ञान एक कल्पित वस्तु बनकर रह गया है ।

इसके अनन्तर इसी विषय पर शास्त्रीय विचारधारा के आधार पर बतलाया गया है कि वेद में केवल विज्ञान का वर्णन है—किसी घटना अथवा इतिहास के तिथि-क्रम का वर्णन नहीं । वेद ईश्वरीय ज्ञान है । उसमें किसी देश-काल की घटना का वर्णन नहीं हो सकता । विज्ञान का वर्णन अवश्य है । यह घटना का क्रम ब्राह्मण और शाखावों में पाया जाता है जो वेदों के व्याख्यान हैं ।

इस पर आचार्य जी ने वेदों के अनेक मंत्र और ब्राह्मणों तथा शाखावों के प्रमाण देकर सृष्टि विज्ञान की वैदिकी विचारधारा को अनूठे ढङ्ग से उपस्थित किया है । इसके अतिरिक्त श्री के० एम० मुन्शी और उनके साथियों द्वारा 'वैदिक एज' में गप के साथ वेद-मन्त्रों को आधार बनाकर जो अन्याय किया गया है, श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री ने महर्षि दयानन्द की वेदार्थ शैली द्वारा उस अवैदिक षड्यन्त्र को जिस योग्यता और विद्वत्ता से तोड़ा है वह स्वाध्यायशील जनता और भावी सन्तान के लिए बड़ी ही अमूल्य वस्तु सिद्ध होगी ।

भाषा-विज्ञान आदि विविध विषयों को लेकर उठने वाले आक्षेपों का परिहार करने में प्रचुर अनुसन्धानपूर्ण अन्य सामग्री भी इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है ।

भाषा-विज्ञान पर गम्भीर विचार करते हुये, "वाणी का विस्तार" इस शीर्षक से बताया गया है कि यह परमात्मा की प्रेरणा से ऋषियों पर सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट होती है, ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर वाणी के चार पद कहे गये हैं। यह चार पद, ओंकार, भूः, भुवः और स्वः हैं । इसी क्रम में भाषाओं की उत्पत्ति—ऋषि-संकोच-क्रम, मानव-संकोच-क्रम, असुर-संकोच-क्रम—इन क्रमों में वैदिकी भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा एवं देशीय तथा विदेशीय अन्य भाषाओं के बनने का क्रम बड़ा ही खोजपूर्ण है । इसी प्रसंग में सभी भाषाओं के मूल वैदिकी संस्कृत भाषा से ही अनेक भाषाओं के शब्द उदाहरण के रूप में दिखाये गये हैं जो भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये बड़ा ही खोजपूर्ण है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक प्रभृति उच्चकोटि के पण्डित भी किस प्रकार भ्रान्त धारणाओं के वशीभूत होकर विदेशी विद्वानों के स्वर में स्वर मिलाकर उनकी ही पंक्ति में खड़े होने के लिये बाधित हो गये और अनेक प्रकार अवैदिक धारणाओं की ध्वनि उनकी लेखनी से निकल पड़ी ।

आचार्य-प्रवर ने अपने अनुसंधान और विद्याबल से ऐसी कल्पित विचारधारा का जो ओजपूर्ण और अकाट्य निराकरण किया है वह आर्य-जगत् के लिये बड़े गौरव का विषय है ।

मेरा विश्वास है इस ग्रन्थ के प्रकाशन से देश एवं विदेश के विद्वानों को वेद के सम्बन्ध में अपनी त्रुटिपूर्ण धारणा पर पुनः विचार करने की प्रचुर सामग्री प्राप्त होगी ।

रामगोपाल
मन्त्री
सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा
देहली

श्रीनगर (कश्मीर)
श्रावण शुक्ला १० संवत् २०२१ विक्रम
दिनांक १७—८—६४

ओ३म्

भूमिका

आजकल देशीय और विदेशीय विद्वानों के द्वारा वेदों पर अनेक प्रकार के आक्षेप होते रहते हैं। इधर अनुसंधान के नाम पर जितनी ही प्रवृत्ति बढ़ी उतना ही वेदों पर आक्षेप और अवक्षेप भी बढ़ गये हैं। कभी वेदों के काल के विषय में आपत्ति उठाई जाती है और कभी उसमें वर्णित विषयों को लेकर बड़ी-बड़ी पुस्तकें साजसज्जा के साथ विविध उपाधियों से विभूषित विद्वानों द्वारा लिखी जाकर प्रकाशित होती रहती हैं। कहना पड़ेगा कि आजकल की स्कालरशिप का यह सबसे प्रधान कार्य हो गया है कि कुछ-न-कुछ वह ऐसी बात लिखें ही जो प्राचीनता और पौरस्त्यता की विरोधी हो। ऐसी वस्तुवों को वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम देने की भी एक साधारण प्रचलिति हो गई है। अनुसंधान की प्रक्रिया ही आज एक उल्टे मार्ग पर चल रही है। फिर भी नाम उसका वैज्ञानिक-प्रक्रिया ही बना हुआ है। किसी वस्तु का समय आकलित करना इसका प्रधान कार्य बन गया है। इसके लिये विकासवाद, भाषाविज्ञान और इतिहास की वैदेशिक प्रणाली के आधार पर कार्य किया जा रहा है। जबकि यह सुनिश्चित तथ्य कि भाषा विज्ञान कोई विज्ञान नहीं, विकासवाद का दर्शन कोई दर्शन नहीं और विदेशियों द्वारा प्रचारित प्रणाली कोई प्रशस्त प्रणाली नहीं—फिर भी इसका ही प्रचार अधिकतर किया जा रहा है। भारत के दुर्भाग्य से इस देश पर विदेशियों का लम्बे काल तक शासन रहा। इससे बहुत अधिक प्रभाव इस देश की सभ्यता और विचार-सरणि आदि पर पड़ गया है, ऐसी अमिट छाप इसकी पड़ गई है कि यह स्वतंत्र होने के बाद भी नहीं मिट रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इस छाप को मिटाया जावे और इस अवैज्ञानिक भाषा-विज्ञान आदि का भली प्रकार निराकरण कर वास्तविकता सुधावर्ग और जनसाधारण के समक्ष रखी जावे। इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

ऊपर लिखा गया है कि वेद के काल से लेकर उसकी भाषा और उसके विविध विषयों आदि को भाषा-विज्ञान आदि की दृष्टियों से आक्षिप्त किया जाता रहता है। वैदिक-एज नाम की पुस्तक ने वेदों और उसके काल आदि के विषय में अनेक अनर्गल आक्षेप किये हैं। आर्यसमाज के साथ वेद का सदा समवाय सम्बन्ध रहा है अतः आक्षेपों का उत्तर देना भी उसका एक प्रधान कार्य हो जाता है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद के वास्तविक स्वरूप को पुनः संसार के सामने रखा। आचार्य ने वेदार्थ की प्राचीन आर्य-परम्परा का प्रचलन किया और वेद को ईश्वरीय ज्ञान घोषित करते हुए उसे समस्त सत्य विद्यावों का पुस्तक बताया। यह धारणा जितनी ही प्रशस्त है उतनी ही वर्तमान समय में इसकी स्थापना भी कण्टकाकीर्ण हो गई है। अनेक प्रकार के कण्टकों को साफ करके ही इसे प्रस्थापित किया जा सकता है। इस दृष्टि को लेकर इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गई है और वेद के काल आदि का निर्णय कर उसके वास्तविक स्वरूप को लोगों के सामने रखने का प्रयत्न किया गया है। इस दिशा में भी भाषा-विज्ञान और विकासवाद और भूगर्भशास्त्र आदि की जो कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं सबका भली प्रकार निराकरण और समाधान किया गया है। अवेस्ता की भाषा और अनेक विदेशी भाषावों के शब्दों को लेकर वेद पर जो आक्षेप किये जाते हैं— सभी का विस्तार से युक्तियुक्त प्रमाणपुरःसर उत्तर दिया गया है। इस बात को प्रबल प्रमाणों और आधारों से सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वेद से पूर्व की न कोई भाषा है, न कोई उससे पूर्व का धर्म है, न वेद मानव की कृति है और न संसार की कोई भाषा है जो वेद की भाषा से न बनी हो। वेद की वाणी ही ऐसी है जो सब भाषावों का मूल है। वैदिक एज के सभी तर्कों की पूर्णरूपेण खण्डन कर निःसारता दिखला दी गई है। वैदिक एज के अतिरिक्त ग्रन्थों द्वारा जो तर्क वेद के खण्डन में दिये गये हैं उनका भी समाधान किया गया है। कहना चाहिए कि हर प्रकार के प्रहारों से वेद की रक्षा कर वास्तविकता को उपस्थापित किया गया है। इस प्रसंग में विकासवाद के सिद्धान्तों और भाषा-विज्ञान की कल्पनावों को चकनाचूर करने में कोई भी कोर-कसर उठा नहीं रखी गई है। विविध नवीन तथ्यों को उद्घाटित करने का यत्न किया गया है। भूगर्भ-शास्त्र की बड़ी भारी आड़ ली जाती है अपने इतिहासों और विविध घटनावों के काल आदि के आकलन

में। इसका भी वास्तविक रूप क्या है ? —प्रस्तुत करने का सम्यक् समुद्योग किया गया है।

आचार्य दयानन्द सरस्वती ही एक ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने अंग्रेजी राज्य के पूर्ण यौवनकाल में होते हुये भी अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में भारत के प्राचीन इतिहास को वास्तविक रूप देने की आवाज़ उठाई। उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास के कई मूल सूत्रों का अपने ग्रन्थ में वर्णन भी किया है। ११वें समुल्लास के अन्त में एक बहुत बड़ी वंशावलि भी प्रकाशित कर दी थी। वे चाहते थे कि आर्येतिहास को विदेशी मान्यतावों से हटाकर उसके निजी रूप में प्रस्तुत किया जावे। जहाँ अनेक प्रकार के सुधार ऋषिवर ने किये वहाँ आर्येतिवृत्त को उसके असली रूप में रखने के कार्य की भी प्रेरणा दे गये। आर्यलोग कहीं बाहर से भारत में नहीं आये, सृष्टि के आदि में त्रिविष्टप में पैदा हुये, उनसे पूर्व धरा पर कोई भी जाति नहीं थी—आदि बातों का वर्णन महर्षि के ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि के बताये मार्ग पर चलते हुये उनके सभी इतिहास-सम्बन्धी सूत्रों को लेकर इस ग्रन्थ में वास्तविक आर्येतिहास के मार्ग को प्रशस्त किया गया है। इसी प्रसंग में इतिहास-सम्बन्धी विदेशी मान्यतावों की पूर्ण निराकृति की गई है और महर्षि की समस्त स्थापनावों को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस विषय में प्रागैतिहासिक, प्राग्वैदिक, और हिमसम्बन्धी, पाषाणसम्बन्धी युगों और इन पर चलने वाली विशेष मान्यतावों को निर्मूल सिद्ध किया गया है। वैदिकएज के एतद्विषक विचारों का ऊहापोहपूर्वक निरास किया है। जातिभेद (Race Movement) को सर्वथा ही बनावटी सिद्ध किया गया है। उपजाति सम्बन्धी समस्त कल्पनायें ही निराधार हैं—यह भली प्रकार अनेक तर्कों से सिद्ध किया गया है। इसी प्रसंग में आदिवासी और द्राविड आदि जातिभेदों पर विचार करके यह बतलाया गया है कि आर्यों से पूर्व ऐसी कोई जाति नहीं थी। भारत में आर्य ही इसके मूल निवासी थे। आर्यों से ही च्युत होकर अनेक जातियाँ बन गई। इस धारणा का भी खण्डन किया गया है कि प्राचीन भारत के इतिहास के लिए सामग्री नहीं उपलब्ध होती है। इतिहास के स्रोतों का वर्णन पृथक् ही एक प्रकरण में किया गया है।

इस पर पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है और सर्वथा निश्चित रूप से सिद्ध किया गया है कि वेद में किसी प्रकार की इतिहास-सम्बन्धी सामग्र

नहीं है। जो लोग वेद से इतिहास की सामग्री निकालते हैं—वे ठीक नहीं करते हैं। वेदों में किसी व्यक्ति-विशेष का न इतिहास है और न उनमें किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। ब्राह्मणग्रन्थों के जिन ज्योतिष सम्बन्धी प्रमाणों से लोग वेद का समय थोड़ा सिद्ध करते हैं उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की ज्योतिष-सामग्री के आधार पर वेदों की बहुत बड़ी प्राचीनता सिद्ध की गई है।

युगों के विषय में कई प्रकार के भ्रामक विचार प्रकट किये जाते हैं—इन सबका भी निरसन किया गया है। युगों की वर्षसंख्या को वैज्ञानिक ढंग पर स्थापित किया गया है। कई लोगों ने आधुनिकों के प्रभाव में आकर इन युगों की वर्षसंख्या अपनी पृथक् रूप से बना ली है। परन्तु यह ठीक नहीं। आचार्य दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सूर्यसिद्धान्त और मनुस्मृति आदि में प्रदर्शित युग-गणना को ही प्रमाण माना है। अतः इसका पूर्ण बल के साथ समर्थन इस ग्रन्थ में किया गया है।

कई इतिवृत्तविद् पुराणों को आर्येतिहास की सामग्री का स्रोत मानते हैं। परन्तु इस पुस्तक में यह बात स्वीकार नहीं की गई है। पुराणों को महर्षि ने विषसंपृक्त अन्नवत् परित्याज्य और कपोलकल्पित अप्रमाण ग्रन्थ माना है। अतः इसी स्थिति को इस ग्रन्थ में सर्वथा स्वीकार कर पुराणों को इतिहास का स्रोत नहीं स्वीकार किया गया है और इन्हें त्याज्य ग्रन्थ समझा गया है। लोग कहेंगे कि पुराणों में तो कई आर्य-विद्वान् भी इतिहास की सामग्री स्वीकार करते हैं फिर ऐसा यहाँ भी मैंने क्यों नहीं किया? इसका समाधान यह है कि पुराणों की बातें परस्पर विरुद्ध हैं और सृष्टिनियमों के विरुद्ध हैं। यही कारण है कि महर्षि ने उन्हें स्वीकार नहीं किया है। इसी सिद्धान्त का मैंने भी अनुसरण किया है। जो पुराणों को इतिहास के विषय में प्रामाणिक समझते हैं उनसे पूछना चाहिए कि क्या महर्षि गलती पर थे? सच्चा रहस्य पुराणों का इन्हीं की समझ में आया है—वा अन्य किसी की भी? साथ ही यदि पुराणों में प्रदर्शित इतिहास को आर्येतिहास की सामग्री माना जावे तो कोई भी वस्तु याथातथ्य से सिद्ध नहीं हो सकेगी। न वंशपरम्परा बन सकेगी और न उसका काल निर्धारित हो सकेगा। हजारों वर्षों की आयु की कल्पनायें करनी पड़ेंगी—जो सम्भव नहीं। कई इतिहासज्ञों को ऐसी कल्पनायें करनी पड़ीं—इन पुराणों को इतिहास की सामग्री मानने से। परन्तु ये

किसी प्रकार ठीक नहीं। पुराणों को स्वीकार करने में अनर्गल और असंभव बातें भी स्वीकार करनी पड़ेंगी तथा अंग्रेजी भाषा भी व्यास आदि बोलते थे तथा अन्य सृष्टि विरुद्ध बातें भी इसी प्रकार माननी पड़ेंगी। जो कोई भी विज्ञ स्वीकार नहीं कर सकता है। अतः यही प्रशस्त मार्ग है कि पुराणों को त्याज्य ही समझा जावे। महाभारत और वाल्मीकि रामायण को इतिहास की सामग्री से युक्त स्वीकार किया गया है। लेकिन इनके प्रक्षेपों को इस प्रमाणकोटि में नहीं माना जा सकता है अतः उसके अनुसार ही यहाँ पर भी समझना चाहिए।

इस पुस्तक का लिखना जब बहुत कुछ हो गया—यहाँ तक कि जब पुस्तक भी प्रेस में आधी छप चुकी तब एक सज्जन ने सुझाव दिया कि 'वैदिक एज' का उत्तर तो एक विद्वान् ने अपनी अमुक पुस्तक में दे दिया है। अतः पुनः समय क्यों खराब किया जावे ? उनकी सम्मति उनकी दृष्टि में प्रशस्त हो सकती है और वे धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु कहना तो यह है कि यदि एक ही पुस्तक का उत्तर दो विद्वान् अपनी पृथक्-पृथक् प्रतिभा से लिख दें, अथवा एक ने कोई उत्तर दिया है और दूसरा पुनः उसी का अन्य ढंग से पृथक् और विशेष अविष्टपेषक, समुज्ज्वल उत्तर दे दे तो हानि क्या हो जावेगी ? साथ ही जिस पुस्तक का नाम उन्होंने लिखा वह पुस्तक वेद के विषय में निबंध तो हो सकती है परन्तु वैदिक एज का उत्तर उसे नहीं कहा जा सकता है। उस पुस्तक का अपना स्थान है और दूसरे जो लिखते हैं अथवा लिखेंगे उनका अपना स्थान होगा।

यहाँ पर एक बात यह विशेष स्मरण रखने की है कि 'वैदिक एज' इतिहास की पुस्तक है। अतः इतिहास के आधार पर ही उसका उत्तर भी दिया जाना चाहिए। उसमें भाषा-विज्ञान आदि आधारों को लेकर तथा इतिहास की मान्यतावों को लेकर जो तर्क दिये गये हैं उनका उत्तर होना चाहिए। इसीलिए इस पुस्तक में इतिहास के उन आधारों को खण्डित कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। तथा जिस पुस्तक का नाम लिया जाता है उसको उसके लिए ही रहने दिया गया है और उसकी शोभा को तनिक भी क्षत नहीं होने दिया गया है।

यह भी ज्ञात रहे कि यह प्रस्तुत पुस्तक केवल वैदिक एज का ही उत्तर मात्र नहीं है। वैदिक एज का उत्तर तो इसमें प्रसंगतः हो ही गया है—परन्तु

इसमें वैदिक एज जैसी अनेक पुस्तकों की आपत्तियों का भी समाधान कर दिया गया है। साथ ही महर्षि द्वारा प्रदर्शित प्रकारों से इतिहास की वास्तविक स्थिति की स्थापना भी कर दी गई है। आर्येतिहास का वास्तविक स्वरूप क्या हो, वेद का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय पर मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर इतिहास के स्वरूप की स्थापना की गई है।

१—काल के आकलन में बी० सी०, ए० डी० की कल्पना।
२—विभिन्न हिमादि युगों की कल्पना।
३—विकासवाद का इतिहास में अप्रतिहत प्रवेश।
४—भाषा-विज्ञान।
५—भूगर्भ-शास्त्र का इतिहास में प्रवेश।
६—उपजातिवाद (Race Movement)।
७—विदेशी शब्दों के वेद में होने की कल्पना।
८—भारत में आर्यों से पूर्व आदिवासी आदि का होना।
९—मोहेंजो-दारो आदि की साक्षियाँ।
१०—तथा इस प्रकार की अन्य मान्यतायें।
११—वेद का विभिन्न समयों में बनना।

इन उपर्युक्त कल्पनाओं एवं मान्यताओं का निराकरण करके यह सिद्ध किया गया है कि इस धरा पर आर्य ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुये और भारत में ये ही सबसे पहले से रहते थे, इनसे पूर्व यहाँ पर कोई नहीं था। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, सृष्टि की आदि में इसकी प्रेरणा मिली है; इससे पूर्व का संसार में कोई धर्मग्रन्थ नहीं है। वेद सर्व-सत्य-विद्याओं का भण्डार है—आदि विषयों का स्थापन किया गया है। इस मौलिक सामग्री के साथ यह पुस्तक "वैदिकयुग और आदिमानव" सुधीवर्ग और जनता-जनार्दन के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि साहित्य की रचना के इस कार्य में आर्यसमाज के मान्य मूर्धन्य नेता पू० स्वामी ध्रुवानन्द जी महाराज ने सदा ही उत्साह प्रदान किया। जब भी हुआ इस कार्य के लिए तथा और कोई असुविधा तो नहीं है आदि विषयों में बराबर पूछते रहे। वे सदा यह कहते हैं कि महर्षि के सिद्धान्तों की रक्षा

और पोषण में जितना भी हो सके उसके करने में सदा तत्पर रहियेगा। यह वस्तुतः एक बड़ी भारी प्रेरणा है। सभा के वर्तमान प्रधान श्री सेठ प्रतापसिंह शूरजी—एक कर्मठ आर्यश्रेष्ठि हैं। उनका सारा परिवार आर्य-धर्म से ओतप्रोत है। वेद और महर्षि के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वे सदा ही प्रयत्नशील रहते हैं। अपने साथ इस परिवार का बहुत पुराना परिचय और संपर्क है। श्रीप्रतापभाई जी सदा जब भेंट हो कार्य के विषय में चर्चा करते हैं और पत्र आदि के द्वारा किये गये और किये जा रहे कार्य पर आदर भाव दर्शाते रहते हैं। इनके पिता स्वर्गीय श्री सेठ शूरजी वल्लभदास वर्मा का मेरे प्रति यह विश्वास था और इनका अपना भी ऐसा ही विश्वास है कि मैं महर्षि के सिद्धान्तों की रक्षा में सदा तत्पर रहता हूँ, और इसकी विशेष क्षमता भी है अतः इस बात की सदा ये याद दिलाते रहते हैं। ये चाहते हैं कि अधिकाधिक कार्य इस दिशा में हो।

देहली में सभा कार्यालय में अपने कार्य के इस महान् उत्तरदायित्व को निभाने के लिए रहते हुये बहुत निकट का संपर्क जिनसे रहा वे वर्तमान-सभा के मंत्री श्री लाला रामगोपाल जी शालवाले हैं। लालाजी शक्ति के पुंज हैं और अहर्निश आर्यसमाज और जनसेवा के कार्य में लगे रहने में वे प्रसन्न रहते हैं। शारीरिक कष्ट भी हो, फिर भी वे कार्य में लगे ही रहते हैं। एक बात उनमें यह देखी जाती है कि वे महर्षि के सिद्धान्तों और वेद के विषय पर किये गये आघात को कभी भी सहन नहीं कर सकते। तत्काल उसका उत्तर दिया जावे—यह उनकी इच्छा रहती है। यह वस्तुतः एक बड़ा-भारी गुण है। श्री लालाजी सदा ही मेरी सुविधाओं आदि का ध्यान रखकर अपना सहयोग देते रहते हैं। उनका इस प्रकार का सहयोग सदा ही बना रहेगा—इसमें सन्देह नहीं।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि सभा-कार्यालय सदा सहयोग देता रहता है। श्री पं० रघुनाथप्रसाद जी पाठक और श्री पं० प्रेमचन्द जी शर्मा सदा प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान रखते हैं और मेरा कार्य जो भी जिस समय उपस्थित हुआ उसके करने में तत्परता ही वर्तते हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि यह सहयोग-यंत्र सदा इसी प्रकार चलता रहेगा।

पुस्तक प्रेस में भेजी गई कि शीघ्रातिशीघ्र छप जावे। परन्तु कतिपय कारणों से छपने में कुछ विलम्ब हुआ। फिर भी एक बात जो इस विलम्ब में भी

सराहनीय है वह यह है कि पुस्तक में प्रूफ की अशुद्धियाँ न जाने देने में श्री महामाया प्रिंटर्स, देहली के संचालक श्री रामकृष्णदास 'रसिक' ने विशेष तत्परता और सावधानी वर्त्ती है। उन्होंने स्वयं ही इस कार्य में स्वच्छ छपाई के हेतु विशेष सक्रियता रखी जो प्रशंसनीय है और एक प्रेस के लिए भूषण है।

वैद्यनाथ शास्त्री
अध्यक्ष
वैदिक अनुसन्धान-विभाग
सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द-भवन, देहली
२३-८-६४

आर्य-काल-कलन-प्रकार

आर्य-लोग जहाँ दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से काल के सूक्ष्म-तत्त्व को जानते थे वहाँ उनकी काल-गणना का क्रम भी संसार में अपूर्व स्थान रखता है—

सूर्य-सिद्धान्त

(१) भूतों का नाशकर्त्ता काल
(२) कलनात्मक काल

|

स्थूल और सूक्ष्म

|

मूर्त्त — अमूर्त्त

प्राण = १० गुरु अक्षरों के उच्चारण का समय
विनाडी वा पल = ६ प्राण
घटिका = ६० पल
अहोरात्र = ६० घटिका
मास = औसत ३० दिन कुछ अधिक
वर्ष = १२ मास

उत्तरायण और दक्षिणायन = छः-छः मास
ऋतुयें = दो-दो मास की
पक्ष = शुक्ल और कृष्ण
दिन = रविवार आदि

कलियुग =	४३२०००
द्वापर =	८६४०००
त्रेता =	१२९६०००
कृतयुग =	१७२८०००
चतुर्युगी =	४३२००००

मन्वन्तर = १४

ब्राह्म दिन या सृष्टि-समय = ४ ३ २ ० ० ० ० ० ० ०

ब्राह्मरात्रि या प्रलय-काल = " "

ब्रह्माण्ड कक्षा = १८७१२०८०८६४०००००० योजन

अथर्ववेद में सृष्टि का समय = ४३२००००००० वर्ष

परान्त काल अथवा मुक्ति का समय = ४३२००००००० × ३६०००
= ३११०४००००००००००

सुश्रुत

निमेष = लघ्वक्षरोच्चारण मात्र
काष्ठा = १५ निमेष
कला = ३० काष्ठा
मुहूर्त्त = २० कला
अहोरात्र = ३० मुहूर्त्त
पक्ष = १५ अहोरात्र
मास = माघ आदि १२
ऋतुयें = ६ शिशिर आदि
|
तपस्, तपस्य = शिशिर
मधु-माधव = वसन्त
शुचिशुक्र = ग्रीष्म
नमस्-नभस्य = वर्षा
इष-ऊर्जा = शरत्
सहस्-सहस्य = हेमन्त

यह ऋतु और मास का वर्णन यजुर्वेद से लिया गया है।

यजुः १७।२ का संख्या-कलन-प्रकार निम्न प्रस्तार सिद्ध करता है—

एक—१
दश—१०
शत—१००
सहस्र—१०००
दशसहस्र—१००००
लक्ष—१०००००
दशलक्ष—१००००००
कोटि—१०००००००
दशकोटि—१००००००००
अरब—१०००००००००
खरब—१००००००००००
दशखरब—१०००००००००००
नील—१००००००००००००
दशनील—१०००००००००००००
पद्म—१००००००००००००००
दशपद्म—१०००००००००००००००
शङ्ख—१००००००००००००००००
दशशङ्ख—१०००००००००००००००००

कुछ पारिभाषिक शब्द

Axidian=जलचर (केकड़ा)
Archean=आद्यकल्प
Alluvial=जलोढ
Arctic=ध्रौव
Biological evolution=जीवन-विकास
Cosmological evolution=सृष्टि-विकास
Cambrian=शिलपट्ट
Carboniferous=कोयलामय
Cretaceous=खड़ियायुगीन
Degeneration=ह्रास
Denudation=नग्नीकरण
Devonian=मत्स्ययुगीन
Evolution=विकास
Evolution Theory=विकासवाद
Eocene=प्रातिनूतन
Fossilized=अश्मीभूत
Fossil=निखातक
Fossiliferous=निखातयुत
Geology=भूगर्भशास्त्र
Granite=कणाश्मक
Hybrid=संकरीकरण
Intellectual évolution=ज्ञानविकास
Igneous fusion=द्रवीभाव
Jurasic=महासरट
Lithosphere=सान्द्रमण्डल
Metamorphic Rocks=परिवर्तित चट्टानें
Miocene=मध्यनूतन

Natural Selection=प्राकृतिक निर्वाचन
Ordovian=अवर प्रवाल आदि
Oligocene=आदिनूतन
Pre-Vedic=प्राग्वैदिक
Pre-historic=प्रागैतिहासिक
Polype=बहुभुजधारी कीट
Plutonic=अधोघनित
Pre-cambrian=पूर्वत्रिखण्ड
Pliocene=प्रतिनूतन
Pleistocene=प्रतिनूतन
Paleantology=पुरानिस्तातिकी विद्या
Primary rocks=प्राथमिक चट्टानें
Primitive=प्राथमिक
Permian=गिरियुगीन
Quartenary series=चतुर्थ शृङ्खला
Sedimentary=अवसादित
Silurian=प्रवाल आदि
Secondary=द्वितीय
Stratified=स्तरीभूत
Sch'st=सुभाजा
Triassic=स्फाश्म
Tertiary series=तृतीय शृङ्खला
Transitional=मध्यवर्ती

विषयानुक्रमणी

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

वैदिकयुग और आदिमानव

ओ३म्

अध्याय १

उपोद्घात

महाभारत काल भारत के इतिहास में एक ऐसा काल है जब से इस देश का पतन प्रारंभ हुआ। परस्पर की फूट और अविद्या के विस्तार से इस देश में यह अवस्था आगे आने वाले समयों में और भी बिगड़ती गई। महाभारत काल तक इस देश के चक्रवर्ति-सम्राटों ने धरा के अधिकांश नहीं पूर्ण भागों पर एकछत्र राज्य किया था। राज्य-व्यवस्था का सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जब आर्यों का चक्रवर्ती राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और एक लम्बे काल के बाद इस देश में विदेशी लोगों ने राज्य करना प्रारम्भ किया तो भारत केवल परतन्त्र ही नहीं हुआ बल्कि शासकों की सभ्यता और मान्यतावों के प्रभाव से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ। राजनैतिक परिवर्तन की दृष्टि से यह प्रभाव स्वाभाविक था। इस परतंत्रता के काल में जहाँ विदेशियों ने इस देश की आर्य प्रजा पर अपना शासन किया वहाँ विदेशी विद्वानों ने इनकी सभ्यता और इतिहास आदि को भी नष्ट एवं भ्रष्ट करने की दृष्टि से अपनी कल्पित मान्यतावों के आधार पर इसको एक नया मोड़ दिया। इसके प्रभाव और चाकचक्य ने हमारे परतंत्र और अनुकरण-परायण भारतीय नाम-धारी विद्वानों को भी इस मोड़ का ही अनुगामी बना दिया। फिर क्या था—एक अन्ध परंपरा चल पड़ी और वर्षों तक सभी विद्या के क्षेत्रों पर अपना प्रभाव जमाये रही। आज हम स्वतंत्र हैं—परन्तु अभी भी प्रभाव वही चल रहा है। अभी तक, विदेशी मान्यतावों और कल्पनावों को छिन्न-भिन्न कर उनसे स्वतन्त्र हो अपने इतिहास के निर्माण की प्रशस्त दिशा हम नहीं बना सके। विदेशी राज्य तो इस देश से गया परन्तु विदेशीयता अभी भी शेष है। अतः हमारे पाश्चात्यपदानुगामी विद्वान् अनुसंधान के नाम पर उसी पुरानी विदेशी परम्परा को प्रोत्साहन दे रहे हैं। परन्तु प्रकाश की रेखा भी आकाश की प्राची दिशा से अपना मुँह दिखा रही है और इसके प्रकाश में अब ऐसे भी विचारक अनुसंधान के क्षेत्र में अवतरित हो रहे हैं जो इन विदेशी अन्ध-मान्यतावों और कल्पनावों से ऊपर उठकर वास्तविक परिस्थिति का दर्शन करने लगे हैं।

भारत का, नहीं-नहीं, समग्र भूमण्डल का यह एक महान् सौभाग्य है कि भारतभूमि के एक खण्ड के टंकारा भाग से एक दिव्य ज्योति, महाविभूति, आर्षमति व्यक्ति महर्षि दयानन्द सरस्वती का उदय हुआ। इस महा मानवी शक्ति

ने जहाँ स्वराज्य का मूल मंत्र[1] दिया, वैदिक धर्म का सन्देश दिया, समाज में फैली बीमारियों का निदान और निदेश किया, वेद विद्या के प्रचार का पाठ पढाया वहाँ इन विदेशी मान्यतावों को छिन्न-भिन्न कर नया और प्रशस्त दृष्टिकोण प्रदान किया। स्वयं महाराज ने अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल तक की शासनसरणि भी दिखला दी है। इस महाविभूति ने जहाँ प्रगति की अन्य दिशाओं में क्रान्तिकारी जागृति उत्पन्न की वहाँ इतिहास निर्माण की दिशा भी उसके प्रभाव से रिक्त नहीं रही। महर्षि के इतिहास-सम्बन्धी मूल-सूत्रों को यहाँ पर उद्धृत कर पुनः आगे चलने का प्रयत्न किया जावेगा—

१ प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति मे कितना समय व्यतीत हुआ ?

उत्तर—एक अर्व, छानबे क्रोड, कई लाख कई सहस्र वर्ष (आज तक के हिसाब से १९६०८५३०६३ वर्ष) जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुये हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका (ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में लिखा है देख लीजिए। स० प्र० ८ समुल्लास)

२ प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है वा नहीं ?

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टि रूप सब राज्य में एक सी है। (सत्यार्थप्रकाश ८म समु०)

३ प्रश्न—किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत (वैदिक संस्कृत) में क्यों किया ?

उत्तर—जो किसी देशभाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिए संस्कृत (वैदिक संस्कृत) में ही प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेद भाषा अन्य सब भाषावों का कारण है। उसी में वेदों का प्रकाश किया। (सत्यार्थ प्रकाश ७म समु०)

४—जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यास जी ने इकट्ठे किये, यह बात झूठी है क्योंकि व्यास जी के पिता, पितामह, प्रपितामह, पराशर, शक्ति, वसिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने भी चारो वेद पढ़े थे। यह बात क्योंकर घट सके ?

(सत्यार्थप्रकाश ११ समुल्लास)

---

1. आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र स्वाधीन निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है…कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।

(सत्यार्थप्रकाश ८म समुल्लास)

५—जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें। वे तो मंत्रों के अर्थप्रकाशक हैं। (स० प्र० ७ स०)

६ – यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मंत्रभागे।'''अतोऽनाम मन्त्रभागे इतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतोऽयच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्र काशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।

(ऋग्वे०भाष्य भू० वेद संज्ञा प्रकरण)

७—अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-मुनि पर्यन्तों के माने हुये ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।

(स्व. मन्त. प्रकाश)

८—प्रश्न—मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर—त्रिविष्टप् अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं।

प्रश्न—आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक ?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी, पश्चात् "विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवः" यह ऋग्वेद (१/५१/८) वचन है। (इस नियम के अनुसार)श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुए।

(स० प्र० ७म. स.)

९—प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था और इसमें कौन बसते थे ?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नही था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश मे बसते थे क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे।

प्रश्न—कोई कहते हैं कि यह लोग ईरान से आये इसी से इन लोगों का नाम आर्य हुआ। इनके पूर्व यहाँ जंगली लोग बसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब संग्राम हुआ उसका नाम देवासुर संग्राम कथावों में ठहराया।

उत्तर—यह सर्वथा झूठ है क्योंकि '''''यह लिख चुके हैं कि आर्य नाम धार्मिक, विद्वान् आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य-द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाडी है।'''दूसरे विदेशियों के कपोल कल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नही मान सकते।'''किसी संस्कृत ग्रन्थ वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहाँ के जंगलियों को लड़कर,जय पाके निकाल इस देश के राजा हुये। पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है।

(स. प्र. ८ म सम०)

१० अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव पाण्डव तक सर्व भूगाल मे आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहता था। इसमें यह

प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश और उनके स्वायंभवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए जिन्होंने यह आर्यावर्त्त बसाया। (स०प्र०८म स०)

११—जैसे यहाँ सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, सर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त और भरत सार्वभौम और सब भूमि में प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे हैं वैसे स्वायम्भवादि चक्रवर्ती राजाओं के नाम स्पष्ट मनुस्मृति, महाभारतादि ग्रन्थों में लिखे है। इनको मिथ्या करना अज्ञानी और पक्षपातियों का काम है।

१२—और श्रीमन्महाराजे स्वायम्भव मनु से लेके महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है और ·····इन्द्रप्रस्थ में आर्य लोगों ने श्रीमन्महाराजे यशपाल पर्यन्त राज्य किया, जिनमें श्रीमन्महाराजे 'युधिष्ठिर' से महाराजे यशपाल तक वंश अर्थात् पीढ़ी अनुमानतः १२४ (एक सौ चौबीस) राजा, वर्ष ४१५७, मास ६, दिन १४ समय में हुए हैं। इनका ब्योरा :—

(स० प्र० ११ समु०)

सूचना—यह समय १६३३ विक्रम तक का है।

१३—यह निश्चय है कि जितनी विद्या और मत भूगोल में फैले है वे सब आर्यावर्त्त देश में ही प्रचारित हुये है। देखो कि एक जैकालियट साहेब पैरस अर्थात् फ्रांस देश-निवासी अपनी "बाइबिल इन इण्डिया" में लिखते हैं कि सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं।[1]

१४—जब तक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी तब तक मिश्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी।

इन उपर्युक्त १४ सन्दर्भों से निम्न सिद्धान्त निकलते हैं जिनके आधार पर इतिहास का वास्तविक कलेवर समझा जा सकता है :—

१—जगत् की उत्पत्ति केवल चार-छः सहस्र वर्षों के समय की ही प्राचीन नहीं है। इसको उत्पन्न हुये लगभग दो अरब वर्ष हो चुके है। अतः छः सहस्र में ही सृष्टि की प्राचीनता को समाप्त करने वाले इस आधार पर यदि कोई इतिहास-भित्ति या इतिहास सिद्धान्त बनाते हैं तो वह त्रुटिपूर्ण अधूरा है। वेद के प्रकाश का समय भी इसी प्रकार पुराना है।

1. It is now hardly to be contested that this source is to be found in India. Thence in all probability the sacred teachings spread into Egypt found its way to ancient Persia and Chaldia permeated Hebrew race and crept in Greece and the south of Europe finally reaching China and even America

"Secret of Heart" by Matterlinck.

२—वेद ईश्वरीय ज्ञान है, उसका प्रकाश केवल भूमण्डल के लिये ही नहीं अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के लिए है और किसी देशविशेष की भाषा में न तो उसका प्रकाश हुआ है न उसमें किसी देश की भाषा के शब्द ही हैं और न वेद की भाषा से पूर्व कोई भाषा थी ही। वही सब भाषाओं का कारण है। अतः अधूरे भाषा-विज्ञान के आधार पर यदि कोई सिद्धान्त इतिहास की खोज में वेद की भाषा को लेकर बनाया जाता है तो वह सर्वथा मिथ्या कल्पना है।

३—व्यास ने वेदों का संकलन नहीं किया क्योंकि ये वेद उनके पिता से पितामह तक पूर्व ही इस रूप में विद्यमान थे और व्यास के पिता पराशर, दादा शक्ति, परदादा वसिष्ठ और उनके पूर्वज ब्रह्मा ने भी इन वेदों को पढ़ा था। साथ ही ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त की कुछ ऐतिहासिक कड़ियाँ भी इससे निश्चित हो जाती हैं।

४—ऋषि लोग वेदमंत्रों के कर्त्ता नहीं—अर्थद्रष्टा हैं और वेद मंत्रों में किसी व्यक्ति का इतिहास नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रामाणिक इतिहास सामग्री विद्यमान है। अतः ब्राह्मण ग्रंथों की सामग्री का इतिहास में प्रयोग न करके और वेद में ऐतिहासिक सामग्री स्वीकार कर जो सिद्धान्त गढ़े जाते हैं वे निराधार हैं—क्योंकि वेद में ऐसी इतिहास सम्बन्धी कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है।

५—ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्त वेद की अविच्छिन्न धारा चली आई है।

६—मनुष्य इस सृष्टि की आदि में त्रिविष्टप में उत्पन्न हुआ। प्रारम्भ में आर्य नाम की केवलमात्र एक जाति थी। तिब्बत से वह कुछ काल बाद आकर आर्यावर्त्त में बसी और उससे पूर्व यहां पर कोई भी नहीं था।

७—आर्य जाति से ही धर्म से भ्रष्ट होकर दस्यु आदि बने। ये शब्द गुणवाचक हैं किसी आर्येतर मूलवासी, जंगली वा द्राविड नामधारी जाति के सूचक नहीं हैं। आर्य लोग ईरान से इस देश में नहीं आये। यह केवल विदेशियों की मिथ्या कल्पना है और संस्कृत के विस्तृत साहित्य में आर्यों के ईरान से आने के विषय का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है।

८—आर्यों के पूर्व यहाँ जंगली, अथवा द्राविड वा अन्य कोई मूल निवासी इस देश में नहीं थे और न इस देश का आर्यावर्त्त से पूर्व कोई अन्य नाम ही था। अतः इस दिशा में आदिवासी आदि जो कल्पनायें की गई हैं वे सर्वथा ही तथ्यहीन हैं।

९—इक्ष्वाकु से लेकर पाण्डव पर्यन्त अनेक चक्रवर्ती राजे हुये जिनका राज्य संपूर्ण धरा पर था। ब्रह्मा से लेकर इक्ष्वाकु पर्यन्त राजाओं का इतिहास मिलता है। अतः यह कहना कि ये प्रागैतिहासिक हैं अथवा इनका कोई इतिहास नहीं मिलता सर्वथा तथ्य-शून्य और व्यर्थ का है।

१०—महाभारत आदि ग्रन्थों में इतिहास की प्रचुर सामग्री पाई जाती है। महाभारत आदि को मिथ्या कहना समझ से विद्रोह करना है।

११—महाराज स्वायम्भव मनु से लेकर युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारत आदि ग्रंथों में है और युधिष्ठिर से लेकर यशपाल तक का राज्यकाल वंशावली में पाया जाता है और युधिष्ठिर का शासन काल आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व का है।

१२—धर्म और ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भारत से मिश्र और यूनान आदि को गई। भारत से पूर्व यहाँ तथा यूरोप आदि के लोग अशिक्षित अवस्था में थे।

१३—इन समस्त संदर्भों के विचारने से इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि भारत में कोई युग ऐसा नही था जिसे प्रागैतिहासिक युग कहा जा सके। आर्यों ने अपने इतिहास को सदा से सुरक्षित रखा। किसी जाति के इतिहास में कोई प्रागैतिहासिक युग होता भी नही है। इसी प्रकार कोई प्राग्वैदिक युग भी नहीं था। वेद से पूर्व कोई भाषा, कोई धर्म अथवा कोई संस्कृति भूमण्डल पर नही थे। अतः प्राग्वैदिक और प्रागैतिहासिक युग(Pre-vedic & Pre-historic Periods) केवल थोथी पाश्चात्य कल्पनायें हैं जो हम पर लाद दी गई है।

इन आधारभूत सिद्धान्तों को यहाँ पर दिखलाया गया। इनकी विशेष व्याख्या इनके अपने-अपने प्रसंगो पर आवेगी। वस्तुत. इन आधारों को लेकर इस पुस्तक में इतिहास विषयक भ्रान्तियों का निराकरण किया जावेगा। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि समय-समय पर विदेशीय और एतद्देशीय विद्वानों द्वारा इनकी अपनी मानी हुई मन.प्रसूत भ्रान्तियाँ दोहराई जाती रहती हैं। पुरानी बात को ही नया रूप दिया जाता रहता है। बहुत प्रकार के ग्रन्थ प्रतिवर्ष इन भ्रान्त धारणावों के दोहराने में लिखे जाते रहते है। और इन्हें नवीन अनुसंधान का नाम दिया जाता रहता है। भारतीय विद्याभवन बम्बई की तरफ से जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लिमिटेड लन्दन से वैदिक एज नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की गई है। इसमें कई लेखकों के लेखों का संग्रह है और इसके प्रधान-संपादक श्री आर. सी. मजूमदार महोदय हैं। श्री के. एम. मुन्शी ने इसकी प्राग्वैक्तिकी लिखी है। पुस्तक वस्तुतः इतिहास-सम्बन्धी भ्रान्तियों की पुनः संस्कृत एव शब्दान्तर से परिष्कृत निधि है। वैदिक एज (Vedic Age) में वेद के सम्बन्ध में जो धारणायें व्यक्त की गई हैं—सर्वथा ही निराधार हैं और यही स्थिति महाभारत आदि सम्बन्धी वर्णनों की है। प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक एज में दिए तर्कों का खण्डन इस प्रकार कर दिया जाना अभिप्रेत है कि इससे इस सम्बन्धी सभी धारणावों का सदा के लिए निरास हो जावे और इतिहास का शुद्ध स्वरूप सामने आवे।

विकासवाद की असंगतता—इतिहास के लेखक इतिहास का लेखन करते समय विकासवाद का पूरा उपयोग करते हैं। दुर्भाग्य से विद्या के सभी अंगों पर

विकासवाद का प्रभाव है। इतिहास पर भी उसका प्रभाव होना ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है। यद्यपि योरुप में अब यह वाद खण्डित हो चुका है फिर भी भारत में अभी इसकी रेखा पीटी जा रही है और यह बराबर अपना स्थान बनाये हुए है। वैदिक एज के मुख्य बिन्दुओं पर विचार करने से पूर्व इस पर कुछ संक्षिप्त विचार यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है। इस वाद के प्रवर्त्तक महाशय डार्विन हैं। इस वाद का नाम विकासवाद (Evolution Theory) है। प्रथम तो यह त्रुटिपूर्ण है कि सृष्टि में विकास (Evolution) का ही नियम काम कर रहा है। सृष्टि में विकास के साथ ह्रास (Degeneration) का नियम भी चालू है। सृष्टि में कर्तृत्व, उद्देश्य और समंजसता का नियम देखा जाता है जो विकास में सर्वथा असंभव है। सृष्टि में अन्तिम उद्देश्य (Final purpose) देखा जाता है। यह विकासवाद के सर्वथा ही प्रतिकूल है। विकासवाद की सारी बातें ही विचार के विषय हैं परन्तु समस्त विवरण पर विचार करने से पृथक् ही एक बृहत् पुस्तक तैयार हो जावेगा और वह विस्तार इस प्रस्तुत विषय के लिए उपयोगी भी नहीं हो सकेगा अतः मूल सिद्धान्त पर ही विचार किया जाता है।

विकासवाद को संक्षेप में तीन भागों में बांटा जा सकता है। वे भाग सृष्टि-विकास (Cosmological evolution), जीवन-विकास (Biological evolution) और ज्ञान-विकास (Intellectual evolution) के नाम से व्यवहृत किये जा सकते हैं। विकासवाद के सभी सिद्धान्त इन विभागों के अन्तर्गत आ जाते हैं। जहाँ तक सृष्टिविकास का सम्बन्ध है वह इस सृष्टि को देखने से सर्वथा ही निराधार ठहरता है। सृष्टि में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का क्रम प्रत्येक पदार्थ में देखा जाता है। यह वस्तुतः अवस्थाओं का परिवर्तन है परन्तु इसके अन्दर महान् उद्देश्य और नियम कार्य कर रहा है। उदाहरण के लिए हमारे शरीर में कौमार्य, जरा और मरण की अवस्थायें आती हैं। कौमार्य से शरीर की वृद्धि होती है। परन्तु एक पूर्णता की अवस्था आ जाती है कि खाना-पानी सब सामान रहते हुए भी शरीर में वृद्धि नहीं होती। बढ़ना रुक जाता है और स्थिति आ जाती है। यह स्थिति भी भंग होकर जरावस्था प्रारम्भ हो जाती है। बाद में एक समय ऐसा आता है कि शरीर क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। शरीर की अवस्थाओं का परिवर्तन भी वस्तुतः उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का ही क्रम है। परन्तु इसमें नियम भी है और उद्देश्य भी है। साथ ही साथ इसका होना इसलिए पाया जाता है कि हमारे अन्दर एक नित्य चेतन आत्मा कार्य कर रही है। जिस प्रकार अवस्था-परिवर्तन हमारी चेतन आत्मा के कारण है वैसे ही विश्व में उत्पत्ति, स्थिति और परिवर्तन के लिए विश्वात्मा का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु विकासवाद इसको स्वीकार नहीं करता है। इसी लिए उसकी प्रक्रिया अधूरी है। इस अधूरेपन को देखकर वेद के परम अनुयायी वेदव्यास के शब्दों में ही मनुष्य को बोलना पड़ेगा कि—"जन्माद्यस्य यतः" वेदान्त १।१।१ अर्थात् जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वही ब्रह्म है।

मौलिक समस्यायें (Fundamental Problems)—पुस्तक के लेखक ने एक सुन्दर विचार संसार में दिखलाई पड़ने वाली योजना और रूपकरण का उपस्थित किया है। लेखक का कथन है कि चिकित्साशास्त्र[1] के निष्णातों के प्रमाण पर यह कहा जाता है कि मानव शरीर में छ सौ पेशियां हैं और सहस्र मील के ग्रामत की रक्तवाहिनी धमनियें हैं। ५३० धमनियें है। अगर चमड़ी को फैलाया जावे तो सोलह वर्ग फीट के फैलाव तक फैल सकती है। इस शरीर में १५ कोप मीठे ग्रन्थि पिण्ड के पाये जाते हैं जो यदि एक तल पर फैलाये जावे तो दस सहस्र वर्ग-फीट स्थान घेरेंगे और २०×१०० फीट की पाच नगरी लाट को ढँक सकेंगे। फेफड़े ७० करोड मधुमाक्षिक कोष्ठकों के बने है। श्वास लेते समय इनका फैलाव २००० समतल वर्गफीट के बराबर होता है। सत्तर वर्ष में हृदय की धड़कन २ अरब ५० करोड़ की संख्या में होती है। यह इतने ही समय मे पाँच लाख टन रक्त को उठाता है। मस्तिष्क के नियन्त्रण मे रहने वाले नाड़ी-यन्त्र (Nervous system) में ३० खरब नाडी-कोष्ठ है जिनमे से ६ अरब २० करोड़ केवल मस्तिष्क के दक्कन मे ही निहित है। रक्त मे तीन करोड श्वेत रक्त-कण हैं और १८ नील रक्त-कण हैं। प्रत्येक दिन तीन पिन्ट तार-रस निगला जाता है। पाँच से लेकर १० क्वार्ट पाचक रस उदर प्रतिदिन पैदा करता है जो भोजन को पचाता है और कृमियों का नाश करता है। लेखक के इस उद्धरण के देने का तात्पर्य यह है कि यह सब विकास और अकस्मात् का फल नहीं हो सकता है। लेखक ने इन बातों से यह सिद्ध किया है कि यह सब कुछ यह बतलाता है कि सृष्टिरचना में ज्ञानपूर्वक योजना (Design & Purpose) है।

इसी पुस्तक में विकास का खण्डन करते हुए रचना की ज्ञानपूर्विका कृति के पक्ष में एक और भी लेख लेखक ने प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि "संसार में सारी शक्ति का माप नहीं किया जा सकता है। यह सर्वशक्ति परमात्मा की शक्ति का एक भागमात्र है। यह शक्ति अनन्त है। सभी ताप को शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है और शक्ति को ताप मे परिवर्तित किया जा सकता है। ताप जब शक्ति के रूप में परिवर्तित किया जाता है तब शक्तिशाली इंजनों को चलाता है। नियाग्रा की शक्ति को भी ताप और प्रकाश मे परिवर्तित किया जा सकता है। सूर्य नियाग्रा और उसी प्रकार भीलों के पानी को इसके प्रपात से भी अधिक ऊँचा उठा ले जाता है। यह बहुत बड़ा है। यह प्रतिदिन १० अरब टन पानी को बादलों पर पहुँचा देता है और यह मात्रा समुद्र मे गिरने वाली नदियों और धारावों के पानी से भी अधिक है इस सूर्य के तल का प्रत्येक वर्ग गज इतनी शक्ति रखता है कि समुद्र में यह एक बड़े जहाज को चला सकता है और इसमें बहुत टन कोयलों से भी अधिक शक्ति है। सूर्य हमारी पृथिवी में लाखों गुना बड़ा है। सूर्य का तल जो २३ खरब

1. Fundamental Problems, by Rev. A. William D. D. Page 41

वर्ग मील के क्षेत्र के लगभग है, उसमें ताप की मात्रा की कल्पना करना भी कठिन है। एक वर्ग मील के ताप की मात्रा समुद्र पर तीस लाख जहाजों को चला सकेगी और यह मात्रा वर्तमान में चलने वाले जहाजों और उनमें लगने वाली शक्तियों से १५० गुना अधिक है। पृथिवी पर जितना ताप आता है उससे दो अरब बाईस करोड़ गुना से भी अधिक ताप आकाश मे बिखरता है। ताप की यह बड़ी मात्रा छोटे बड़े ४० करोड़ सूर्यों के ताप का एक लघुतम भाग है। बैटलगाइज नाम का नक्षत्र जो कि अभी जाना गया है वह एक्कीस करोड़ पचास लाख मील के व्यास का है। अन्टारेस नाम का नक्षत्र इससे भी बड़ा है और उसका ३६ करोड़ मील का व्यास है और इसमें लगभग पौने चौदह नील से कुछ कम पृथ्वी समा सकती है। अल्फा और हरक्यूलस ३० करोड़ मील व्यास के हैं। ऐसे भी नक्षत्र हैं जिनका प्रकाश एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से फैलकर साठ हजार वर्षों में हम तक पहुँचता है। कई लोग चालीस करोड़ सूर्यों का परिगणन करते हैं। इस महान् ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करने और आकर्षण में कितनी शक्ति लगती है और साथ ही प्रकाश और गर्मी में कितनी शक्ति लगती है—क्या इसकी कोई कल्पना कर सकता है। यह परमात्मा की अनन्त शक्ति की एक अत्यन्त छोटी मात्रा है। विश्व में जितनी शक्ति कार्य में लग रही है वह अपने आप नहीं पैदा होती है बल्कि परमेश्वर उसे पैदा करता है। यह विकास का परिणाम नहीं है।[1]" लेखक ने यहां पर इस तथ्य का उद्घाटन कर दिया है जो ऋग्वेद १०।१९० सूक्त के प्रथम मंत्र में ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत्—अर्थात् ऋत और सत्य को परमेश्वर ने अपने सर्वतो व्याप्त ताप शक्ति से उत्पन्न किया है।

यह आकाश में जो आकाशगंगा दिखलाई पड़ती है इसे ब्रह्माण्ड का व्यास कहा जाता है। इतना बड़ा यह ब्रह्माण्ड है, इसकी रचना विकासवाद के आधार पर किस प्रकार संभव है। अतः जगत् मे विकास के साथ ह्रास देखे जाने से और नियम, योजना तथा अन्तिम उद्देश्य देखे जाने से स्वीकार करना पड़ता है कि यह किसी सर्वज्ञ की ज्ञानपूर्वा कृति है—यह विकास का फल नहीं है। जिस नियम में विश्व चलता है उसे ऋत कहा जाता है और उसका पालक होने से परमेश्वर 'ऋतस्य-गोपा'[2] है। इस प्रसंग में एक प्रश्न और भी उपस्थित होता है कि विकास के प्रारंभ होने के पूर्व प्रकृति (Matter) गतिसंस्कार (Evolutionary movements) में थी अथवा स्थिर संस्कार (Unevolutionary stage or inertia) की अवस्था में थी। यदि प्रथम पक्ष को माना जावे तो प्रश्न खड़ा होगा कि सृष्टि तो उपस्थित थी फिर उसकी उत्पत्ति के लिए विकासवाद के भव्य भवन बनाने की आवश्यकता ही क्या है। यदि द्वितीय पक्ष मानें तो प्रश्न यह खड़ा होगा कि बिना किसी अन्य कारण के प्रकृति में विकास प्रारंभ ही कैसे हुआ। सृष्टिविकासपक्षीय इसका समाधान नहीं कर सकते।

1. Fundamental Problems, Page 48-49.
2. ऋग्वेद ९।७३।८

साथ ही एक नियम सृष्टि में देखा जाता है कि वह 'याथातथ्य'[1] और 'यथापूर्व'[2] के आधार पर चल रही है। प्रथम आधार यह बतलाता है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु जैसी बन सकती है और बननी चाहिए वैसी ही बनाई गई है—क्योंकि इससे विपरीत कोई बना नहीं सकता है। जिस प्रकार के सूर्य आदि पदार्थ अपने गुण धर्मों से विद्यमान है उनसे विपरीत बनाए नहीं जा सकते है। अगर मनुष्य की आँखें नाक के ऊपर नासास्थि के दायें बायें ही स्थिति पाती है तो इसके विपरीत इनकी स्थिति कोई भी नहीं कर सकता है। यही स्थिति सृष्टि के समस्त रचना की है। दूसरा आधार 'यथापूर्व' का है। इसके अनुसार पूर्व के प्रत्येक कल्प में सूर्य आदि पदार्थ जिस रूप में थे वैसे ही इस कल्प में भी है। मनुष्य से मनुष्य और बन्दर से बन्दर पहले भी उत्पन्न होते थे अब भी उसी प्रकार उत्पन्न होते है। इस नियम का कोई व्यतिक्रम नहीं देखा जाता है। मनुष्य की पीढ़ी पर पीढ़ी और बन्दर के वंशक्रम में यह नियम अटूट चल रहा है। विकासवाद इसका विरोधी है और इस आधार पर स्वयं कट जाता है। क्योंकि विकास में याथातथ्य और यथापूर्व के क्रम का कोई नियम नहीं बन पाता अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सृष्टिविकास का यह नियम न तो वैज्ञानिक है और न दार्शनिक है।

दूसरा विकासवाद का विभाग 'जीवन विकास' (Biological Evolution) से सम्बन्ध रखता है। यह भी अनर्गल, निःसार, असम्भव और अवैज्ञानिक है। इस जीवनविकास की प्रक्रिया में विकासवाद के प्रणेता श्री डार्विन महोदय ने एक अणुक कीट अमीवा से लेकर जलचर, स्थलचर नभश्चर तथा सृष्टिकुल-चूड़ामणि मानव का बन्दर से विकसित होना बतलाते हुए कई कड़ियाँ दिखलाई हैं। कई कड़ियाँ उनकी अनुसूची में टूटती भी है और टूटी कड़ी (Lost Link) कही जाती है। इस प्रक्रिया में इस बात का कोई भी समाधान नहीं दिया जाता कि इच्छा,द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, और ज्ञ न लिंगों से जानी जाने वाली चेतना किस प्रकार जड़ एवं चेतनाशून्य प्रकृति से अमीबा में प्रकट हुई और मनुष्य तक बराबर पल्लवित हो रही है। दार्शनिक दृष्टि से एक विचार यह रखा जाता है कि समस्त जड़ और चेतन सृष्टि एकमात्र चेतन तत्व से उत्पन्न हुई है। भौतिकवादी इसमें यह दोष दिखलाते है कि चेतन से जड़ का उत्पन्न होना सभव नहीं। चेतनैकतत्ववादी कहते हैं कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति भी इसी तर्क के आधार पर असभव है अत. दोनों विचार अपने आप कट जाते है और चेतन और जड़ की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

सृष्टि में एक यह भी नियम देखा जाता है कि भोग पहले उत्पन्न होता है और भोक्ता उसके पश्चात्। कई ऐसे जीव हैं जो नर के भोक्ता हैं तो उनका विकास तो

1. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्। यजु: ४०।८
2. यथापूर्वमकल्पयत्। ऋग्वेद १०।१९०।३

मनुष्य के पश्चात् ही हुआ होगा। फिर विकास का अन्तिम प्राणी मनुष्य है—यह सिद्धांत अपने आप कट जाता है। विकासवाद पर एक प्रश्न ऐसा भी उठता है कि यदि विकास का नियम ही प्रकृति में चल रहा है तो मनुष्य पर जाकर यह विकास रुक क्यों गया और इसके आगे कोई विकास क्यों नहीं हुआ। अन्यथा कहना पड़ेगा कि सृष्टि में विकास का नियम नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों[1] ने भी इस जीवनसम्बन्धी विकास का उपहास किया है और इसे असम्भव ही बतलाया है। उनके आधार पर निम्न धारणायें प्रस्तुत की जाती हैं जिनके आधार पर जीवन-विकास का नियम खण्डित हो जाता है :—

१—मनुष्य के आदि पितर मूर्ख पशु थे और वानरों वाला जीवन व्यतीत करते थे. केवल कल्पनामात्र हो सकता है—वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं।

२—यह किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है कि स्वाभाविक स्पर्धा (Competition) और बली ही उत्तरजीवी रहता है (Struggle for existence and Survival of the fittest) का नियम योनियों के विकास में कार्य कर रहा है जबकि छोटी-छोटी वनस्पति पुराने किलों की दीवार तथा समुद्र के एकान्त किनारों पर अकेली ही उगी हुई पाई जाती है। यहाँ पर वह किससे स्पर्धा करके जीवित हो रही है।

३—जो यह कहा जाता है कि एक अत्यन्त साधारण मछली से रूपान्तर होते हुए नाना शरीर प्रकट हो गये—यह सर्वथा ठीक नहीं क्योंकि आजकल उस लोथड़ा रूपी मछली की सन्तान वैसा ही लोथड़ा होती है।[2] यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं कि वह मछली होमर, अफलातून, डेविड, पाल और शेक्सपियर की पितृ हो सकती है।

४—सृष्टिकर्ता की सत्ता को मानता हुआ कोई भी बुद्धिमान् यह किसी भी अवस्था में नहीं स्वीकार कर सकता है कि वनस्पति अथवा पशुओं की उपजातियाँ शून्य से प्रादुर्भूत हुई है।

५—यह कथन तब स्वीकार करने योग्य हो सकता है जब यह दिखला दिया जावे कि चिड़िया छुपकली के अण्डे से उत्पन्न होती है[3]।

1. Natural Selection and Natural Theology" A criticism by Eustace R. Conder D. D.
2. Now a days unhappily Jelly fish produces nothing but jelly fish. But had that gelatious morsel been fated to live, say a million of centuries earlier it might have been the proginitor of the race from which Homer and Plato, David and Paul, Shakespear and our eminent professor have in their order been evolved. (Conder's Natural Selection and Natural Theology)
3. If it could be shown that the thrush was hatched from a lizard. (Conder's same

६—यदि प्रकृति पूर्वकाल में इस वेग से एक व्यक्ति को विकृत करने से भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न करने के योग्य[1] थी तो उस वेग से अब क्यों नहीं कार्य करती? यदि वर्तमान काल में नवीन शरीर किसी शरीर से विकृत होकर उत्पन्न नहीं होते तो कुछ ऐसे विकार के नमूने ही दिखला दो जिससे अनुमान तो किया जा सके।

यहाँ पर ऊपर की पंक्तियों में महाशय कौडर का विचार दिखलाया गया। डार्विन का भिन्न-भिन्न जातियों के विकास का सिद्धान्त कितना लचर है इनके विचारों से भली-भांति प्रकट हो गया। विकास-वादियों को एक महती समस्या का भी समाधान करना होगा और वह यह कि अब मनुष्य के पश्चात् किस जाति का विकास होगा? यह ऐसा प्रश्न है कि जिसका उत्तर उनसे हो ही नहीं सकता है।

जीवनविकास के क्रम में अमीबा प्रथम प्राणी माना जाता है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि 'अमीबा' को उत्पन्न करने के पूर्व इसी प्रकार का विकास नियम था अथवा नहीं। यदि नहीं था तो अमीबा उत्पन्न कैसे हुआ। वह बिना विकास के ही कैसे उत्पन्न हुआ? यदि बिना विकास के उत्पन्न हुआ तो फिर विकास का मानना ही व्यर्थ है। यदि विकास इसी प्रकार हुआ तो उसके पूर्व का चतन बतलाना पड़ेगा जिससे उसका विकास हुआ।

इसी जीवनविकास के प्रसंग में अंगों के विकास का भी प्रश्न आता है। डार्विन महोदय कहते है कि जिन अंगों की आवश्यकता नहीं रही वे घट गए या नष्ट हो गए और जिनकी आवश्यकता थी वे उत्पन्न हुए। इनके उत्पत्ति की मीमांसा में वह यह स्वीकार करता है कि निकम्मेपन और प्राकृतिक-निर्वाचन (Natural Selection) के नियम से ऐसा हो जाता है। पूछना है कि आदमी को पूँछ की आवश्यकता नहीं थी अतः पूँछ निकम्मी पड़के नष्ट हो गई, परन्तु गर्मियों मे पंखे की आवश्यकता तो बनी हुई है फिर वह भी एक अंग के रूप मे क्यों नहीं प्राकृतिक चुनाव के आधार पर विकसित हो जाता है।

विकासवाद के अनुसार जीवविकास सिद्धान्त के अन्तर्गत जातियों के परिवर्तन के नियम में क्या बाधायें हैं, इसको दिखलाते हुए श्री महाशय स्ट्रेंज अपनी पुस्तक "The Development of Creation on the Earth" मे कुछ विशेष बातें लिखते हैं जिनको यहाँ पर उद्धृत किया जाता है:—

1. If the nature has worked in the past so energetically as to evolve all existing species the-same process ought to be taking place now, evolving before eyes, if not new species at all events modification stending to produce new species It is ridiculous to say that the process goes on too slowly for us to detect it. Does. it go at all?

१—जल-निमियों का क्षेत्र में देखा जाता है कि बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वरूप के जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि एक ही से विकृत होकर उत्पन्न हुए हों, प्रत्युत एक समय में विभिन्न शरीरों में एक दूसरे की अपेक्षा रहित होकर उत्पन्न होते हैं।

२—पृथिवी के नाना स्थलों पर जो विशेष देश सम्बन्धी वनस्पति और जन्तु पाये जाते हैं वे भिन्न-भिन्न स्वरूपों में विभक्त है और जातियों की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति को प्रकट करते है—एक शरीर से विकृत होकर उत्पन्न होने को नही दर्शाते।

३—योनियों के भेद को डार्विन ने संकरीकरण (Hybrid) के आधार पर मिटाने की कोशिश की है परन्तु वन्ध्याकरण[1] का नियम सदैव दो भिन्न-भिन्न जातियों के मेल में भारी विघ्न डालता हुआ नाना जातियों (योनियो) को पृथक्-पृथक् दिखला रहा है।

४ जाति[2] रचना मे विशेष अन्तर रखने अथवा घृणा के कारण भिन्न-भिन्न जातियों के प्राणी एक दूसरे से समागम नही करते, यदि कभी वह समागम करके संतान उत्पन्न करें तो वह सन्तान बाँझ हो जाती है। (आगे सन्तान उत्पन्न करने मे असमर्थ होती है)

५ यह वस्तुतः बहुत ही विचारणीय अनुसंधान है कि किस प्रकार सीप मोर पक्षी के रूप में आगई अथवा एक मच्छर (Midget) वा मक्खी ने हाथी का रूप धारण कर लिया। निःसन्देह यह बात समझ में नहीं आती कि कैसे चक्षु अंग जोकि एक महान् विचित्र रचना है, स्वयं उत्क्रान्ति के नियम पर चल कर बन गया है।

६—विकास की दशा में डार्विन महोदय के दिखलाये दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है कि ह्रास भी हो जाता है। Axidian जलचर अथवा केकड़े का डार्विन महोदय स्वयं दृष्टान्त देते है। उस की प्रारंभ की स्थिति गतिमान स्वतन्त्र प्राणी की थी और अन्तिम दशा वनस्पति समान अथवा पहाड़ में अटके रहने वाले बहुभुजधारी कीट (Polype) की मानती रहती हैं।

1. He wish us to disallow any real distinction between varieties and species while the laws of hybridism ever place an effective barrier between violent inter-mixture, thus marking the distinctiveness of species.

2. Either from the want of adoptation or from the aversion, the species do not cross with one another or if they do and have a progeny it is unfertile. The Development of Creation on the Earth. —by Thomas Lumisden Strange

७—विशाल ग्रोक जो अपनी शाखावो को नभोमण्डल में विस्तीर्ण कर रहा है किस प्रकार घटकर एक जलचर बन गया, यह बात बुद्धि में नहीं आ सकती है।

इन विचारों को यहा पर प्रस्तुत करके यह दिखाया गया कि जीवन-विकास की कल्पना भी असभव है। इस विचारधारा वालो से यह भी प्रष्टव्य है कि बिना अस्थि वालों से अस्थि वाले, बिना बाल वालो से बाल वाले, और बिना आँख वालों से आँख वालो का विकास किस प्रकार हुआ। कछुए के पीठ पर लाखों प्रयत्न करके कोई भी व्यक्ति एक बाल नही उगा सकता है फिर उसमे पानी और स्थल दोनो में स्वाद लेने वाली भैंस और हाथी जैसे बाल वाले पशु किस प्रकार पैदा हो गये। साथ ही यदि विकास का नियम ससार में कार्य कर रहा है तो फिर आंख वालों से अन्धे किस प्रकार उत्पन्न हुए तथा इन्द्रियवान् प्राणियों से इन्द्रिय-दोष किस प्रकार उनके विकास के प्राणी मे आगए।

थोड़ी देर के लिए एक कल्पना कीजिए कि आकाशबेल विकास के नियमानुसार केचुवे में परिवर्तित हो गई और केचुवा इन्द्र-गोप और कनखजूरे के रूप में परिणत हुआ। प्रश्न यह उठता है कि बिना पैरवाले केचुवे से यह सैकड़ों पैर वाला कनखजूरा कैसे बन गया। यदि आवश्यकतानुसार यह पैर बन गए तो फिर सारे शरीर में पैर ही पैर क्यों नही बने।

किसी बिना सींग वाले प्राणी को दूसरो से मत्था मार कर अपनी रक्षा करते-करते मल एकट्ठा होकर शिर पर सींग निकल आये। परन्तु वे सीग दो ही अथवा एक ही क्यों निकले सारे शरीर में सीग ही सीग क्यों नही हो गये। यह भी प्रश्न उठता है कि आगे जो सींग वाले उत्पन्न हुये वे इसी प्राकृतिक चुनाव के नियम से क्यो नही हुए। उनका उत्पत्ति-क्रम क्यों चालू हो गया।

एक भिन्न जाति से दूसरी भिन्न जाति तक जो मध्यवर्ती स्वरूप होने चाहिएं वह कही उपलब्ध नही होते और उनके भग्नावशेष भी नहीं पाये जाते है, फिर विकास के इस आधार को मानने का औचित्य क्या है। जब सब के सब मध्यवर्ती स्वरूप नाश को ही प्राप्त हो गये तो फिर यह बन्दर और मनुष्य के निकटवर्ती वनमानस का विनाश क्यों नहीं हुआ। मनुष्य और बन्दर का निकटवर्ती वनमानस है और प्रथम रूप केकडा है कितनी अनर्गल बात है। केकड़े में बाल आदि का सर्वथा ही अभाव है फिर बालों से व्याप्त शरीर वाला बन्दर किस प्रकार उत्पन्न हो गया— इसका कोई समाधान नही है।

यदि परिस्थिति और प्राकृतिक निर्वाचन को ही जातियो के आकार परिवर्तन आदि का कारण माना जावे तो फिर इस बात का क्या समाधान है कि हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में होते हुए भी हथिनी के दांत हाथी की ही तरह के नहीं होते। मोर के पूंछ और मयूरी की वैसी नहीं है। मुर्ग को चूड़ा है परन्तु मुर्गी को वह चूडा प्राप्त नही है। जब नर और मादे दोनों ही एक परिस्थिति में है

तो यह भेद क्यों है ? प्राकृतिक और वैज्ञानिक नियम का अध्ययन कर भारतीय शास्त्रकार यह कहते है कि केश[1], लोम, दाढ़ी, मूंछ, नख, दन्त, शिरा, स्नायु, धमनी और वीर्य–ये पिता के अंश से बालक में आते हैं। इसी कारण से स्त्री आदि को मूंछ और दाढ़ी नहीं होती है। आयुर्वेद के[2] कर्त्ता यह कहते हैं कि यदि दो स्त्रियें आपस में मैथुन करने में सफल हो जावें और गर्भ हो जावे तो वह बिना अस्थि का होगा। यदि आवश्यकता और अनावश्यकता ही अंगों के विकास और ह्रास में कारण है तो फिर घोड़े और मनुष्य को स्तनों की क्या आवश्यकता थी। अतः यही स्वीकार करना पड़ेगा की योनियों का नियम ही जातियों में अक्षुण्ण है। इस प्रकार जीवन-विकास भी असंभव ही ठहरता है।

अब तीसरे विकास ज्ञान-विकास को लिया जाता है। यह भी विचार-संगत नहीं है। ज्ञान का नियम ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी पर आधारित है। भाषा और ज्ञान का विकास नहीं होता है बल्कि इनकी प्रेरणा सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर से प्राप्त होती है। यद्यपि जीव में ज्ञान गुण स्वाभाविक है परन्तु उसके विकास के लिए नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता अवश्य है—अन्यथा बिना पढ़ाये लिखाये ज्ञान का विकास हो जाना चाहिए था जो होता नहीं। अनेकों जंगली जातियाँ दुनियां में अभी भी जगली अवस्था में पड़ी हैं – यदि ज्ञान-विकास का नियम ससार में कार्य करता है तो इन्हे जंगली नहीं रहना चाहिए था। असुर वानापाल लेयार्ड और अकबर के परीक्षणों ने जो छोटे बालकों पर किये गये थे यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान का अपने आप विकास नहीं होता है।[3]

विद्वानों का यह विचार है कि सूक्ष्म कलायें[4] संगीत, चित्रकला आदि विकास के परिणाम नहीं हैं। पहले के लोग जिन बातों को जानते थे आज उनके वंशज लोग उसको भूल गये है। चीनी लोग पहले गन पाउडर (बारूद) को काम में लाते थे। वे समुद्री ध्रुवदर्शक सूई को भी काम में लाते थे परन्तु मध्य में वही बात चीनियों को मालूम नहीं थी। मिश्र में जब बड़ी-बड़ी मीनारें बनी थीं तब रेखा-गणित भी उच्चकोटि की थी परन्तु पश्चाद्वर्त्ती काल में वह बात नहीं पायी जाती है।[5]

क्रमिक ज्ञान-विकास का नियम यदि ठीक है तो पतिङ्गे पर यह क्यों नहीं घटता है। पतिङ्गा बार-बार रोशनी पर आता है आग की गर्मी का अनुभव करता है। परन्तु फिर भी आकर जल जाता है। यदि ज्ञान का विकास क्रमिक है तो फिर

1. सुश्रुत अध्याय ३
2. सुश्रुत अध्याय ३
3. मेरी पुस्तक वैदिक-ज्योति का प्रथम और द्वितीय विषय देखें।
4. Life and Matter, by Sir O. Lodge, Page 143
5. Jones Bowson's article in New Age, November 1922.

उसे हट जाना चाहिए था। परन्तु हटता नहीं और मर जाता है। ज्ञान-विकास नियम यदि सत्य है तो फिर पढ़ाने लिखाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु इस वस्तु को कोई समझदार आदमी स्वीकार नहीं कर सकता है कि पढ़ाना लिखाना ठीक नहीं। जिस अवस्था को जंगली अवस्था कहा जाता है उसमें भी लोगों को ऐसी वस्तुवें मालूम थी जो आज लोगों को नहीं मालूम है। अथवा ऐसी भी बातें जो आज मालूम है पूर्व भी मालूम थीं।

अमेरिका में (नेवदा स्थान) में एक जूते का फोसिल[1] मिला है जो बीस लाख वर्ष पूर्व का माना जाता है और यह सिलाई यन्त्र से हुई मानी जाती है। मिश्र में Tut-Ankh-Amen राजा की कबर निकली है जिसे चार सहस्र वर्ष पुरानी माना जाता है। इसकी दीवारों पर अपूर्व चित्रकारी है। यह कबर भूमि में इतने नीचे है कि यहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुंच सकती हैं। आज के वैज्ञानिकों को कोई ऐसा तेल ज्ञात नहीं कि जिसके जलाने से चित्र काले न पड़ें। अतः इनको मानना पड़ा कि प्राचीन मिश्र के लोगों को रेडियम के प्रकाश का ज्ञान था अथवा कोई ऐसा तेल मालूम था जिसके जलाने से चित्र काले नहीं होते थे। यह भी अब ज्ञात हुआ है कि बेबीलोनियां में ३००० वर्ष पूर्व एक डाकखाना था। चिट्ठीरसा लोग ईंटों की चिट्ठियां लेकर बांटने जाया करते थे। सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन अमेरिका में ६१, ६१ फुट लम्बे कई सौ मनों के पत्थर बनते थे और ऐसे-ऐसे पत्थर पर्वत शिखरों पर ले जाये जाया करते थे। परन्तु आज ऐसे पत्थर नहीं बनाये जा सकते हैं—न बनते हैं।

लोवी (Lowie) महाशय अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि यह[2] कहना ठीक नहीं कि सामाजिक जीवन असभ्यता की अवस्था से उन्नत होकर सभ्यता की अवस्था तक पहुँचा है। उत्तरोत्तर उन्नति के विकास का सिद्धान्त अब बहुत देर तक नहीं ठहर सकता है। प्राचीन भारत के लोगों को सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त—दो प्रकार के मणियों का परिज्ञान था। सूर्यकान्त का पता तो आजकल के पश्चिमी विद्वानों को भी है। परन्तु चन्द्रकान्त का परिज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। सुश्रुत ग्रन्थ आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ है इसमें चन्द्रकान्त[3] मणि को चन्द्रमा में रखने पर जो जल पैदा होता है उसके गुणों का वर्णन है। वर्णन करते हुए ऋषि कहता है कि यह कीटाणुवों का नाश करने वाला है, शीतल, आह्लाददायक, ज्वरनाशक, दाह और विष को शान्त करने वाला है। इस मणि का वर्णन चम्पू रामायण

1. देखो मेरी पुस्तक शिक्षपतरङ्गिणी (मानव के उदय का इतिवृत्त) तथा आचार्य रामदेवकृत भारतवर्ष के इतिहास द्वितीयावृत्ति की भूमिका।
2. Primitive Society, by Lowie, Page 440
3. रक्षोघ्न शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम्। चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम्॥ सुश्रुत सूत्रस्थान ४५/३७

अध्याय २

'वैदिक एज' के निर्णीत परिणाम भी अनिर्णीत और संशयग्रस्त हैं

वैदिक एज के लेखक ने अपनी पुस्तक में जिन पाश्चात्य मान्यतावों को आधार बनाकर अपनी कल्पना का भव्यभवन खड़ा किया है उनका तो खण्डन बाद में यथा-स्थान किया ही जावेगा। परन्तु यहां पर यह दिखलाना आवश्यक है कि उक्त पुस्तक के लेखक ने जो परिणाम सिद्धान्तरूप में निकाले हैं वे भी निश्चित और निर्णीत नही हैं।

किसी भी वाद को तब तक ज्ञान और निर्णीत ज्ञान का रूप नहीं दिया जा सकता जब तक वह संभावना (Possibility) और संभाव्यता (Probability) के क्रम से उत्तीर्ण होकर निश्चायकता (Certainty) की स्थिति में नही पहुँच जाता है। संभावना की अवस्था में 'वाद' को बहुत से तथ्यों से सम्बद्ध और सिद्ध हुआ होना पड़ता है। सम्भाव्यता में उनसे भी अधिक तथ्यों से अनुप्राणित और परिमार्जित होना पड़ता है। जब 'वाद' सभी तथ्यों से सिद्ध होता है तब वह निश्चायकता की कोटि में आ जाता है। जब तक इस अवस्था को कोई वाद प्राप्त नहीं कर लेता उसे ज्ञान एवं वाद नहीं कहा जा सकता है। जो वाद अथवा ज्ञान किसी एक तथ्य से ही सम्बद्ध है उसे निर्णीत नही कहा जा सकता है और वह अस्वीकार करने योग्य ही ठहरता है। वैदिक एज पुस्तक के प्रत्येक निर्णय की यही स्थिति है। उसमें संशय, संभावना और वदतो-व्याघात पदे-पदे हैं अतः वह सिद्धान्त की कोटि में आता ही नहीं है। यहाँ पर कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

१. ऋग्वेद[1] के काल के विषय में लगभग निश्चय की मात्रा में भी ज्ञान नहीं है।
२. वैदिक[2] काल की कोई भी कृति निश्चित रूप से काल की दृष्टि से कृती नही जा सकती है।
३. केशिन[3] नाम की जाति संभवतः पांचालों की ही शाखा थी।

1. The age of the Rigveda is not known with even an approximate degree of certainty. —Vedic Age P. 194.
2. Not a single work of the Vedic period can be accurately dated. —Vedic Age Page 225.
3. They were probably a branch of the Panchalas. Page 259.

४. पुण्ड्र[1] लोग संभवतया बंगाल की एक आदिम जाति पुरों के पूर्वज हैं।

५. शबर[2] लोग संभवतः शवरलु अथवा विजगापट्टम की पहाड़ी के शवर वा ग्वालियर भूमि के शवरी एवं उड़ीसा के सीमान्त के जंगली लोगों के पूर्वज हैं।

६. और भी[3] बहुत सी छोटी जातियाँ वैदिक मंत्रों में वर्णित हैं परन्तु उनके विषय में हमें बहुत थोड़ा परिज्ञान है।

७. स्वभावतः[4] ऋग्वेद ऐतिहासिक सामग्री के लिए अकिंचन है।

८. किन्हीं प्रमाणों[5] के अनुसार ज्ञात होता है कि भरत ने इस हमारे देश को अपना नाम दिया और तत्पश्चात् यह भारतवर्ष हुआ।

९. भार्गव[6] लोग, वशिष्ठजन और संभवतः आंगिरस लोग संभवतया प्राचीन ब्राह्मण कुल मालूम पड़ते हैं।

१०. यह[7] प्रकट करता है नर्मदा नदी और उन नागावों की भूमि की ओर आर्यों की संस्कृति के विस्तार को, जोकि संभवतः मूल निवासी अथवा आदिमवासी थे।

११. संभवतः[8] विश्वामित्र के पश्चात् अष्टक सिंहासन पर बैठा।

१२. संभवतः[9] भरत के शासन काल में राजधानी प्रतिष्ठान से नगर को लेजाई गई थी। यह नाम उसके उत्तराधिकारी हस्तिन् के बाद हस्तिनापुर कहा जाने लगा।

---

1. Pundras are probably the ancestors of the puros. an aboriginal caste in Bengal. Page 260.
2. The Sabras are probably ancestors of the Savarlu or Savras of the Vizagapattam hills, the Savaris of the Gwalior territory and the savages of the frontiers of Orrissa. Page 260.
3. There are Various other minor tribes mentioned in Vedic texts, but we know very little of them Page 260.
4. Naturally it (The Rigveda) is poor in historical data. Page 225.
5. According to some accounts. Bharat gave his name to our country which was henceforth called Bharata Varsha. P. 292.
6. The Bhargavas. Vasisthas and probably Angiras as appear. to have been the earliest Brahmana families.—Vedic Age P. 276
7. This shows the extension of Aryan Culture towards the river Narmada and the land of the Nagas who were probably aborigines or primitive peoples. Page8
8. Ashtaka probably succeeded Vishwamitra on the throne. Page 285.
9. It was probably during Bharat's regime that the headquarters of the state were shifted from Pratisthan to the city, called later Hastinapur after his succeessor Hastin. Page 292

१३. वैशाली[1] और विदिशा भी हैहयों द्वारा आक्रान्त किये गये थे, संभवतः विदिशा हैहयों के अधिकार में थी।

१४. अर्जुन[2] के कई लड़के थे जिनमें जयध्वज मुख्य था और उसने अवन्ती में शासन किया था। दूसरा पुत्र शूरसेन मथुरा से सम्बद्ध मालूम पड़ता है और तीसरा पुत्र शूर संभवतः सुराष्ट्र से सम्बन्ध रखता था।

१५. ऋग्वेद[3] आदिवासियों पर हुये आक्रमण का बार-बार हवाला देता है ये कृष्णत्वक् कहे जाते हैं अलंकारिक रूप से। इन्द्र द्वारा हत दैत्य कुयवाक् संभवतः दास्यव शत्रुवों के लिए है।

१६. थोड़े[4] समय के बाद अधिक बस्ती वाले द्रुह्यु लोगों ने भारत की सीमा को पार किया और उत्तर में म्लेच्छों के भूभाग में बहुत सी राजधानियाँ बनाईं और संभवतः आर्यों की सभ्यता को भारत की सीमा के बाहर ले गए।

१७. पुरु कुशिग[5] से जो पुरुकुत्स के संभवतः छठी पीढ़ी के वंशज थे, कुशिक का पुत्र गाधि था। गाधि को इन्द्र का एक अवतार कहा जाता है जिसका संभवतः तात्पर्य यह है कि उसकी वैकल्पिक उपाधि इन्द्र अथवा इसका एक पर्याय था।

१८. अप्रत्यक्ष[6]—और प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के प्रमाण पाये जाते हैं कि मध्य भारत, उत्तर भारत, पश्चिमी भारत और संभवतः पूर्वी भारत में भी एक समय द्राविड़ भाषा अधिक फैली हुई थी।

---

1. Vaishali and Vidisha also were attacked by the Haihayas and Vidisha probably was under Haihaya occupation. Page 284.
2. Arjuna had many sons of whom the chief was Jayadhvaja who reigned in Avanti. Surasena, another son, appears to have been associated with Mathura, while Sura, the third son probably was connected with Surastra. Page 283.
3. The Rigveda repeatedly refers to the attacks on the aborigines. They are called Krishna-twach (black skin) metaphorically. Kuyavach (evil speaking) a demon slain by Indra, probably personifies the barbarian opponents.
—Vedic Age Page 261.
4. After a time being over-populated Druhyus crossed the borders of India and founded many principalities in the Mleccha territories in the north and probably carried the Aryan Culture beyond the frontiers of India. Page 279.
5. Kushika's son from Paurukutsi, Purukutsa's descendant in about the sixth degree, was Gadhi Gadhi is described as an incarnation of Indra. which probably means that he had a alternative title such as Indra or one of his synonyms. Page 285.
6. There is evidence, both indirect and direct that in Central India, in North India and in Western India possibly also in eastern India, Dravidian was at one time fairly wide-spread. Page 155.

१९. अश्मक[1] से कई पीढ़ियों पूर्व परशुराम हुए और इस कहानी का कोई आनुकालिक मूल्य नहीं है। संभवतः यह कल्मशपाद के समय के पश्चात् के राज्यों की विच्छिन्न अवस्था का हवाला है जबकि उसके उत्तरवर्ती लोग कमजोर थे।

२०. राम[2] ने विशाली, विदेह, काशी, कान्यकुब्ज और अयोध्या आदि विभिन्न राज्यों को लेकर एक संघ संघटित किया जो हैहयों से बहुत से युद्ध लड़ा। संभवतः २१ बार क्षत्रियों का विनाश इन पर प्रकाश डालता है।

२१. मेसोपोटामियां[3] के जलप्लावन का समय सामान्यतः ईस्वी से ३१०० वर्ष पूर्व माना जाता है। भारत का जलप्लावन भी संभवतः उसी समय हुआ और यह ३१०२ वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है और कलियुग का प्रारंभ भी इसी समय पर कल्पित किया गया है। हो सकता है कि यह उस घटना की स्मृति में हो।

२२. हम[4] पूर्णतया निश्चित नहीं हैं कि हरप्पा और मोहनजोदारो नगर-निर्माता जिनका आर्यों ने निःसंदेह सामना किया था, द्राविड़ भाषा बोलते थे। परन्तु संभावना की ऐसी मात्रा है कि वे बोलते थे। जब तक शतशः मुहरें जो वहां पायी गई हैं, उनके अक्षरों का पता नहीं चलता तब तक न यह सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध।

---

1. But Parashu Ram flourished generations before Ashmaka, and the story has no chronological value. Probably it refers to the disturbed state of the Kingdom after the days of Kalmashapada when his successors were weaklinges.—Vedic Age Page 289.

2. Rama organised a confiedarecy of various Kingdoms including Vishali, Videha, Kashi, Kanyakubja and Ayodhya which fought the Haihayas on various battle-fields. These are probably referred to by the annihilation of the Kshatriyas twenty-one time. Page 281.

3. The flood in Messopotamia is generally held to have occurred about 3100 B. C. The flood in India probably occurred at the same time, and the date 3102 B. C. supposed to be beginning of the Kalki era, may therefore commemorate this event. Page 270.

4. We are not absolutely certain that the city-builders of Harappa and Mohenjodaro in South Punjab and Sind, whom the Aryans doubtless encountered. spoke Dravidian, but there is a balance of probability that they did.

This matter cannot be proved or disproved until we find the clue to the script in hundred of seals found in Harappa and Mohenjodaro and other sites. Page 156.

२३. नभाग[1] से आने वाले नाभाग लोगों का स्थान अनिश्चित है। वे स्यात् गंगा के दो-आवे के मध्य भूभाग में रहते थे और इसमें सम्मिलित किया रथीतर को जहाँ से कि रथीतर लोग आए थे। ये क्षात्र-ब्राह्मण थे। नाभाग वंश ने रीत्यात्मक इतिहास में कोई सक्रिय भाग नहीं अदा किया और संभवतः पूर्ववर्ती ऐल विजय के समय ये पलायन कर गए थे। धृष्ट से धार्ष्टक क्षत्रिय हुए जिन्होंने संभवतः पंजाब में वाहीक पर शासन किया। इनके संबन्ध में और अधिक नहीं ज्ञात है।

२४. कहा[2] जाता है कि राजपूताना रेगिस्तान के रेत भरे सकरे समुद्र के पास अश्वराक्षस अथवा धुन्धु नाम के दैत्य पर कुवलाश्व ने उत्तङ्क नाम के ऋषि की रक्षा के लिए चढ़ाई की। उसने असुरों के पुर और पुरियों का विनाश किया। यह गाथा संभवतः यह बतलाती है कि कुवलाश्व ने पश्चिम और राजपूताना के दक्षिणी भाग में असुर और आदिम वासियों को विजित किया और इन भागों में आर्य संस्कृति का विस्तार किया।

इस प्रकार ऊपर के उद्धरणों में देखा गया कि वैदिक एज की सभी स्थापनाओं में संभाव्यता, संभवता और स्यात् की ही भरमार है। पहिले कहा जा चुका है कि जिन स्थापनाओं एवं वादों में केवल संभावना ही हो वह सिद्धान्त नहीं—केवल कल्पनामात्र हैं। ऐसी अवस्था में सारी विचारधारा ही निराधार हो जाती है। ऐसे भी उल्लेख इस पुस्तक में पाये जाते हैं जिनको परस्पर विरोधी कहा जा सकता है। एक स्थान पर लिखा गया है कि ऐसे चिह्न मिलते हैं कि भारतीय इतिहास की दिशा

---

1. The location of the Nabhagas descended from Nabhaga is uncertain. They probably reigned in the midlands of the Gangetic Doaba, and included Rathitara from whom came the Rathitaras who were Kshatriya Brahmanas. The Nabhaga dynasty played practically no part in traditional history and probably disappeared under the early Aila Conquests.—From Dhrista came Dharstak Kshatriyas who probably ruled over Vahika in the Punjab. Nothing further is known about them. —Vedic Age Page 272.

2. Kuvalashva is said to have marched against an aswa Rakshasa or Daitya named Dhundhu near a shallow sand-filled sea in the Rajputana desert in order to rescue a sage named Uttanka. He destroyed the subterranian quarters of the Asuras and put an end to his fiery home. This legend probably suggests that Kuvalashva subjugated the Asuras and aboriginals to the west and in the southern parts of the Rajputana and spread Aryan culture in those lands Page 275.

में पीछे नहीं थे। दूसरी तरफ इसके विपरीत भी लिखा गया है[1]। इस वैदिक एज पुस्तक के मूल्य को बढ़ाने के लिए श्री मुन्शी[2] जी अपनी भूमिका में लिखते हैं कि मुख्य संपादक ने वैज्ञानिक ऐतिह्यविदों के विचार विन्दु दिये हैं। स्वयं मजूमदार जी ने ही लिखा है कि भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को इस[3] गड्ढे में न पड़कर 'वैज्ञानिक' अनुसंधान के अध्याय का वर्तमान तरीका अपनाना चाहिए। इनका यह वैज्ञानिक पद केवल यही अर्थ रखता है कि परम्पराप्राप्त महाभारत-आदि का विरोध किया जावे, स्वदेशज देशाभिमान का विरोध किया जावे तथा देश भक्ति का विरोध किया जावे। लेखक महोदय इनको पूर्व-निश्चित धारणा (prejudice) कहते हैं। इससे रहित होकर जो इतिहास लिखा जायेगा वह वैज्ञानिक इतिहास कहलावेगा। वैदिक एज में लेखक ने इन उपायों को वर्ता है अतः वह वैज्ञानिक इतिहास है। वैदिक एज में जबकि संभावना (Possibility) संभाव्यता (Probability) और वदतोव्याघात् (Contradictions) तथा स्यात् (Perhaps) के ही प्रयोग भरे पड़े हैं तो भी इसके प्रशंसक और संपादक इसे वैज्ञानिक कहते हैं, कितने आश्चर्य की बात है। यदि संभावना, संभाव्यता और विरोध एवं शायद ही वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसंधान की देन हैं तो फिर भ्रम, संशय और व्याघात किसका नाम होगा। फिर तो इनके लिए और ही शब्द खोजने पड़ेंगे और स्यात् इस कमी को इन लेखकों का कल्पित, निराधार भाषा-विज्ञान पूरा कर देगा। ये कह पड़ेंगे कि पहले ये शब्द इसी वैज्ञानिक अर्थ में ही बोले जाते थे।

ये यह भी कह सकेंगे कि प्राग्वैदिक और प्रागैतिहासिक काल में ये शब्द इसी वैज्ञानिक अर्थ के ही द्योतक थे। द्राविड़ भाषा इनको संभवतः इसमें इनकी कल्पनानुसार सहायता भी दे दे। नहीं तो अज्ञात भाषा और इण्डोयोरोपियन भाषा में से कोई न कोई आधार इन्हें मिल ही सकेगा। और नहीं तो इन्हें भी अन्य संभावनाओं का विषय बना दिया जावेगा। कैसी विचित्र बात है। विज्ञान का भी यह उपहास ही करना है। इस पुस्तक में वस्तुतः इसी प्रकार का वैज्ञानिक अनुसंधान भरा पड़ा है जो अपने-अपने प्रसंग पर पाठकों के समक्ष उपस्थित होगा। यहाँ पर दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है। अगले प्रकरणों में अन्य मान्यतावों पर विचार किया जावेगा और दिखलाया जावेगा कि इनमें कितनी सारासारता है। इतिहास में आज-

1. (a) There are indications that the ancient Indians did not lack in historical sense. Page 47.
   (b) Lamentable paucity of historical talent in India. Page 50.
2. The general editor in his introduction has given the point of view of the scientific historian. Page 7.
3. The student of Indian history must avoid those pitfalls and follow the modern method of Scientific researches. Page 40.

कज जिन स्रोतों को ये लोग स्वीकार करते हैं और जिन युगों की कल्पना करते हैं वे भी इसी प्रकार की रेत की नींव पर आधारित हैं।

१. समयाकलन की परिपाटी— विदेशियों ने जहां इतिहास सम्बन्धी अनेक कल्पित मान्यतावों को अपने निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में भारतीयों पर लादा वहां काल के आकलन की भी एक मान्यता दी जो भारतीयों को अब किसी भी स्थिति में ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु अभी तक वही पुरानी लकीर पीटी जा रही है। 'वैदिक एज' के लेखक ने भी उसी का आश्रयण किया है। वह यह मान्यता है कि किसी के काल को बताते समय ईसा के जन्म के पूर्व (B C.) तथा ईसा की मृत्यु के बाद (A. D.) का प्रयोग ऐतिहासिकजन करते है। अंग्रेजों का भारत पर आधिपत्य था। उस समय विदेशी विद्वानों ने यह कल्पना हम पर लादी। परन्तु अब तो इसका पिण्ड छोड़ना चाहिए था। ईसा का अपने भारतीय इतिहास से सम्बन्ध ही क्या है कि प्रत्येक काल की माप में उनका ही मानदण्ड माना जावे। विदेशी विद्वानों ने तो यह कल्पना इसलिए खड़ी की थी कि सृष्टि की उत्पत्ति का काल छः से दस सहस्र वर्षों तक में ही समाप्त कर दिया जावे और उनका इतिहास ईस्वी सन् वा ईसा से पूर्व जाता नहीं। साथ ही वे यह भी धारणा रखते थे कि किसी भी अवस्था में भारत का इतिहास इससे बहुत पूर्व समय का न सिद्ध हो जावे। मिश्र की सभ्यता से किसी भी अवस्था में भारतीय आर्यों की सभ्यता पूर्ववर्ती न हो जावे। परन्तु अन्वेषणों और विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि तो अरबों वर्ष पुरानी है। छः सहस्र वर्ष का अब उसमें कोई मूल्य नहीं। साथ ही भारत की सभ्यता भी मिश्र की सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता से बहुत पुरानी है, यह भी सिद्ध हो गया है। फिर इस बी.सी. और ए. डी. का क्या महत्व है कि अभी भी इससे भारतीय इतिहास-लेखक चिपटे रहें। यह ईस्वी सम्वत् संसार की महत्तम घटनावों में भी कोई ऐसी घटना नहीं कि इसके आधार पर समय का आकलन किया जाया करे। १९६३ वर्षों को ही संसार के समय वा मानव के पृथिवी पर उदय का मध्यवर्ती मानदण्ड भी नहीं माना जा सकता है कि वह इस प्रकार चालू रहे। हजरत ईसा से बहुत, नहीं-नहीं अरबों वर्ष पूर्व मानव पृथिवी पर विद्यमान था फिर यह मानदण्ड क्यों स्वीकार किया जावे? इसका कोई उत्तर नहीं है।

मनु की जलप्लावन सम्बन्धी घटना संसार की सभी जातियों और देशों के इतिहास में 'नूह के तूफान' आदि भिन्न-भिन्न रूपों में किसी न किसी तरह पाई जाती है। इसी को लेकर इतिहास की काल-गणना में इसे अन्ताराष्ट्रिय रूप दिया गया होता तब भी कोई बात थी। यह है भी अन्ताराष्ट्रिय घटना। परन्तु बी. सी. और ए. डी. का इसमें क्या स्थान है—यह वे ही बतावें जो इस पर चिपटे हुए है।

इस ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से तीन सहस्र वर्ष से कुछ अधिक समय पूर्व भारत के इतिहास में एक महान् घटना घटी और वह भारत युद्ध की घटना थी। इस घटना का महत्त्व एकदेशीय नहीं बल्कि अन्ताराष्ट्रिय है। क्योंकि पाश्चात्यों द्वारा निश्चित इस महायुद्ध का काल भी तो ईस्वीय सन् से बहुत पूर्व जाता है। साथ ही महाभारतकाल में युधिष्ठिर द्वारा किये जाने वाले राजसूय यज्ञ में भूमण्डल[1] के राजे उपस्थित हुये थे। इससे यह सिद्ध है कि यह भी उस समय की एक अन्ताराष्ट्रीय घटना है। इतना ही नहीं यह घटना ज्योतिष आदि प्रमाणों से भी निश्चित है और एक विशेष महत्व का स्थान रखती है। वैदिक एज के लेखक ने कौरव-पाण्डवों के इस महायुद्ध का समय ईसा से१४००[2] वर्ष पूर्व स्वीकार किया है। एलफिस्टन महोदय के अनुसार महाभारत का काल ईसा से १४०० वर्ष पूर्व है। हण्टर महोदय के अनुसार यह समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का है। परन्तु ज्योतिष के प्रमाणों से महाभारत का समय पांच सहस्र से ऊपर ठहरता है। ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिर ने अपनी पुस्तक बृहत् संहिता के १३वें अध्याय श्लोक तीन में एक ज्योतिष की घटना का उल्लेख[3] किया है। उनका कथन है कि युधिष्ठिर जिस समय राज्य कर रहे थे उस समय सप्तर्षि मण्डल मघा नक्षत्र में था। इसका गणित कर उसने निश्चय किया कि शाक्य मुनि गौतम बुद्ध तक २५२६ वर्ष होते हैं। बुद्ध ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व हुये और ५४३ वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु हुई। यदि २५२६+६२३ और १९६३ को मिला दिया जावे तो ५११२ वर्ष आजतक होते हैं। परन्तु शाक्य मुनि का सम्वत् उनके पूर्वजीवन काल से प्रारम्भ हुआ हो या कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ हो—इस काल को भी निकाल दिया जावे और ५० वर्ष कम भी कर दिये जावें तब भी महाभारत का काल पाँच सहस्र वर्ष से ऊपर ही ठहरता है।

ज्योतिष के एक नियम का उल्लेख सूर्यसिद्धान्त से उपलब्ध होता है। सूर्य-सिद्धान्त यह बतलाता है कि इस कृतयुग के अन्त में सभी ग्रह एक युति में थे। श्री पं० बालकृष्ण जी जो ज्योतिष के ख्यातनामा विद्वान् थे के मत में सूर्य-सिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के अनुसार वर्तमान कलियुग के आरंभ में सातों ग्रह एक स्थान में थे। दूसरे ब्रह्मगुप्त आदि मानते हैं कि कल्प के प्रारम्भ में सातों ग्रह एक युति में थे। यहाँ यह स्पष्ट है कि कलि के प्रारम्भ में सातों ग्रह एक स्थान में थे। दूसरी बात यह स्पष्ट है कि कृतयुग के अन्त में ये एक स्थान पर थे। तीसरी बात यह

1. देखें महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास।
2. देखें Vedic Age, Page 300
3. आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
   षड्द्विक-पञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञः॥ बृ-१३।३
   इसे कई भारतीय इतिहास लेखकों ने उद्धृत किया है।

स्पष्ट है कि प्रत्येक कल्प के आरम्भ में एक युति में ये सातों ग्रह रहते हैं। अब इसका सर्वसम्मत मत निकालने की आवश्यकता है। कल्प आदि की गणना का आधार कलियुग है। कलियुग के वर्षों की संख्या चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष है। दूने का नाम द्वापर, तिगुने का नाम त्रेता और चतुर्गुण से कृतयुग की वर्ष संख्या निकलती है। ऐसी स्थिति में कलियुग ही का समय द्विगुण, त्रिगुण एवं चतुर्गुण होकर क्रमशः द्वापर, त्रेता और सत्ययुग का समय बनता है। अतः यह सम्भव है और सर्वथा ठीक भी है कि कृतयुग में ग्रहों के एकत्र होने की घटना चार बार, त्रेता में तीन बार, द्वापर में दो बार और कलियुग में एक बार घटती होगी। इनमें जिस किसी घटना को किसी ज्योतिषी ने देखा उसका वर्णन कर दिया। कलियुग के अन्त का अर्थ त्रेता के आदि का समय है। कल्प के प्रारम्भ का समय भी एक तरह से एक कल्प में व्यतीत होने वाले कलियुगों में प्रथम का प्रारम्भ समय है। चाहे कलि का प्रारंभ कहे चाहे कल्प का प्रारम्भ कहे, चाहे कृत का अन्त और त्रेता का प्रारंभ कहे—तात्पर्य यह निकलता है कि प्रत्येक चार लाख बत्तीस सहस्र वर्षों में यह घटना एक बार घटती है। अतः मध्यम सन्धिभूत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कलियुग में (जो युगों या कल्प आदि का प्रारंभक है) यह घटना होती है। महाभारत के समय यह घटना हुई थी—ऐसा वर्णन लोग करते हैं। यदि कोई इस घटना का वर्णन न भी करे तो भी ज्योतिष की घटना तो घटित होना बन्द नहीं हो जावेगी। कलि का प्रारंभ भी महाभारत के समय में माना जाता है। उस समय ऐसी घटना उपस्थित हुई थी इसका भी प्रमाण मिलता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य ज्योतिर्विद बैली (Bailly) ने लिखा है कि कलियुग का प्रारम्भ ईस्वी सन् से ३१०२ वर्ष पूर्व २० फरवरी को २ बजकर सत्ताईस मिनट ३० सेकंड पर हुआ था। उस समय सभी ग्रह एक युति[1] में थे। यह एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जिसके आधार पर महाभारत का समय ३१०२+१९६३=५०६३ वर्ष होता है। तात्पर्य यह है कि सन् १९६३ की २० फरवरी को २ बजकर २७ मिनट और तीस

1. According to the astronomical calculation of the Hindus, the present period of the world, Kaliyuga, commenced 3,102 years before the birth of Christ on the 20th. February at 2 hours, 27 minutes and 30 seconds, the time being thus calculated to minutes and seconds They say that a conjunction of planets then took place, and their table show this conjunction. It was natural to say that a conjunction of the planets then took place. The calculation of the Brahmins is so exactly confirmed by our own astronomical tables that nothing but actual observation could have given so correspondent a result.

'The Theogony of the Hindus,' by Count Bjornstjourna. Page 82.

सेकण्ड पर रात्रि में महाभारत के ये पाच सहस्र ६३ वर्ष पूरे हो गए। यह एक ज्योतिष शास्त्र के आधार पर निर्धारित समय है। परम्परागत इतिहास मे भी यही समय महाभारत का सिद्ध होता है। परन्तु वैदिक एज के लेखक स्यात् परम्परागत इतिहास को न स्वीकार करें और वैज्ञानिक प्रकार पर ही बल दें। अतः यह वैज्ञानिक ही प्रकार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया।

जब महाभारत जैसी महान् घटना विश्व के इतिहास मे उपस्थित है तो फिर बी० सी० और ए० डी० का प्रयोग न करके महाभारत पूर्व और महाभारत पश्चात् का मानदण्ड प्रयुक्त किया जाना उचित था परन्तु पाश्चात्यों को अपनी मनःकामना पूरी करनी थी, अतः अपनी कल्पना को बद्धमूल किया। इस राष्ट्रीयकरण और भारतीयकरण के युग में भारतीय विद्या-भवन के तत्त्वाधान में इतिहास लिखने वालों को तो इस विदेशीय रीति को छोड़ना चाहिए था।

और भी एक घटना भारत के इतिहास में ईसा से कुछ पूर्व घटी और यह है विक्रम सम्वत् की स्थापना। महाराज विक्रमादित्य के नाम से यह सम्वत् प्रचलित हुआ। ईस्वी सन् वर्तमान में १९६३ है और विक्रम का सम्वत् २०२० है। इस प्रकार ५७ वर्ष का अन्तर है। यहाँ पर, महाराज विक्रमादित्य कौन है—इस निर्णय में मैं पड़ना उचित नहीं समझता। पाश्चात्य परम्पराओं के पोषक इतिहास विदों ने इस महापुरुष के काल आदि के विषय में भी पर्याप्त मतभेद बना रखे हैं। परन्तु धारानरेश भोज एवं विक्रमादित्य भारत के लिए कोई सन्दिग्ध व्यक्ति नहीं। उज्जयिनी में इस राजा की स्थिति इतिहास में एक महत्वपूर्ण वास्तविकता की द्योतिका है। ज्योतिषशास्त्र का मापदण्ड लंका से हटकर इस नगरी में प्रारम्भ हो गया था। समराङ्गण सूत्राधार जैसा वैज्ञानिक ग्रन्थ इस काल के आस पास तैयार हुआ। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक प्रक्रिया से भारत का इतिहास लिखने की कृत्रिमता को प्रचारित करने वालों को चाहिए था कि इतिहास के काल के आकलन का मापदण्ड विक्रम सम्वत् को बनाते। परन्तु यह भी नहीं किया। भविष्य में भारत के इतिहास लिखने के कार्य मे लगने वालों को चाहिए कि इस बी० सी० और ए० डी० की दासता को छोड़कर महाभारत अथवा विक्रम सम्वत् के मापदण्ड को इस कालगणना के क्षेत्र में बर्त्तें।

२. प्रागैतिहासिक युग—दूसरी कल्पना प्रागैतिहासिक युग (Prehistoric Period) की है। 'वैदिक एज' का द्वितीय पुस्तक शीर्षक भाग भी इस आधार को स्वीकार करता है। आर्यजाति का धर्म सर्वदा वेद रहा है। इसमें भी किसी को आपत्ति नहीं। यह धर्म शिक्षा देता है कि मानव सृष्टि की आदि अवस्था में युवा

उत्पन्न होते हैं और समर्थ उत्पन्न[1] होते है। उनमें ऋषि भी होते हैं[2], साध्य भी होते हैं, मनुष्य भी होते हैं। ये लोग जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होते हैं वाणी की विविध शक्तियों से युक्त होते हैं और अपने लिए जितनी उपयोगी धारक शक्तियां चाहिए उनसे भी युक्त होते हैं[3]। यज्ञ के करने अर्थात् संश्लेषण, विश्लेषण, उपासना आदि करने की योग्यता के साथ आते हैं और शरीर आदि की रक्षा और व्यवहार को चलाने के ज्ञान से भी युक्त होते हैं[4]। यह एक दार्शनिक सिद्धान्त है जो अटल और प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में लागू होता है। वेद इतिहास का वर्णन नहीं करते—दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। परन्तु सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था में उन्हीं सिद्धान्तों पर प्रारम्भिक जन चलते हैं और बाद में उनकी विविध प्रवृत्तियों का इतिहास भूतात्मक होना जगता है। वेद इस भूतगर्भ और वर्तमान की प्रवृत्तियों के इतिहास को नहीं वर्णन करता है। यह देश, काल और परिस्थिति में घटता है और इसका वर्णन इतिहास का कार्य है।

वेद ने दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन कर दिया कि सृष्टि के प्रारम्भ में योग्यता से सम्पन्न ऋषि, साध्य और मनुष्य आदि उत्पन्न होते हैं। इतिहास इसका वर्णन फिर इतिहास के रूप में करता है। मुण्डक उपनिषद् कहती है कि उस परमेश्वर की कृपा और निमित्तता से देव, मनुष्य और साध्य लोग उत्पन्न हुए।[5] महान् दार्शनिक कपिल भी सृष्टि के प्रकारों को बतलाते हुए सांकल्पिक और सांसिद्धिक का भी वर्णन करते हैं।[6] कणाद भी वैशेपिकदर्शन में कहते हैं कि अयोनिज ऋषि आदि की भी सृष्टि होती है—वेद का भी इसमें प्रणाम पाया जाता है।[7] यही वैज्ञानिक मत भी है। बोस्टन नगर के स्मियसोनियन इन्स्टीट्यूट के जीवन-विज्ञान शास्त्र के अध्यक्ष डाक्टर क्लार्क का भी यही मन्तव्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'मनुष्य सोचने, चलने और अपनी रक्षा करने में समर्थ उत्पन्न हुआ'।[8]

1. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधु. सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्य। ऋ ५।६०।५
2. त यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
   तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। ऋ १०।९०।७
3. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। अथर्व १२।१।४४
4. चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञ मयजन्ता पूर्वे ऋ १०।१३०।७
4. तस्माच्च देवा विविधा: सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। मु २।१।७
6. सांख्य ५।११२
7. तत्रयोनिजाः, वेदलिङ्गच्च-वै० ४।२।१०।११
8. Man appeared able to think walk and dsfend himself aloted Quoted from satyarth prakashs notes of Vedan and Saraswati)

इसके अतिरिक्त एक यह प्रथा आर्यों में पायी जाती है कि उनके संस्कार नामकरण आदि होते हैं और इन संस्कारों में गोत्र, तिथि, नक्षत्र, उसके देवता, सभी के जानने की आवश्यकता पड़ती है।

यज्ञ भी आर्यों का समवाय-सम्बन्ध का कर्मकाण्ड है। इसमें भी विविध विज्ञान, ज्योतिष के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही जहां पर आर्य होंगे उनमें वर्ण और आश्रम की व्यवस्था अवश्य रहेगी।

वेद में मनुष्य को कृष्टि कहा गया है। इस का अर्थ है कृषि, उद्योग और संस्कृति से संस्कृत मनुष्य। आर्यजन कृष्टि रूप में ही रहते हैं। इन सब बातों के होते हुए जब से आर्य पृथिवी पर आये तब से अपने इतिहास रखते आये हैं। जो गोत्र का ज्ञान रखे, जिसके यहां सात पीढ़ी तक का ज्ञान रखा जावे, जो वंशावली का ज्ञान रखे, आयु के भाग जिनके यहां बंटे हों—उनके इतिहास में कोई प्रागैतिहासिककाल हो ही नहीं सकता है। 'धर्मों का मूल' (The Origin of Religions) के लेखक महाशय रफेल कार्स्टीन पी० एच० डी० का कथन है कि विकास और आदिमानव (Evolution and Primitive) का प्रयोग भ्रमात्मक है। जहां विकास है वहां ह्रास का भी नियम उसके साथ ही दृष्टिगोचर हो रहा है। उनका कथन है कि इस प्रिमिटिव शब्द का दुरुपयोग हुआ है और विशेषकर विकासवाद के अनुयायी मानव-वंश-परम्परा के अध्ययन करने वालों के द्वारा। कोई असभ्य जंगली जाति वर्तमान में ऐसी नहीं पाई जाती है कि जिसकी मानसिक, सांस्कृतिक अवस्था आदिम मानव का लगभग उत्तर दे सके। यहां तक कि आज की अति असभ्य जंगली जातियां भी अपने पीछे एक बहुत बड़ा इतिहास रखती हैं। यह कल्पना करना भी असम्भव है कि सैकड़ों सहस्रों वर्षों में वे बिना किसी परिवर्तन के एक अवस्था में ही पड़ी[1] रहीं। इस प्रकार यह निश्चित है कि किसी जाति के इतिहास में कभी कोई प्रागैतिहासिक युग होता ही नहीं। यह प्रागैतिहासिक युग की कल्पना सर्वथा ही व्यर्थ है। इसमें वैज्ञानिकता और तथ्य का तनिक भी लेश नहीं।

३. प्राग्वैदिक काल—अब एक नई कल्पना और खड़ी की जा रही है जिसका नाम प्राग्वैदिक (Pre-Vedic) काल रखा जा रहा है। यह कल्पना

1. Obviously, the word has been much misused, especially by anthropologists of the evolutionary school No savage tribe exists whose mental and cultural state would answer even approximately to that of "Primeval man." Even the rudest savage tribes of to-day have a long history behind them. It is impossible to assume that during the hundreds of thousands of years of their existence they have remained entirely unaltered. —The Origin of Religion. Page 13.

मिथ्या भाषा-विज्ञान का गर्व करने वाले लोग चला रहे है। आंग्लभाषा के Pre और Post शब्द पता नहीं कहाँ-कहाँ लगा दिये जायेंगे यदि ये कल्पना-पंडित अपनी कल्पनावों में व्यस्त रहे। प्रश्न यह उठता है कि प्राग्वैदिक काल के निर्णय के लिए हेतु क्या है। यदि कोई कहे कि वेद को और उसकी भाषा को देख कर ऐसा निर्णय किया जाता है तो सर्वथा ही भ्रान्त धारणा है। वेद मे कोई भी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही है। उसकी भाषा भी ऐसी नही जो भाषा-विज्ञान के अधूरे नियमो पर मापी जा सके। वर्तमान भाषा-विज्ञान के प्रथम तो कोई निश्चित नियम नहीं। यदि कोई अधूरे नियम गढे गये है तो वे भी स्वयं को काटते हैं। यदि वेद को प्रामाणिक मानकर ये लोग इतिहास की नीव स्थापित करते है तो वेद नित्य है—वेदों में कथित और विद्यमान इस तथ्य को भी स्वीकार करना चाहिए कि वेद मानव के लिए आदिम और नित्य ज्ञान हैं। इनसे पूर्व किसी भाषा, देश, जाति और संप्रदाय का अस्तित्व ही हो नही सकता है और न कोई इतिहासज्ञ सिद्ध ही कर सकता है भले ही वह संभावना (Possibility) और संभाव्यता (Probability) शब्दो के प्रयोग से पुस्तकालयो को सज्जित करने के लिए एक पोथी—बना डाले। जैसा कि वैदिक एज ग्रन्थ है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है और इसकी भाषा और ज्ञान[1] परमात्मा की प्रेरणा से सृष्टि के प्रारभ मे मिले और प्रत्येक सृष्टि के प्रारंभ मे मिलते हैं। यदि ईश्वर की प्रेरणाभूत ज्ञान के पूर्व भी कोई जाति, कोई देश, कोई ज्ञान और कोई भाषा पृथिवी पर उपस्थित थी तो प्रेरणा का कोई प्रश्न ही नही उठ सकता है। दुनिया की धर्म पुस्तकों में केवल वेद को छोड़कर ऐसी कोई धर्म पुस्तक नही जिसमे उससे पूर्व किसी धर्म वा समाज का होना न बताया गया हो। विद्वानों की यह धारणा और निश्चित धारणा है कि 'केवल वैदिक धर्म ही ऐसा धर्म है जिसकी उन्नति विना किसी बाहर के प्रभाव के हुई है। इबरानियों अर्थात् यहूदियों के मत मे भी बैबेलियन, फैनेशियन और कुछ पीछे फारस निवासियो के प्रभाव का पता चलता[2] है।"

1. देखें मेरी पुस्तक वैदिक-ज्योति।

2. But that the Vedic religion was the only one, the development of which took place without any extraneous influences and could be watched through a longer series of centuries than any other religion. Now with regard to the first point, we know how perplexing it is in the religion of ancient Rome to distinguish between Italian and Greek ingredients, to say nothing of Entruscan and Phoenician influences. We know the difficulty of finding out in the religion of the Greeks what is purely home-grown and what is taken over from Egypt, Phoenicia, it may be, from Scythia; or at all events, lightly coloured by those foreign rays of thought. Even in the religion of Hebrews

फिर इसी बात पर इसी विद्वान् का कथन है कि "कल्पित विदेशी प्रभावों की खोजों के बहुत ध्यानपूर्वक परीक्षण करने के बाद जो कि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने समक्ष उपस्थित किये थे, मेरा विचार है और मैं कह सकता हूँ कि सत्यतः भारत के प्राचीन वैदिक साहित्य की भाषा, धर्म एवं संस्कारों पर किसी विदेशी प्रभाव का चिह्न नहीं मिलता[1]।"

'एज आफ रीजन' के लेखक अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् टामस पेन ने ईश्वरीय प्रेरणा की एक कसौटी प्रस्तुत की है। यह वह विद्वान् हैं जिन्होंने बाइबिल के ईश्वरीय ज्ञान होने का घोर खण्डन किया है और बाइबिल के अनेक लेखकों के लिए प्रमाणित किया है कि वे जोड़ और बाकी तक नहीं जानते थे। परन्तु जो कसौटी उसने ईश्वरीय ज्ञान के विषय में प्रस्तुत की है वह वेद पर सर्वथा संगत है। "प्रेरणा किसी पर किसी उस वस्तु का प्रकट करना है जो प्रेरणा के पात्र मनुष्य को प्रेरणा से पूर्व ज्ञात नहीं थी।......अतः प्रेरणा उस वस्तु पर नहीं घटित की जा सकती है जिसको मनुष्य ने स्वयं घटित किया हो[2]।" इस प्रकार यह सिद्ध

Babylonian, Phoenician, and at later time Persian influences have been discovered, and the more we advance towards modern times, the more extensive becomes the mixture of thought and the more difficult the task of assigning to each nation the share which it contributed to the common intellectual currency of the world. In India alone, and more particularly in Vedic India we see a plant ertirely grown on native soil and nurtured by native air. For this reason, because the religion of the Veda was so completely guarded from all strange infections, it is full of lessons which the student of religion could learn nowhere else. —'India what can it teach us', by Muller, Page 113 Second Edition Delhi 1961

1. After having thus carefully examined all the traces of supposed foreign influences that have been brought forward by various scholars, I think I may say that there really is no trace whatever of any foreign influence in the language, the religion or the ceremonial of the ancient Vedic literature of India. 'India what can It teach us' by Max Muller, 2nd Edition Delhi 1961, Page 125.

2. Revelation is a communication of something which the person to whom the thing revealed. did not know before. For if I have done a thing, or seen it done, it needs no revelation to tell me, I have done it or seen it now enable me to tell it or write it. Revelation therefore, cannot be applied to anything done upon earth of which man is himself actor or witness.

—Age of Reason, Page 10-11.

है कि वेद से पूर्व न कोई धर्म था और न जाति वा सम्प्रदाय वा मनुष्यों से आबाद प्रदेश था। न कोई उससे पूर्व भाषा ही थी। ऋग्वेद ८।७५।६ में "वाचा विरूप नित्यया" वेद की वाणी को नित्य कहा गया है। ऋग्वेद १०।७१।१,३ मन्त्रों में ईश्वरीय ज्ञान की कुछ पहिचानें बतलाई गई हैं। मन्त्रों मे इस ज्ञान और भाषा को "प्रथमम्" सबसे प्रथम कहा गया है। अर्थात् उसके पूर्व पृथिवी पर कोई ज्ञान आदि नहीं होता है। यह वाद की सभी भाषाओं की पूर्ववर्तिनी है और इससे पूर्व कोई वाणी नहीं होती—वाचो अग्रम् है। इसी आधार पर संज्ञायें सृष्टि मे पदार्थों की रखी जाती हैं—अतः 'नामधेय दधाना' से इसका संकेत किया गया है। यह किसी देश की भाषा नही और इससे पूर्व कोई भाषा होती नही। अतः यह श्रेष्ठ 'श्रेष्ठम्' है। इसमें किसी प्रकार का मिश्रण नही और संकुचित व्याकरण के दायरे में नहीं जकड़ी जा सकती है अत इसे अरिप्र=निर्दोष 'अरिप्रम्' कहा गया है। यह विकास वा क्रमिक सकोच आदि का फल नही है अत प्रेरणा से प्राप्त होती है—इसीलिए 'प्रेणा' कहा गया है। प्रत्येक कल्प में यह इसी रूप में ऋषियों द्वारा प्राप्त होती है—अतः इसे व्यक्त करने के लिए 'निहितं गुहाविः' कहा गया है। और "ऋषिषु-प्रविष्टा" कहा गया है। पुण्यकर्मा ही प्राप्त कर सकते है—अत. यज्ञेन पद लगाया गया है। इससे ही पश्चात् सस्कृत आदि भाषाओं का विस्तार होता है अतः "तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा" आदि पदों का सन्निवेश है[1]। ये ज्ञान और भाषा की प्रेरणा के दार्शनिक सिद्धान्त हैं—इतिहास नहीं। इन्हीं सिद्धान्तों का प्रत्येक सृष्टि में घटना हुआ करता है। मनु, ब्राह्मण ग्रन्थों, वेदान्त आदि में इसी सिद्धान्त को लेकर इस कल्प में वेद का किस प्रकार प्रकाश हुआ—इसका इतिहास वर्णन किया है। तथा यह बतलाया गया है कि अग्नि आदि ऋषियों पर वेद का प्रकाश हुआ। वेद के शब्दो मे सृष्टि के पदार्थों के नाम रखे गये। जब कोई देश, कोई भाषा, कोई ज्ञान वा धर्म की पुस्तक, कोई जाति वेद से पूर्ववर्ती है नहीं तो फिर प्राग्वैदिक काल का क्या तात्पर्य है। अत. इन ऊपर दिये गये हेतुवों से परिणाम यह निकलता है कि मानवता के उद्गम के इतिहास में (History of human emergence on the earth) ज्ञान और भाषा के इतिहास में (Origin of Thought and Speech) तथा धर्म और संस्कृति के उद्गम के इतिहास में (History of origin of el igion & culture) प्राग्वैदिक काल नाम की कोई वस्तु नही है। वेद से पूर्व न कोई मनुष्य जाति, न कोई बसती थी, न कोई ज्ञान, भाषा और संस्कृति ही थी कि उसे वेद से पूर्व प्राग्वैदिक कहा जा सके।

४. **कुछ प्रकीर्ण**–शिलालेख और ताम्रपट्ट आदि को किसी भी देश के इतिहास के विषय में एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। परन्तु भारत का इतिहास इतना प्राचीन है कि उसके विषय में ये साधन उपलब्ध नही हो सकते है। काल ने क्या-

1. देखें लेखक की प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक-ज्योति।

क्या खेल खेले हैं -उसमें ये समाप्त हो गये हैं। उपलब्ध-मान इन साधनों पर केवल भारत के थोड़े समय का ही इतिहास आकूलित किया जा सकता है।

इनके आधार पर आर्यों के करोड़ों, अरबों वर्ष के इतिहास का आकलन और निर्णय नहीं किया जा सकता है और न इस प्रकार की सामग्री दीर्घकाल के इतिहास के निर्णय का साधन ही बन सकती है। इस आधार पर निर्धारित काल आदि यदि आर्यों के इतिहास की अति प्राचीन सीमा समझें जावेंगे तो वह इतिहास नहीं बल्कि एक भ्रान्त धारणा का संकलित वृत्त होगा।

मुद्रायें--मुद्रायें बहुत ही उत्तम सामग्री इतिहास के विषय में पायी जाती है परन्तु पृथिवी पर आर्य-मानव के उदय के इतिवृत्त के निर्धारण और निर्णय में यह भी समर्थ नहीं। आज संग्रहालयों में जितनी भी मुद्रायें संगृहीत हैं--वे मानव के अति प्राचीन इतिहास के काल में नगण्य काल सीमा की ही द्योति का हैं।

भग्नावशेष--दुर्गों, प्रासादों आदि के भग्नावशेष भी अति प्राचीन आर्य इतिहास के काल बताने में असमर्थ है। ये भी थोड़े काल के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

वनस्पति, शाक और पशु आदि--आर्यावर्त्त देश की भौगोलिक स्थिति सदा ही संसार में सर्वोत्तम रही है। इसके वायुमान आदि सदा अच्छे रहे है। भांति-भांति के फूल, औषध, शाक, मूल और वनस्पति आदिकों से यह देश समृद्ध रहा है। अन्नों के विविध प्रकार इस देश की भूमि में उत्पन्न होते रहे और होते हैं। वेद में वर्णित विज्ञान के रूप में वर्णित जितने अन्नों को इस देश ने अपनी कृषि में उत्पन्न करके संसार को दिया उनमें अधिक अन्नो का ईजाद आज तक संसार नही कर सका। यहाँ पर खेती कृष्टपच्या और अकृष्टपच्या दोनों प्रकार की थी। देवमातृका और अदेवमातृका भी रही। शास्त्रों और कवियों ने इसका वर्णन किया है। पशुवों के विषय में भी यह भूमि सदा समृद्ध रही है। इसका वर्णन एक पृथक् विषय है। भारत की प्राकृतिक दशा के वर्णन में इसका महान् उपयोग है परन्तु इसके आधार पर आर्येतिहास का निर्णय नहीं हो सकता है। प्राकृतिक अवस्था समय-समय पर परिवर्तित होती रहती है। उसकी उपज में भी परिवर्तन होता रहता है। देश की विस्तृत भूमि पर कौन सी वस्तुवें कहाँ पर और किस समय होती हैं और उत्पन्न होती हैं--इनका परिज्ञान करना भी मानव के लिए संभव नही। अतः इनके आधार पर इतिहास का निर्धारण संभव नही। यदि कुछ किया भी जावेगा तो यह आनुमानिक एवं संभव और संभाव्य कोटि में ही होगा जो कि सिद्धान्त होने के स्थान में भ्रान्त धारणामात्र ठहरेगा।

यहां पर एक दृष्टान्त दिया जाता है जिससे विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सके गा। आर्यों के साथ सोम का सम्बन्ध माना जाता है। कई इतिहास-विदों ने इस

आधार पर आर्यों के निवास-स्थान की कल्पना भी की है। मैं यहां पर उनकी कल्पनाओं पर नहीं जाना चाहता परन्तु इतना तो है ही कि सोम जहां अन्य अर्थों में प्रयुक्त होता है वहा यह एक औषधि भी है। सुश्रुतकार ने चिकित्सा स्थान के २९वें अध्याय मे सोम का वर्णन किया है। सोम शब्द के अर्थों की विभिन्नता और इसके औषधीय गुणो के कारण सुश्रुत मे बहुत अतिशयोक्ति-पूर्ण भी वर्णन इसका किया गया है। परन्तु यह पर्वतीय प्रदेशो मे उत्पन्न होता है—यह सन्देह की बात नही। भारत के हिमालय पर यह उत्पन्न होता था ऐसा लोग मानते हैं। मूंजवान् का अर्थ पर्वत है। यह कोई नाम नही। सभी पर्वत मूजवान् हैं। सारी दुनियां के पर्वतों के समस्त प्रदेशों का मानव को पता नही। भारत मे यह उत्पन्न होता था यह सुश्रुत के समय तक तो लोगों को परिज्ञान था ही। अब पता लगाने पर यदि अमेरिका के किसी पर्वत पर भी ऐसी लता पाई जाने जो सोम हो तो क्या उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्य लोग पहले वहां पर ही उत्पन्न हुये थे। कहना पड़ेगा कि ये वस्तुयें कल्पना मात्र हैं—इनसे इतिहास का पता नही लगाया जा सकता है।

दूसरा उदाहरण आलू और तम्बाकू और गोभी का है। भारत में इनकी उत्पत्ति होती थी या नही—सारी पृथिवी की बिना खोज किये कुछ भी कहना सम्भव नही। परन्तु तोजक जहांगीर में सम्राट जहांगीर का कथन है कि मेरे पिता के समय में एक पादरी अमरीका से आलू, तम्बाकू और गोभी लाया था। आज ये तीनों ही भारत की भूमि मे बहुतायत से पाई जाती है। आज की भौगोलिक स्थिति और फूल तथा शाकों का वर्णन करने वाला इनका भी वर्णन भारतीय शाक आदिकों में करेगा। पहले ये यहां होते थे या नहीं इसका पूरा पता कोई बता नहीं सकता है। क्योंकि भारत की इंच-इंच भूमि और हिमालय आदि के प्रत्येक भाग को देखकर किसने इसका निर्णय किया है कि वह कह सके। ऐसी स्थिति में यदि इन को लेकर कोई इतिहास का निर्णय करें तो कोई समुचित परिणाम नहीं निकाला जा सकता है।

वस्तुतः आर्य-जाति का इतिहास मानव के पृथिवी पर उदय होने से प्रारम्भ होता है। उसी के साथ ज्ञान, भाषा और धर्म की प्रेरणा और मूल का भी विचार सम्बद्ध है। इसको इन उपर्युक्त साधन स्रोतों के आधार पर किसी भी प्रकार निर्णीत नहीं किया जा सकता है।

१. पुरातत्व—इतिहास के विषय की प्रभूत सामग्री पुरातत्व की खोजों से एकत्र की जा रही है। संसार मे लगभग विभिन्न देशों में खोदाई करके प्रचुर मात्रा मे पुरानी वस्तुयें सिक्के आदि प्राप्त किये गये है। मेसोपोटामिया मे पुरातत्व के

विद्वानों ने ३४०० वर्ष पुरानी ईंटें प्राप्त की हैं। इन ईंटों पर इन वहाँ के लोगों के सुलहनामे लिखे हुए हैं[1]। इसी प्रकार असुर बानापाल लेयार्ड (Layard) और रौलिन्सन (Rowlinson) दो अन्वेषकों ने नैनवा और बैबलन (असीरिया) के पुराने खण्डहरों को खोदवाया और ईंटों पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले[2]। विश्व के पुरातत्व-संग्रहालयों को यदि देखा जावे तो एक घड़े के टुकड़े से लेकर मुद्रा आदि तक अनेक वस्तुवें संगृहीत मिलेंगी। ये किसी भी राष्ट्र के लिए अमूल्य निधि हैं। परन्तु यह खेद के साथ कहना पड़ेगा कि मानव के अति प्राचीन इतिहास की कड़ी को ये निश्चित नहीं करा सकती हैं। इन के द्वारा अति प्राचीन इतिहास नहीं निधारित किया जा सकता है। यदि करने का प्रयत्न किया गया तो परिणाम जो निकलेगा वह सर्वथा ही भ्रान्त और कल्पित होगा। इस सामग्री से कुछ सहस्र वर्षों का ही इतिहास अनुमानित किया जा सकता है। आर्यों के अति लम्बे इतिहास को यह सामग्री नहीं निर्धारित कर सकती है। पांच सहस्र वर्षो का तो इसके पतन का इतिहास है। यह भी इस पुरातत्त्व के संग्रहों से सम्यक्तया निश्चित नहीं किया जा सकता, अरबों वर्षों के इतिहास की तो कथा ही क्या ? वेद के धर्म और उसकी सभ्यता आदि के विषय में इस पुरातत्त्व की सामग्री के आधार पर कोई निर्णय लेना तो नितान्त भूल है। पाश्चात्यों द्वारा कल्पित प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य के विषय में भी पुरातत्त्व निश्चित सूचना नहीं देता है। जो कुछ थोड़ी सूचना देता है वह भी आनुमानिकी है – निर्णीत नहीं। कार्स्टीन महोदय ने लिखा है कि पुरातत्त्व-विज्ञान[3] प्रागैतिहासिक मानव की धार्मिक स्थिति के विषय में जो कुछ सूचना देता है वह बहुत ही स्वल्प एवं न्यून है। हमारे कबरों से प्राप्त वस्तुवें ही बहुधा हमारी सूचना के स्रोत हैं। इनमे प्राप्त साधन, शस्त्र आदि यह बताते हैं कि आदिम मानव

1. देखें वैदिक सम्पत्ति पृ० २१६ तथा हुम्स वर्ष हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड।
2. देखें महात्मा नारायण स्वामी कृत वेद रहस्य पृष्ठ १५, सम्वत् २००१ वि०

जो मुर्दों को गाड़ते थे आत्मा में विश्वास करते थे जो मृत्यु के बाद भी रहती है। इसी आधार पर अनुमान किया जाता है कि योरुप में पशु समकालीन मानव का कोई धर्म था। यह बात कार्स्टेन महाशय ने योरुप के प्रागैतिहासिक मानव के विश्वास के विषय में कही जहां पर मुर्दों को गाड़ने की प्रथा है और जो लगभग पांच-छः हजार वर्ष से अधिक पुरानी सृष्टि-रचना नही मानता था। बी० सी० और ए० डी० कल्पना से यह सर्वथा सिद्ध है। परन्तु भारत मे आर्यों मे न मुर्दे के गाड़ने की प्रथा थी और न है। वे सदा से मुर्दे जलाते आये है। उनका सृष्टिकाल भी लगभग दो अरब वर्षों का पुराना है फिर उनके इतिहास को और धर्म को यह पुरातत्त्व-संग्रह क्या बता सकेगा।

पुरापाषाणयुग, मध्यवर्त्ति-पाषाणयुग, नवपाषाणयुग, ताम्रयुग, कांस्ययुग तथा लोहयुग—इतिहास की अनेक विविध कल्पनावों मे इन युगों की कल्पना को भी मुख्य स्थान दिया जाता है। भूगर्भ-शास्त्र को इतिहास के निर्धारण में घसीटने का यह एक विचित्र प्रयास है। भूगर्भशास्त्र स्वयं भी एक आनुमानिकी विद्या है। इतिहास मे इसका प्रयोग करना और मानव इतिहास की कड़ियों का इसके आधार पर आकलन करना निश्चय के गर्भ से सदा शून्य रहेगा। यही प्रधान कारण है कि इन आधारों पर जो भी इतिहास लिखा गया है वह अटकल-पच्चू परिणाम का द्योतक रहा है। यहां पर थोड़ा सा विचार इन युगों की कल्पना पर किया जाता है। भूगर्भ-विद्या के अनुसार इतिहासविदों का कहना है कि भूस्तरों को खोजने पर निचले स्तर मे पाषाण और सींग आदि के अस्त्र और गढ़ी वस्तुवे पाई जाती है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय धातुवों का परिज्ञान मानव को नहीं था। इनमें सींग, काष्ठ और हड्डियों के सामानों का भी परिगणन है। परन्तु पृथ्वी के ऊपर के स्तरों की ओर बढ़ने पर पता चलता है कि उनमें धातु-निर्मित स्तर पाये जाते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि मानव पाषाण युग की अपेक्षा धातुवों के युग में अधिक उन्नत था। इन पाषाण की बनी वस्तुवों में भी परिष्कार और सुघरी हुई रचना तथा अनघड़ और अपरिष्कृत रचना के आधार पर मानव की उन्नति मे भेद पाया जाता है। पहले सादी और अनगढ़ वस्तुयें बनी बाद में चिकनी, नुकीली, परिष्कृत आदि रूपों वाली वस्तुयें बनाई जाने लगी। अपरिष्कृत से परिष्कृत अवस्था में पहुँचने में भी कम से कम तीन क्रम हुये होंगे। प्रथम क्रम को पुरापाषाणयुग (Paleolithic Age) द्वितीय को मध्ययुग (Mesolithic Age) और अन्तिम परिष्कृत को नव-पाषाण युग कहना चाहिए। इसके अनन्तर भूस्तरों का ज्यों ज्यों परीक्षण हुआ और खोदाइयों से धातुवों की वस्तुवें मिली पता चला कि ताम्रयुग और कांस्ययुग मानव के ज्ञानविकास के साथ पाषाण युग के बाद प्रवृत्त हुए। इस युग में तांबे और कांस्य की वस्तुवें पाई जाती है जो प्रकट करती हैं कि मानव ने इस युग में धातुवों का परि-

ज्ञान कर लिया था। लोहे की वस्तुओं के मिलने से यह ज्ञात होता है कि बाद में लोहयुग आया होगा। चूंकि भूस्तरों का परीक्षण खोदाइयों में नीचे की तह से ऊपर की तह की ओर स्वभावतः होता है अतः यह अनुमान ठीक है कि पाषाणयुग के बाद अन्त में लोहयुग आया होगा।

इस विषय पर इतिहास-विद बड़ा ही मनोज्ञ वर्णन करते हैं। परन्तु वर्णन जितना ही मनोज्ञ है तथ्य उतना ही दूर है। श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक "आर्यों का उत्तरध्रुव निवास" में इसका अच्छा वर्णन किया है। 'वैदिक एज' के लेखक ने भी इन युगों का विशेष सहारा लिया है। लोकमान्य जी कहते हैं 'योरुप में अनेक जगह, प्राचीन छावनियों, किलों की दीवारों, स्मशानों, देवालयों और जल-निवास स्थानों के खोदने से पत्थर और धातु के सहस्रों औजार मिले हैं। इनमें कितने ही स्वच्छ किए हुए और घोंटे हुए तथा कितने ही अस्वच्छ और भद्दे हैं। पुराणवस्तु-शास्त्रज्ञों ने इनके तीन विभाग किए हैं। पहले विभाग में पाषाण-शस्त्र जिनमें सींग, काष्ठ तथा हड्डियों का भी समावेश है। दूसरे विभाग में कांस्य के शस्त्र हैं और तीसरे विभाग में लोहे के शस्त्र माने गए हैं। ...... परन्तु ऐसा न समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त तीनों स्थितियाँ एक दूसरी से भिन्न हैं। यह बिल्कुल असत्य है कि पाषाण-युग की समाप्ति हो जाने पर कास्य युग का आरंभ हुआ। ये तीनों विभाग तो केवल बनावटी है।...तांबा और रांगा से कांसा बनता है—इसलिए ताम्रयुग भी मानना पड़ता है। परन्तु ऐसा प्रमाण अब तक नहीं मिला कि ताम्रयुग और कास्ययुग भिन्न-भिन्न थे। इसका कारण यह है कि योरप में कांसा बनाने की मूल युक्ति इतर आर्यों से गई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी युग भिन्न-भिन्न देशों में भी एक ही समय विद्यमान न था। उदाहरण के रूप में योरप के लोग जिस समय पाषाण-युग की प्राथमिक भूमिका में थे, उसी समय अर्थात् ईस्वी सन् से ६००० वर्ष पूर्व मिश्रदेशवासी उच्चतम सभ्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी प्रकार जिस समय ग्रीक लोग लोह पर्यन्त गए थे उस समय इटालियन लोग कांस्य-युग का ही भोग कर रहे थे। और योरप के पश्चिमी भाग के लोग तो उस समय पाषाणयुग में ही पड़े हुए थे। ...... ऊपर कहे हुए पाषाणयुग, कांस्ययुग और लोहयुग जिस प्रकार एक दूसरे से पृथक् नहीं है उसी प्रकार भूस्तरयुग भी एक दूसरे से भिन्न नहीं है। जिस युग को नव-पाषाण युग कहा गया है उसका आरंभ कब हुआ, यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न विद्वानों का मतभेद है तथापि कोई भी विद्वान् उस काल को ५००० वर्ष से पुराना नहीं कहता। परन्तु उस समय एजिप्ट और चाल्डिया देश तो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हुए थे।"

इन युगों की कल्पना में सबसे प्रधान बात यह स्वीकार करली गई है कि

मानव का ज्ञान विकास की अवस्था को प्राप्त होता गया है। ज्ञानविकास का नियम सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है - यह पूर्व दिखाया जा चुका है। जब ज्ञानविकास का सिद्धांत ही ठीक नहीं है तो फिर उसके आधार पर यह युग कल्पना किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है।

दूसरी बात इस विषय में यह है कि पाषाण से लेकर लोहे तक सभी धातुयें पृथिवी की ही विकार हैं। पृथिवी में पत्थर का ज्ञान करना पुन. इस पत्थर में भी लोहा है यह जानना—एक उन्नत अवस्था ही है। पत्थर का ज्ञान रखते समय उसमें रहने वाले लोहे का भी परिज्ञान रहा ही होगा। फिर दोनों एक समय में ज्ञात रहने से यह युगों का क्रम किस प्रकार बन सकता है। तांबे का निर्माण कांसे और रांगे से होता है—यह भी बतलाता है कि तांबे के समय में ही कांसे और रांगे का भी ज्ञान है। ऐसे लोगों को जिनको पत्थर, तांबा और लोहा आदि सभी का ज्ञान है-- जंगली पशुतुल्य मानव तो कहा नहीं जा सकता है। फिर इन युग-कल्पनाओं से मानव के इतिहास की कड़ी किस प्रकार ढूँढी जा सकती है।

जिन स्थानों में धातुनिर्मित शस्त्र मिलते हैं उन्हीं स्थानों में पाषाण-निर्मित भी मिलते हैं। जहां भी खोदाई हुई दोनो प्रकार के शस्त्र साथ ही मिलते हैं। फिर इनसे युगों का पूर्वापर क्रम किस प्रकार बांधा जा सकता है। पृथिवी पर भूस्तर भी सर्वत्र समान नहीं है। एक जगह उसी स्तर पर रेत है और दूसरी जगह पत्थर है। अन्य स्थान पर मीठा पानी और उससे भी अन्यत्र उसी पर खारा पानी फिर इन भूस्तरों का भी तो निर्णय नहीं किया जा सकता है।

एक ही धरातल पर एक देश में पाषाण के शस्त्र और दूसरे देश में लोहे के शस्त्र पाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में इसको इतिहास के निर्धारण का साधन कैसे बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह कोई मूल सिद्धान्त नहीं कि पत्थर का उपयोग मानव ने अपने ज्ञान की आरम्भिक दशा में ही किया। ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं है कि पाषाणयुग के समय में धातुवों का प्रयोग मानव ने नहीं किया। आज के लोग जो उन्नत दशा में माने जाते हैं वे भी पत्थर के कुण्डी और पथरी आदि का प्रयोग करते हैं। काष्ठ की कटवत का भी प्रयोग आज होता है। पानी के लिए मिट्टी के घड़े आज भी प्रयोग में लाए जाते हैं। जब उन्नत मानव भी इन पत्थर की वस्तुवों का प्रयोग करता है तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि ये प्राथमिक अवस्था की जंगली लोगों की चीजें हैं। आज यद्यपि ईख पेरने के लिए लोहे का कोल्हू है फिर भी देहातों में बहुत समय तक पत्थर के कोल्हू चलते थे। मिलें तेल पेरती हैं फिर भी अभी तेली काष्ठ के कोल्हू से ही घानी निकालता है। पत्थर और मिट्टी की वस्तुयें अब भी बनाई जाती हैं। यदि भूमि में वे गड़ जावें और १०० वर्ष बाद खोदकर निकाली जावें तो क्या पुरातत्वविदों का यह कथन कि पाषाणयुग पूर्व था धातुयुग पश्चात्

था, उस समय भी सिद्ध हो सकेगा। खोदाइयों में जहाँ अस्थि, पत्थर, मिट्टी की वस्तुयें प्राप्त हुई हैं वहाँ धातुवों और स्वर्ण के आभूषण भी पाये जाते है। फिर यह क्रमिक युगकल्पना क्या महत्व रखती है। आटा पहले चक्की में पीसा जाता था आज फ्लोर मिल हैं। परन्तु पीसने की चक्की में अब भी मिल में भी पत्थर का ही प्रयोग होता है। मिट्टी और धातुवों में बिगड़ जाने वाली वस्तुवों को अब भी लोग पत्थर में ही प्रयोग करते हैं। परन्तु इसके आधार पर सब आदिम युग के नहीं कहे जा सकते हैं। सालिग्राम और शिव की मूर्तियाँ अब भी पत्थर की चिकनी से चिकनी बनती है। नदियों के बहाव में पड़े पत्थर भी चिकने और गोल बन जाते हैं। यदि किसी स्थान पर ऐसे पत्थर मिल जावें तो यह नही अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय लोगों ने इनको गढ़ा होगा।

पुरापापाणयुग का प्रारम्भ कब हुआ और समाप्ति कब हुई और पुनः कब नवपापाण युग चला और उसकी समाप्ति होकर धातुवों का युग कब प्रारम्भ हुआ इसके समय के विपय में बडा ही मत-भेद है। इसका प्रधान कारण यही है कि ये सब बातें कल्पना और अटकल पर आधारित हैं। परन्तु पूर्व दिखलाये गए वर्णन में लोकमान्य तिलक ने यह स्पष्ट किया है कि कोई भी विद्वान् नव-पापाण-युग के काल को पाँच सहस्र वर्ष से पुराना नही कहता है। यदि इस काल को योरप का नवपापाण-युग काल माना जावे तो फिर मिश्र में तो उस अवस्था में उन्नत संस्कृति रही होगी। भारत में वैसी ही अथवा उससे भी उन्नत अवस्था रही होगी।

यदि इस ५००० वर्ष को ही समस्त विश्व जिसमें भारत भी है, के नवपापाण-युग का समय स्वीकार कर लिया जावे तो जो परिणाम परीक्षण से निकलेगा वह वैदिक एज और इस कल्पना पर चलने वाले इतिहासज्ञों के सर्वथा ही विरुद्ध जावेगा। हम यहाँ पर अपना मन्तव्य न कहकर वेद के काल के विषय में अन्यों का विचार प्रस्तुत कर इस विषय में कुछ कहना उचित समझते हैं। इससे इन युगो के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड सकेगा।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वेदों का रचना काल ३५००--४००० वर्षों के भीतर था। इसका कारण यह है कि बाइबिल के अनुसार मानव-जाति का इतिहास कुल ८००० वर्षों का है। इसी के भीतर सब कुछ घटाना था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुसार ६००० से १०००० वर्षों के भीतर है। भूगर्भशास्त्र-विदों का कहना है कि यह समय २५००० से ५०००० वर्षो के मध्य का है। श्री डा. सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेद का रचना काल १८००० से लेकर २५-३० सहस्र वर्ष

पुराना[1] है। इसके अतिरिक्त वैदिक एज के लेखक ने ऋग्वेद की रचना को १००० बी. सी. मानकर उनकी प्राचीनता २६०० वर्षों से कुछ ऊपर की स्वीकार की है। यह मत पाश्चात्यों के माने मत से थोड़ा ही भिन्न है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मानव-जाति का इतिहास इस मत से भी ६००० से ८००० वर्षों का ही ठहरेगा। यदि वैदिक एज और पाश्चात्यों के काल-मान को स्वीकार कर लिया जावे तो फिर यह मानना पड़ेगा कि नव-पाषाण-युग ईसा के जन्म से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ होगा। भारत के इतिहास में यह काल महाभारत का काल है। यह काल इतना पुराना किस प्रकार है?—यह ज्योतिष आदि के प्रमाणों से पूर्व सिद्ध किया जा चुका है। ये युगों की कल्पना करने वाले यह नहीं बतलाते कि कितने दिनों तक ऐसे युगों की विद्यमानता रही। बतला भी नहीं सकते क्योंकि यह कोरी कल्पना मात्र है। यदि यहां पर यह मान लिया जावे कि प्रत्येक युग विकास के जिस लम्बे क्रम से चल रहा है, तीन-चार सहस्र वर्ष का भी रहा हो तो ये ३१०० वर्ष बहुत ही थोड़े पड़ेंगे। कारण यह है कि इस नवपाषाणयुग के व्यतीत होने पर अकस्मात् ही तो लोग कूदकर कांस्य और ताम्रयुग में पहुँच नहीं गए होंगे। मध्य का भी तो कुछ समय ताम्र तक पहुँचने में ज्ञान के विकास में लगा होगा। पुनः उस युग के समाप्त होने पर इसी प्रकार ताम्रयुग और पुनः इसी क्रम से लोहयुग आया होगा। इस प्रकार नवपाषाण-युग से लोहयुग तक पहुँचने में ही बारह, पन्द्रह सहस्र वर्ष लग गये होंगे। फिर पांच सहस्र वर्ष की क्या स्थिति बनती है। क्या ये सारे युग एक-एक सहस्र ही वर्ष में समाप्त हो गये? क्या सृष्टि की रचना के सब पांच-छः ही सहस्र वर्ष हुए हैं। साथ ही इस आधार पर जब कि नवपाषाणयुग का प्रारंभ ३१०० वर्ष पूर्व हुआ तो अब तक लोहयुग आया ही नहीं मानना पड़ेगा। दूसरी एक कठिनाई यह है कि बारह-पन्द्रह सहस्र वर्ष का यह समय वैदिक एज के कर्त्ता के माने वेदकाल के साथ समन्वय नहीं खावेगा। इस दृष्टि से तो नवपाषाणयुग ईस्वी सन् से ग्यारह-बारह सौ वर्ष पूर्व होना चाहिये तब जाकर वेदकाल पर्यन्त लोहयुग का समय आ सकता है। ऋग्वेद में तथा यजुर्वेद आदि में लोहे का वर्णन मिलता है। हम तो ऐसा मानते नहीं परन्तु वैदिक एज के कर्त्ता ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व ही वेद का काल मानते हैं। परन्तु हिसाब लगाने से जो नवपाषाणयुग का समय बनता है उसके अनुसार या तो अभी तक लोहयुग आया ही नहीं—यह मानना पड़ेगा या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नवपाषाणयुग पांच सहस्र वर्ष पूर्व न होकर २०-२५ सहस्र वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ होगा। किसी भी अवस्था में ऋग्वेद के उसके माने काल की संगति बैठती नहीं।

1. यह सब मत डा. सम्पूर्णानन्द द्वारा 'वैदिक साहित्य' पुस्तक की भूमिका में दिए गए हैं। इस पुस्तक के लेखक रामगोविन्द त्रिवेदी हैं। अन्य पुस्तकों में भी ये ही परिणाम निकाले गए हैं।

ऋग्वेद में केवल अयस् लोहे का ही नहीं वर्णन है लोह और स्वर्णनिर्मित वस्तुओं का भी वर्णन है। ऋग्वेद १।८०।१२ में आयस अयोनिर्मित वज्र (आयसः वज्रः) का वर्णन है। ऋग्वेद १।५८।८ में आयसी पुरियों का वर्णन है। ऋग्वेद २।२०।८ में भी आयसी पुरियों का वर्णन है। और तो और ऋग्वेद १।११६।१२ आयसी-लोहनिर्मित जङ्घा और १।११६।१३ में स्वर्णनिर्मित हस्त का वर्णन भी मिलता है। जब पाषाण से लोह तक आने में इतना समय बीत गया तो फिर स्वर्ण का ज्ञान तो बहुत देर बाद हुआ होगा। तो क्या वेद में हजारों वर्ष बाद में आने वाले युग का पूर्व ही वर्णन कर दिया गया।

इसी प्रकार ऋग्वेद ४।३०।२० में अश्ममयी नगरी का भी वर्णन है। यजुर्वेद १८।१३ में एकत्र ही अश्मा, मृत्तिका, गिरि, पर्वत, सिकता, वनस्पति, हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीसा, त्रपु आदि का वर्णन है। इस वर्णन से किसी धातु की पूर्वापरता अथवा युग का वर्णन बनता नहीं। जब नवपाषाणयुग ३१०० वर्ष पूर्व ईस्वी है और ऋग्वेद की रचना एक सहस्र ईस्वी पूर्व है तो अयस-लोह का वा धातुओं का वर्णन ऋग्वेद में आना नहीं चाहिए। क्योंकि ज्ञान विकास में पाषाण से अयस् तक आने में तीन सहस्र नहीं कई सहस्र अधिक वर्ष चाहिएँ।

इसके अतिरिक्त यह युग-कल्पना मानव के पृथिवी पर अवतरित होने के समय से भी नहीं मेल खाती है। प्रागुत्तराश्मकाल की एक खोपड़ी (Neanderthal Skull) की प्राप्ति स्वीकार की जाती है। यह खोपड़ी जिस सिर की है वह योरुप में सबसे बड़ा समझा जाता है। यह खोपड़ी ११४ क्यूबिक इंच है। योरुप में छोटे से छोटा सिर ५० क्यूबिक इंच और बड़े से बड़ा ७५ क्यूबिक इंच पाया गया है। यह सिर बता रहा है कि वर्तमान समय में योरुप वासियों की मानसिक शक्ति बढ़ नहीं रही है। 'Englis Skull' के विषय में प्रसिद्ध विकासवादी प्रोफेसर हक्सले का कहना है कि आधुनिक योरुपियनों की खोपड़ी से यह खोपड़ी बड़ी है। सन् १८८३ में एक सिर हालैण्ड में निकला है जो योरुपनिवासियों के सिरों के औसत घेरे से बड़ा है। इसका घेरा १५० क्यूबिक इंच है। इसी प्रकार पुरातत्त्वज्ञों और भूगर्भ-शास्त्रियों ने Haling Section को २५००० वर्ष पुराना स्वीकार किया है। इसका घेरा भी १५० क्यूबिक[1] इंच है।

अगस्त सन् १९२३ के थियोसोफिकल पाथ में हैनमन् ने लिखा है कि नेवदा (Nevada) में जॉन टी. रीड को एक आदमी का पदचिह्न और एक अच्छी प्रकार बना हुआ जूते का तला मिला है जिसे वह पाषण-विषयक भू-गर्भशास्त्र के नियम से ५० लाख वर्ष प्राचीन बतलाते हैं।

अब इन युग-कल्पना वालों से पूछना चाहिए कि जब मानव २५ हजार वा ५० लाख

1. वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ २१४।

वर्ष पूर्व पृथिवी पर अवतरित हो चुका था तो आज से पाँच सहस्र वर्षपूर्व अर्थात् इनके कल्पित नवपाषाणयुग तक पूर्वपाषाणयुग अथवा निकम्मी अवस्था में ही पड़ा रहा। कोई भी उन्नति उसने की नहीं, केवल ईसा से १ सहस्र वर्ष पूर्व ही लोहयुग में आया और वेद भी रच डाले ?। साथ ही जब जूते की सिलाई जो कि एक कला है उसे ५० लाख वर्ष पूर्व परिज्ञात थी तो फिर प्रश्न उठता है कि यह सूई जिससे सिलाई की गई पत्थर की थी वा लकड़ी की, अथवा मिट्टी वा हड्डी की थी। ये युग की कल्पना करने वाले ही बतलावें। इससे यह ज्ञात है; नहीं, नहीं, सर्वथा सिद्ध है कि यह युग की कल्पना सर्वथा ही निराधार है।

यहाँ पर एक बात और भी लिखना आवश्यक है। वह यह कि जब पाषाण-युग से लोहयुग तक आने में इतना समय मानव को लगा तो फिर कपड़ा बुनने, सीने, कपास का ज्ञान करने आदि में कितना समय लगा होगा। वस्त्र तो आजकल की देन होगी। फिर वेद जो इतनी प्राचीन पुस्तक है उसमें इसका वर्णन किस प्रकार आ गया। क्या आजकल की बात को पहले ही लिख दिया गया। ऋग्वेद। १०।१०१।८ मंत्र में लिखा है कि वर्म=वस्त्र को सीकर बनावो और मकान=पुरी लोह की बनावो[1]। यहाँ वस्त्र सीना और लोह का प्रयोग दोनों ही वर्णित हैं। इससे क्या यह समझा जावे कि बहुत काल बाद जब लोगों को कपड़ा बनाने और सीने का ज्ञान हुआ तब ये वेद मंत्र बनाये गये—वा जब मिश्र में रुई पैदा की जाने लगी तब वहीं पर ये मंत्र भी बन गये ? कहना पड़ेगा कि जिस प्रकार यह युग-कल्पना गलत है उसी प्रकार वेद में इतिहास-निर्धारण सामग्री का वर्णन करना भी गलत है।

लोहयुग कब आया इसका वर्णन ठीक तौर पर कोई भी नहीं कर सका रहा है। ऋग्वेद में लोह का वर्णन आया है और वह ईसा के जन्म से १००० वर्ष पूर्व का है—आदि कल्पनायें एक दम अटकल-पच्चू गप्प हैं। सुश्रुत ग्रन्थ आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत का है। सुश्रुत का समय महाभारत से लगभग २७०० वर्ष पूर्व का है। सुश्रुत विश्वामित्र ऋषि का पुत्र था। आत्रेय पुनर्वसु और धन्वन्तरि द्वितीय लगभग समानकालिक हैं। आत्रेय पुनर्वसु भिक्षु आग्नेय नहीं है। यह प्राचीन आचार्य है। इसका समय महाभारत से लगभग २७०० वर्ष पूर्व है। यह त्रेता के अन्त में हुये थे। आयुर्वेद के ग्रन्थों से यही पता इनके इतिहास के विषय में चलता है। धन्वन्तरि का पुनर्वसु आत्रेय ने चरक में शारीरिक स्थान में ६।२१ पर गर्भ के विषय में किया है[2]।

---

1. वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि'''पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा. ऋ० १०।१०१।८

2. सर्वांगाभिनिर्वृत्तियुगपदिति धन्वन्तरिः। चरक शारीरिक स्थान ६।२१

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम्। चरक चिकित्सा० ५।६३

महाभारत से २५०० वर्ष पूर्व का तात्पर्य है कि आज से लगभग ८ सहस्र वर्ष पूर्व। सुश्रुत ग्रन्थ के सूत्रस्थान में शल्य चिकित्सा के साधनभूत अवजारों का वर्णन है। ये अवजार बहुत ही परिष्कृत हैं। क्योंकि इनसे शल्य क्रिया (Surgery) की जाया करती थी। ये कितने तीक्ष्ण अवजार थे इसका वर्णन करते हुये अपनी पुस्तक (Ancient and Mediaeval India) मेनिंग लिखती है कि 'ये शल्य चिकित्सा के यंत्र इतने तीक्ष्ण थे कि बाल को भी खड़े खड़ फाड़ सकते[1] थे।" शल्यचिकित्सा के विषय मे वेबर ने कहा है—"भारतीय शल्य चिकित्सा में विशेष दक्षता को प्राप्त थे। इस विषय में योरूपियन सर्जन अब भी उनसे कुछ सीख सकते है जैसा कि वस्तुतः इन्होंने पूर्व ही कृत्रिम नाक और कृत्रिम कान बनाने की शल्य क्रिया का उधार लिया है[2]। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एल्फिन्स्टन भी कहते हैं कि हिन्दुवों की शल्य चिकित्सा भी औषध चिकित्सा की ही तरह प्रशस्त थी[3]।" सर विलियम हण्टर ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं[4]—'प्राचीन भारतीय डाक्टरों की शल्य चिकित्सा प्रबल और दक्षतापूर्ण थी। उदर, गर्भ, आन्त्र, भगन्दर, अर्श आदि की चिकित्सा ये लोग शल्य-क्रिया से करते थे। डाक्टर सील का कथन है कि भारतीय हिन्दु पोस्ट-मार्टम और गर्भ की शल्य क्रिया आदि सभी करते थे[5]।" इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि

1. 'The Surgical instruments of the Hindus were sufficiently sharp, indeed, as to be capable of dividing a hair longitudinally. —'Ancient & Mediaval India'

2. The Indians seem to have attained a special proficiency, and in this department, European surgeons might, perhaps, even at the present day still learn something from them as indeed they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty (making artificial noses and ears) - Weber's History of sanskrit Literature. quoted here from Real Hiduism by G C. Narang. Page 26

3. Their. surgery is as remarkable as their medicine —History of India by Elphinstone

4. The surgery of the ancient Indian physicians was bold and skilful. They conducted amputations, in the abdomen and uterus, cured hernia fistula piles, set broken bones and dislocations. A special branch of surgery was devoted to rhinoplasty............which European surgeons have now borrowed. —'History of India' by Sir William Hunter.

5. The Hindus practised dissection of dead bodies, post-mortem operations as well as major operations in obstetric surgery were availed of for embryological observations. —'Real Hinduism' by Dr. G. C Narang. Page 26.

सुश्रुत में जिन शल्य यंत्रों का वर्णन है वे परिमार्जित थे। अब ऐसी स्थिति में जब ईसा के जन्म से लगभग छः सहस्र वर्ष पूर्व लोहे का प्रयोग ही नहीं शल्य क्रिया के परिमार्जित यंत्रों का प्रयोग आर्यों को ज्ञात था तो फिर आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व भी नवपाषाणकाल का प्रारंभ हुआ यह कल्पना सर्वथा ही निकम्मी है। सुश्रुत से पूर्व भी ग्रन्थ थे। यह तो वेद का उपाग है। इसमे वेद का स्वयं वर्णन मिलता है। वेद उमसे भी प्राचीन काल से उपस्थित है। फिर वेद का काल ईसा से १००० वर्ष पूर्व का मानना भी गलत है। वेद के उपवेद आयुर्वेद का सुश्रुत शास्त्र ही छ सहस्र वर्ष पूर्व उपस्थित था तब वेद बाद मे १००० वर्ष ईसा से पूर्व बने होगे कितनी थोथी कल्पना और असत्य कल्पना है। भला वेद का उपवेद पहले बन गया और वेद बाद को बने होगे – इस बात को कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। इस प्रकार यह सुतराम् सिद्ध है कि यह युगो की कल्पना अतथ्यभूत कल्पना है। इसमे कोई तथ्य नहीं।

इस प्रकरण मे यह दिखलाया गया कि कितनी अतथ्य कल्पनावों को पाश्चात्यो ने हम पर लादा है। जब तक इन कल्पनावों से ऊपर न उठा जावेगा तब तक इतिहास का सच्चा रूप सामने नहीं आ सकेगा। इसके अनन्तर अगले प्रकरणो में भूगर्भ-शास्त्र और भाषा-विज्ञान पर विचार किया जावेगा। इन पर विचार करके यह भी दिखलाया जावेगा कि इतिहास के निर्धारण में ये भी साधन ठीक नहीं हैं। भाषाविज्ञान तो सर्वथा कोरी कल्पना है। उसे विज्ञान कहना भी विज्ञान को कलंकित करना होगा। जो स्वय अपना कोई नियम न रखे और अपने को ही काटता हो वह विज्ञान किस प्रकार हो सकता है।

अध्याय ३

भूगर्भशास्त्र और इतिहास

जहाँ अन्य अनेक मान्यतायें इतिहास के विषय में विदेशियों ने कर रखी हैं वहाँ भूगर्भशास्त्र को भी इतिहास के निर्णय में लाकर प्रविष्ट कर दिया है। इससे इतिहास के निर्णय में कितनी तथ्यता और कितनी अतथ्यता है—इस पर भी इस प्रकरण में विचार किया जाता है।

भूगर्भशास्त्र (Geology) एक ऐसा विज्ञान माना जाता है जो पृथिवी की बनावट और उसके इतिहास तथा विशेष रूप में पृथिवी के सान्द्रमण्डल (Lithosphere) का निर्माण करने वाली चट्टानों के स्वरूप और मूल अवस्था को बतलाता है। यह पशु और वनस्पति आदि के उन ढांचों के अध्ययन से भी सम्बद्ध है जो निम्नांकित अथवा अश्मीभूत (Fossilized) अवशेषों से प्रमाणित होते हैं। संक्षेप में मुख्य रूप मे पृथिवी के घने मण्डल को बनाने वाली चट्टानें तीन प्रकार की आकृतित की जाती है। १—प्रथम श्रेणी की चट्टानें वे हैं जो अवसादित (Sedimentary) हैं। इनमें खड़िया मिट्टी, चूने का पत्थर (Lime stone) और रेतीला पाषाण (Sand stone) आदि आते हैं जो नग्नीकरण (Denudation) अथवा अन्य साधनों से मूल अधोघनित (Plutonic) चट्टान से प्रविलीन हुए है और नदी तथा समुद्र के किनारों की पर्तों पर एकत्र हो गए है। २—दूसरी चट्टानें आग्नेय अथवा अधोघनित हैं जो मूल चट्टानें हैं और किसी समय पृथिवी के निर्माण की मूलभूत द्रवीभूत लचकीली (Plastic) सामग्री के जमने पर इस वर्तमान रूप में आई हैं। कणात्मक (Granite) इसमें ही परिगणित होता है। ३—तीसरी चट्टाने वे है जो कि आग्नेय और अवसादित चट्टानों के परिवर्तन से बनी हैं। इन्हे परिवर्तित चट्टान (Metamorphic rocks) कहा जाता है।

अवसादित चट्टानों (Sedimentary rocks) के भी उनसे प्राचीन अवस्था और युगों के क्रम से लेने पर नीचे लिखे प्रकार होते हैं:—

(क) पूर्वत्रिखण्ड[1] (Pre-Cambrian)
त्रिखण्ड (Cambrian)
अवर प्रवाल आदि (Ordovician)
प्रवाल आदि (Silurian)

1. The Great Encyclopeadia of Universal Knowledge, Page 499

मत्स्ययुगीन (Devonian)
पुराने रेतोऽश्म (Old Red Sandstone)
अंगारभर अथवा कोयलामय (Carboniferous)
गिरियुगीन (Permian)

इन सभी चट्टानों का सम्बन्ध आद्यकल्प (Archean) और प्रथम शृंखला से है।

(ख) रक्ताश्म (Triassic)
महासरट (Jurasic)
खड़ियायुगीन (Cretaceous)—चट्टानें जो कि द्वितीय शृंखला में आती हैं।

(ग) प्रातिनूतन (Eocene)
आदिनूतन (Oligocene)
मध्यनूतन (Miocene)
अतिनूतन (Pliocene)

प्रातिनूतन (Pleistocene)– ये तृतीय शृंखला (Tertiary series) से सम्बन्ध रखती है। इनमें प्रातिनूतन चट्टानें (Pleistocene rocks) बहुत ही नवीन हैं। इसके अतिरिक्त और भी पर्तें इनसे पृथक् भी हैं जो निर्माण के क्रम में हैं और चतुर्थ शृंखला (Quaternary series) को कही जाती हैं। पुरानिखातिकीविद्या (Paleantology) भी इसी की एक शाखा है जो घनीभूत मण्डलों (Fossils) का परीक्षण करती है और इनके समय का निर्धारण करती है। इस विद्या का विस्तार एच. सी. सीर्वो (१८२६-१६०८) ने किया है।

इसके इतिहास पर भी थोड़ा सा विचार यहाँ पर किया जाना अपेक्षित है। प्रथम व्यक्ति स्टेनो है जिसने भूगर्भ सम्बन्धी चट्टानों के कई वादों का विस्तार किया। वह इटली का था और १६६६ में निम्न बातें प्रचलित की :—

१. प्राथमिक चट्टानें (Primary rocks) जो निखातक (fossil) से रहित हैं और भूमि की रचना की समकालिक हैं।
२. द्वितीय चट्टानें (Secondary rocks) जो कि निखातयुत (fossiliferous) हैं और भूमि की रचना के अनन्तर बनी हैं।

इसके बाद लीबनिट्ज ने सन् १६८० में चट्टानों को निम्न प्रकार से विभाजित किया :—

१. स्तरीभूत (Stratified) जो जल में एकत्र होने से उत्पन्न हुई चट्टानें।

२. अस्तरीभूत (Unstratified) जो आग्नेय द्रवीभाव (Igneous fusion) की परिणामभूत चट्टानें। इस विद्वान् ने यह भी बतलाया कि पृथिवी का मूल आग्नेय तत्व है और यह प्रथम आग्नेय द्रवीभाव की अवस्था में थी।

लेहमान महोदय ने १७५६ ई० में चट्टानों को तीन भागों में विभक्त किया—

१. सर्वप्राचीन प्राथमिक चट्टानें।
२. द्वितीययुगी चट्टानें।
३. तीसरी श्रेणी की चट्टानें।

श्री वर्नर ने निम्न श्रेणियां निर्धारित कीं—

१. प्राथमिक (Primitive)
२. मध्यवर्ती (Transitional)
३. द्वितीय श्रेणी (Secondary)
४. जलोढ़ (Alluvial)

वर्नर ने यह भी बतलाया कि भूमि पूर्वावस्था में एक ऐसे विप्लुत समुद्र से सम्बद्ध थी जिसमें सभी प्रकार की चट्टानों की सामग्री का द्रव था। इस वाद का नाम वारुणवाद (Neptunian Theory) था।

स्काटलैण्डवासी हटन (१७८८-१७९५) ने निम्न विचारधारायें इस विज्ञान के विषय में प्रस्तुत कीं :—

१. यह पृथिवी मानना पड़ेगा कि आग्नेय द्रवीभाव की अवस्था में थी जब तक कि अग्नि का एक अंश समीपवर्ती आकाश में प्रज्वलित नहीं हुआ। इसके प्रज्वाल से द्रव का तल जमने लगा और इसने कणाश्म (Granite) घनीभूत स्तर को उत्पन्न किया।
२. इसके अनन्तर शैत्यीकरण प्रारंभ हुआ और जलीय वाष्प का वायुमण्डल में जमाना प्रारंभ किया।
३. इस जमाव ने वर्षा उत्पन्न की जिसने प्रथम तापीय समुद्र (Thermal ocean) को उत्थान दिया।
४. इस उबलते हुए समुद्र का तापमान बहुत अधिक था और इसमें रहने वाली जलीय वस्तुओं के अनुकूल होने से भी अति अधिक था। ये वस्तुयें अधिक स्फाटिक थीं और परिणामतः दलाश्म, अभ्रक और सुभाजा (Schist) आदि को उत्पन्न किया।
५. कणाश्म (Granite) का कठिन स्तर अंशतः टूट कर पानी पर भूमि और शैल उठने लगे। जब वर्षा और जलधारा ने चट्टानों को चूर्ण किया और अवसादित कणों को समुद्र के तल पर फैलाया।

६. उबलता पानी, प्राज्वल्यमान भूमि और पर्वत क्रमशः उस अंश तक ठण्डे हुए कि उन पर जीवन धारण हो सके और छोटी अवस्था से क्रमिक जीवन विकास प्रारम्भ हुआ।

१९वीं शती में विलियम स्मिथ ने इसमें वैज्ञानिक वृद्धि की जबकि सर चार्ल्स लाइल्स ने (१८३०-३३) भूगर्भ के सिद्धान्त (Principles of Geology) को प्रकट किया था। प्रोफेसर जो न डब्ल्यू जड ने अन्य कई विद्वानों का नाम दिया है जिन्होंने इस विज्ञान में अपना भाग दिया है।[1]

इस प्रकार भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार तीन अवस्थायें बनती हैं—

प्राथमिक (Primary)

द्वितीय (Secondary)

तृतीय (Tertiary)

चतुर्थ अब प्रारभ है जिसे चतुर्थ (Quaternary) कहा जाता है। पृथिवी के समस्त विकास को इन्हीं शृंखलावों में बांटा गया है।

हिमयुग—इसी से सम्बन्ध रखते हुए हिमयुग का भी वर्णन किया जाया करता है। उसका यहाँ पर सक्षेप मे वर्णन करना विषयान्तर न होगा। हिमयुग के विषय मे जो बातें मिलती हैं वे इस प्रकार हैं। यह भौगर्भिक घटना है जो हमारी वर्तमान अवस्था से पूर्व की है। यह ही प्रातिनूतन (Pleistocene Period) युग के नाम से भी जानी जाती है। इस युग में जो कि कई सहस्र वर्षों का था, पृथिवी के तल पर आज की अपेक्षा तापमान का विभाजन बहुत ही भिन्न था। उत्तरी योरप और उत्तरी अमेरिका का बहुत बड़ा भाग और किसी रूप में समस्त ब्रिटेन-ध्रोव (Arctic) अवस्था में था और हिम के क्षेत्र मे आच्छादित था[2]।

यहाँ यह स्पष्ट है कि हिमयुग का समय प्रातिनूतन युग है। इसके निश्चित काल के विषय में और विशेषतः विभिन्न हिमपातों और इनकी विद्यमानता के विषय मे अनेकों विचार पाये जाते है। इन्साइक्लोपीडिया के दशम सस्करण (१९०३) के अनुसार कुछ अमेरिकन भूगर्भशास्त्रियों के मत से हिमपात का समय आठ दशसहस्र वर्ष पूर्व का है। उत्तर ध्रुव निवास मे यद्यपि सामजस्यपूर्ण वर्णन नहीं पाया जाता है क्योंकि कई बातें परस्पर विरोधी हैं, लगभग यही दशसहस्र वर्ष पूर्व का समय स्वीकार किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ में एक विशेषता और वर्णित की गई है। यद्यपि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता है। वह विशेषता यह है कि हिमकाल और हिमान्तर काल इस गोलार्ध में एक के पश्चात् दूसरे के क्रम से प्रति १०५०० वर्षों में होते

1. The Student's Lyell, Page 5. Edition 1896 and readers should see N B. Pavnagee's book 'The Vedic Fathers of Geology' for more informations.

2. Encyclopeadia of Universal Knowledge, Page 497.

रहते हैं[1]। यह वर्णन यद्यपि इस घटना को सृष्टि का एक नियम सिद्ध करता है परन्तु इस विषय में कोई प्रमाण मिलता नहीं।

डाक्टर क्राल के अनुसार अन्तिम हिमयुग आज से दो लाख चालीस सहस्र वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ था और ८० सहस्र वर्ष पूर्व समाप्त हुआ था[2]। प्रोफेसर गीकी और दूसरे भूगर्भ-शास्त्रियों का विचार है कि पाँच हिमपात और चार मध्यवर्ती हिमपात हुये हैं और इनका समय ८००००[3] वर्ष का है। नियाग्रा प्रपात को देखने के लिए श्री लायल १८४१ ई० में गये और परीक्षणों के अनन्तर निश्चय किया कि हिमयुग की समाप्ति का समय लगभग ३१००० वर्ष है। प्रोफेसर जे. डब्लू. स्पेन्सर का आकूलित समय भी सर चार्ल्स लाइल से मिलता-जुलता अर्थात् ३२००० वर्ष है। जोन डब्लू[4] जड का विचार है कि त्रिखण्डयुग (Cambrian) से प्रारंभ करके विभिन्न आकलनों से आज तक का समय सात करोड़ वर्ष से लेकर छः अरब वर्ष तक होता है।

इसके अतिरिक्त डाक्टर क्राल ने गणित द्वारा भी इसका काल बतलाया है। वे कहते हैं कि पृथिवी की केन्द्रच्युति ३० लाख वर्ष में तीन बार हुई। पहली बार एक लाख सत्तर सहस्र वर्ष की, दूसरी बार दो लाख साठ हजार वर्ष की और तीसरी बार एक लाख साठ सहस्र वर्ष की। इस अन्तिम केन्द्रच्युति को बीते ८० सहस्र वर्ष हो चुके हैं।

समीक्षा—ऊपर भूगर्भशास्त्र का विस्तृत वर्णन किया गया। जहाँ तक पृथिवी की रचना के विज्ञान का सम्बन्ध है उसके विषय में सृष्टि रचना विज्ञान (Cosmology) से कार्य लिया जा सकता है। अगर इस विभाग को ही जो केवल पृथिवी की रचना पर विचार करता है भूगर्भ-शास्त्र का नाम दिया जावे तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु भूस्तरों, चट्टानों आदि के द्वारा पृथिवी का इतिहास, उनका समय और हिमयुगों का निर्धारण ऐसी वस्तुयें हैं जो इस विज्ञान में बलात् प्रविष्ट कर

1. In short, the glacial and Interglacial period in the hemispheres will alternate with each other every 10500 years, if the eccentricity of the earth be sufficiently great to make a perceptively lagre difference between the winter and summer in each hemisphere. —Arctic Home in the Vedas Page 38.
2. See Dr. Croll's Climate & Time, and clima e & cosmology
3. See N.B. Pavgee's book The Vedic Fathers of Geology' Page 84.
4. See 'Student's Lyell' by J h W Judd Page 592 editi n 1896 and also Pavgees book, Pa e 85.

ली गई हैं। इनके प्रवेश से इस विज्ञान का रूप विज्ञान नहीं रह गया, केवल कल्पना बन गया है। पुरामात्विकी विद्या (Paleantology) को इसमें सम्बद्ध क ने से यह विज्ञान और भी कल्पित वस्तु बन गया है।

भूगर्भ-शास्त्र यदि सत्यत विज्ञान है तो ऊपर दिखाये गये युगों के विषय में मतभेद क्यों है। उनका ठीक-ठीक काल क्यों नही निर्धारित हो पाता। यह भेद ही बतलाता है कि यह वास्तविक विज्ञान नही है। यही स्थिति शृखलावों के विषय मे है। प्रथम शृखला से लेकर तृतीय युग (Tertiary period) और चतुर्थ युगो मे प्रत्येक का क्या समय है यह विज्ञान निश्चित बतला नही पा रहा है। पृथिवी के निर्माण की सामग्री बताना और बात है परन्तु उस सामग्री का इतिहास और काल बताना तथा प्राणियो की उस पर स्थिति का इतिहास बतलाना अन्य बात है और यह भूगर्भ के शास्त्र से सभव नही। मानव ने अपनी हठधर्मी से इस विज्ञान में जो इतिहास-निर्णय आदि को प्रविष्ट कर रखा है वह इस विज्ञान के स्तर को नीचे गिरा रहा है।

यदि यह विज्ञान तात्विक विज्ञान है तो फिर यह पृथिवी की आयु ही ठीक-ठीक क्यों नही बता देता। पृथिवी की आयु इस विज्ञान के अनुसार दश करोड़[1] वर्ष की है। जब कि पृथिवी में उत्पन्न रेडियो ऐक्टिव के द्वारा यह काल सैंतीस करोड़ वर्ष के लगभग होता है और ऊपर दिखाए गए श्री जोन डब्लू जड के मतानुसार निखण्डयुग से आरम्भ करके विभिन्न आकलनों से सात करोड़ वर्ष से लेकर छः अरब वर्ष तक ये समय जाते हैं। यह इतना बड़ा विरोध क्यों ? क्या विज्ञान का यही स्तर और यही उदाहरण है।

दूसरी कमी यह भी है कि पृथिवी के स्तरों की गणना में भी विकासवाद समाया हुआ है। इन तमाम युगों की कल्पनावों का सूत्रधार यह मनःप्रसूत अवैज्ञानिक वाद ही है। पहले लोह आदि युगों के प्रसंग में वर्णित नेवादा के जूते की एँडी और मानव खोपड़ी के आधार पर यह बतला दिया गया है कि विकासवाद कोई दार्शनिक और वैज्ञानिक वाद नही यह तो मन की उड़ान है।

भूगर्भशास्त्र जिस रीति से भूस्तरों के द्वारा पृथिवी की आयु और इन युगो के काल का अन्दाजा लगाता है वह नितान्त ही भ्रामक है। [illegible] का एक स्तर कितने समय में बनता है यह जानना तो बहुत दूर की ब[illegible] भी इससे नही जाना जा सकता है कि एक स्तर कह[illegible] है। [illegible] है कि वर्षा के कारण पृथिवी में एक स्तर अ[illegible] । है [illegible] पतला

1. "The Age of the Earth" by Art[illegible]

होता है और स्थान-स्थान पर उसके कितने भेद हो जाते हैं। परन्तु कई वर्षों के बाद जब कोई कुवां खोदा जाने लगता है तो रेत, कंकड़, काली मिट्टी और सफेद मिट्टी आदि के अनेक परत दिखाई पड़ते हैं, जो एक फुट, दो फुट, चार फुट आदि की मोटाई के होते हैं। परन्तु उन पतले पर्तों का कहीं नाम-निशान तक नहीं दिखाई पड़ता जो प्रति वर्ष वर्षा से बनते है। ये बारीक परत कहाँ चले गए ? इसका समुचित समाधान यही है कि पृथिवी के दबाव के कारण कई वर्ष में ये पतले-पतले पर्त मिलकर एक हो गए। इसी प्रकार पृथिवी के अत्यन्त नीचे वाली चट्टानें (Metamorphic Rocks) भी दबाव और उष्णता के कारण पिघलकर ही बनती है। मेटामार्फिक शब्द ही इस रहस्य को प्रकट कर रहा है। इसका अर्थ परिवर्तित वा रूपान्तरित है। पृथिवी के इस दबाव और पिघलाव से अनेक पर्त्त अपने अस्तित्व को खोकर एक हो जाती है। इन प्रतिवर्ष की पर्तों का वर्षांतरों में एक बन जाना और परिवर्तित चट्टानों का निर्माण यह सिद्ध करता है कि पृथिवी के स्तर ज्यों के त्यों नहीं रहते है। उनके रूपों में अन्तर पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त इन पर्त्तों की रूपों का भी कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता है। एक ही स्थान पर एक कुवां खारा है और दूसरा मीठा है। एक में पर्त्त बालू का है तो दूसरे में उतनी ही गहराई पर लाल मिट्टी की पर्त्त है। ऐसी अवस्था में यह नही कहा जा सकता है कि सब स्तर समान लेवल पर हैं। यह भी नही कहा जा सकता कि सबकी मोटाई समान है। और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सबमें एक ही वस्तु विद्यमान है। ऐसी दशा में यह अनुमान नही किया जा सकता है कि जो स्तर यहाँ इतने दिनों में हो पाया होगा वही दूसरी जगह में भी उतने ही दिनों में हो सका होगा। इसी प्रकार बर्फ की तहों के जाँच से भी विद्वानों ने निश्चय किया है कि बर्फ संसार में सर्वत्र एक ही समय में नहीं पड़ा। यह कठिनाई पूर्व कठिनाई को और भी द्विगुण कर देती है। जहाँ वार्षिक स्तरों का पता न हो, जहाँ पुराने से पुराने मोटे स्तरों का भी पता न हो और जहाँ एक प्रकार की समानता भी न हो वहाँ सारी पृथिवी और समस्त स्तरों की आयु का अन्दाजा थोडे से भूस्तरों के आधार पर लगा लेना कितना कठिन और अटकल-पच्चू है। इन कठिनाइयों के रहते हुए यही कारण है कि भूगर्भशास्त्र का निकाला समय सत्य नही हो सकता है। पृथिवी की आयु (The Age of the Earth' नामी पुस्तक के लेखक ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भूगर्भ-शास्त्र की मर्यादा भी निश्चयात्मक नहीं[1] है। इस प्रकार भूगर्भशास्त्र की समीक्षा करके यह दिखलाया गया कि इस विज्ञान से इन युगों आदि का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

---

1. The geological period is difficult to establish with certainty. (The Age of the Earth, Page 1-9)

भूगर्भविज्ञान और शास्त्रीय विचारधारा—जहाँ तक वर्तमान भूगर्भशास्त्र और उसके आधार पर युगों आदि के निर्णय का सम्बन्ध है— उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया। अब इस विज्ञान और एतत्सम्बन्धी शास्त्रीय विचारधारा पर कुछ विचार किया जाता है। आर्यों का पवित्र धर्मग्रन्थ वेद है जो अनेक ज्ञान-विज्ञानों से परिपूर्ण है। यह यहाँ पर भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि वेद में केवल विज्ञान का वर्णन है, किसी घटना अथवा इतिहास के किसी क्रम का वर्णन नहीं है। जो वेद में किसी घटना का वर्णन मानकर उससे इतिहास के भ्रम को सिद्ध करना चाहते हैं वे भ्रम में हैं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। इसमें किसी देशकाल की घटना का वर्णन नहीं हो सकता है। विज्ञान का वर्णन वेद में अवश्य है। वेद में पृथिवी की रचना का सृष्टि-विज्ञान अवश्य वर्णित है परन्तु किसी तत्सम्बन्धी घटना का वर्णन नहीं। यह घटना का क्रम ब्राह्मण और शाखाओं आदि में पाया जाता है जो कि वेदों के व्याख्यान हैं। विज्ञान वह है जिसके ही आधार पर प्रत्येक कल्प में पृथिवी की रचना होती है। घटना वह है जो इस रचना के क्रम में वर्तमान सर्ग में किसी समय घटी। भूगर्भ के विज्ञान अर्थात् पृथिवी रचना के विज्ञान को वेद निम्न प्रकार बताता है। प्रत्येक कल्प में पृथिवी इसी प्रकार बनती है—

१. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहत्।
२. यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। } ऋग्वेद ।१२।२

३. स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहद्।
४. अधराचीनमकरोदपामपः। } ऋग्वेद २।१७।५

५. अपामुपस्थे विभृतो यदावसत्। ऋ० १।१४४।२

६. { स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने ऋ० ।१।१४३।२
त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव ऋ० १।३१।३

७. गीर्णं भुवनं तमसापगूढमाविस्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोसधीः सख्ये अस्य ॥ १०।८८।२

८. आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। ऋ १०।१२७।६

९. या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ ऋग्वेद १०।९७।१

इनके क्रमशः अर्थ निम्न प्रकार हैं :—

१. जो इन्द्र (परमेश्वर अथवा वायु वा अग्नि) शिथिल पृथिवी को दृढ़ करता है।
२. जो कंपायमान पर्वतों को स्थिर करता है।
३. जो कम्पमान पर्वतों को दृढ़ करता है।
४. जो जल को नीचे की तरफ को करता है।

५. अग्नि पहले जल में निवास करता है।

६. { परमाकाश में अग्नि वायु के लिए प्रकट होता है।
यह अग्नि प्रथम मातरिश्वा वायु के लिए प्रकट होता है।

७. सारा भुवन पूर्वावस्था में अन्धकार से आच्छादित रहता है और अग्नि के प्रकट होने पर व्यक्त हो जाता है। समस्त दिव्य पदार्थ, पृथिवी, द्यौ, जल और ओषधियाँ इस अग्नि के सख्य में प्रफुल्ल होती हैं।

८. कारणभूत जलें गर्भ में अग्नि को धारण करती हुई विश्व को प्रकट करती हैं।

९. ओषधियाँ-मनुष्य से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न होती हैं।

ये सिद्धान्तभूत नियम है जो वेदों में इस विज्ञान के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। इन सिद्धान्तों को लेकर ब्राह्मण आदि ग्रंथों में विस्तार और क्रम आदि दिखलाया गया है।

तस्माद्वात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधय। ओषधीभ्यो ऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। तैत्तिरीयोपनिषद्.।२।१ अर्थात् परमात्मा की निमित्तता से प्रकृति से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु। वायु से अग्नि और अग्नि से जल। जल से पृथिवी और पृथिवी से ओषधियें। इनसे अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। यह एक वैज्ञानिक क्रम है जो उपनिषद् में वर्णित है।

ब्राह्मणों में यह लिखा है और शाखायें भी यही बताती हैं कि एक अवस्था में यह पृथिवी और द्यु साथ थे, बाद में पृथक् हुये।

१. इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्। जै० ब्रा० १।१४५
२. इमौ वै लोकौ सहास्ताम्। ऐत० ब्रा० ७।१०।१
३. सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। श० ७।१।२ २३
४. इमे वै लोकाः सहासन्। ता० ब्राह्मण ८।१।९
५. द्यावापृथिवी सहास्ताम्। तै० शाखा ५।२।३
६. इमे वै सहास्ताम्। मैत्रायणी शाखा ३।२।२

इन सबका अर्थ यह है कि सूर्य और पृथिवी पहले साथ ही साथ थे। बाद में पृथक् हुए। पृथक् होने के प्रमाण नीचे दिए जाते है :—

इमौ वै लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्। जै० ब्रा० १।१४५
इमौ वै सहास्ताम्। ते वायुर्व्यवात्। तै० शाखा ३।४।३
इमे वै सहास्ताम् ते वायुर्व्यवात्। काठ० शाखा १३।१२

अर्थात् ये दोनों लोक एक दूसरे से पृथक् हुए। इनकी पृथक्ता वायु के द्वारा हुई। वायु ही प्रधान बल था जिसने इनको पृथक् किया। इसके अतिरिक्त इनका पृथक् करने वाला दूसरा भौतिक बल अग्नि है। सामवेद के प्रथम मन्त्र में आए हुए 'वीतये' पद की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण ने इस विषय में बहुत सुन्दर वर्णन किया है। ब्राह्मण ग्रंथ यह कहता है कि यह 'वीतये' पद बतलाता है कि यह वि+इतये[1] है अर्थात् यह व+इति होता है। देवों ने इच्छा की कि ये लोक किस प्रकार पृथक् होवें। उन्होंने इन (वीतये) तीन अक्षरों से पृथक् किया और ये लोक दूर-दूर हो गए। अर्थात् अग्नि ने इनको पृथक्-पृथक् किया। यहाँ पर वि=पृथक् और इति:= गमन अर्थात् पृथक् गमन के लिए है। अग्नि ने भौतिक परिवर्तन किया और लोक पृथक् हुए। इसी बात को तैत्तिरीय शाखा भी पुष्ट करती है—'अग्न आयाहि वीतये' इससे ये सूर्य और पृथिवी दोनों लोक पृथक् हुए। यह 'अग्न आयाहि वीतये' जो कहा है वह इन दोनों लोकों के पृथक् करने के लिए कहा गया है[2]।

प्रजापति=हिरण्यगर्भ वा विराट् की नव रचनाओं का यज्ञ की नव सृष्टियों से तुलना करते हुए शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।१२—१३[3] में इस विषय के एक महान् वैज्ञानिक क्रम को खोला गया है। वह इस प्रकार है कि "प्रजापति ने इस पृथिवी को इन जलों से रचने की इच्छा करते हुए मंथित करके जलों से जो रस नीचे तत्व-सामग्री क्षरित हुई वह कूर्म=कश्यप प्राण हुआ। [यह कश्यप प्राण वह है जिसके द्वारा

---

1. अग्न आयाहि वीतये—इति। तद्वेति भवति वीतये-इति।···
ते देवा अकामयन्त कथन्नु इमे लोका वितरां स्यु···। तानेतैरेव
त्रिभिरक्षरैः व्यनयन् वीतये—इति। त इमे विदूरं लोकाः।

शा० १।४।१।२२—२३

2. अग्न आयाहि वीतये—इतिवा इमौ लोकौ व्यैताम्
अग्न आयाहि वीतय—इति यदाह—अनयोर्लोकयोर्वीत्यै॥

तैत्तिरीय शाखा ५।१।५

3. सोऽकामयत—आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयम्-इति ताः संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्। तस्यैयः पराङ् रसोऽत्यक्षरत् सकूर्मोऽभवत्। अथ यदूर्ध्वमुदौक्षत-इदं तद् यदिदमूर्ध्वमद्भ्योऽधिजायते। सेमं सर्वाप एवानुव्यैत्। तदिदमेकमेव रूपं समदृश्यत आप एव॥१२॥ सोऽकामयत-भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। सोऽश्राम्यत। स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत। सोऽवेद् अन्यद्वा एतद्रूपम्। भूयो वै भवति। स श्राम्याण्यव। स श्रान्तस्तेपानो मृदम्, शुष्कापमूषसिकतम्। शर्कराम्, अश्मानम् अयः, हिरण्यम्, ओषधि वनस्पति असृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।·३॥

जल और उसमें विद्यमान पार्थिव परमाणुवों की स्पष्टता हो जाती है। इसी को कूर्म अर्थात् पृथिवी का करने वाला तत्व कहा जाता है] और जो ऊपर समूहित रस था वह यह जल रूप रह गया। इसलिए भूमि जलों में जिस समय रहती है ऊपर जल ही जल दिखाई पड़ता है। पुनः प्रजापति ने इसे आगे क्रम में ले जाने के लिए प्रयत्न किया और अग्नि का ताप दिया और फेन पैदा हुआ। पुनः यत्न किया तो मृतमिट्टी उत्पन्न हुई। पुनः इससे शुष्काप उत्पन्न किया और पुनः क्रमशः ऊप, सिकता और शर्करा उत्पन्न हुये। शर्करा से पुनः अश्मा और उससे अय=लोहा, हिरण्य=सोना, और ओषधि, वनस्पति उत्पन्न किये। इनसे प्रजापति ने पृथिवी को आच्छादित किया। यहाँ पर फेन, मृत, शुष्काप, ऊप, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयोहिरण्य, ओषधि वनस्पति आदि कितने सुन्दर क्रम पृथिवी के रचना के दे दिये गए हैं। अब इस अवस्था की पृथिवी को जल से किस प्रकार स्पष्ट प्रकट किया गया इसके विषय में शतपथ ब्राह्मण एक और भी विचार उपस्थित करता है। उसके अनुसार यह वर्णन है कि "यह पृथिवी पहले छोटी प्रादेश मात्र[1] थी। इसे ऐमूष वराह ने प्रकट किया।" यह ऐमूष वराह वस्तुतः मेघ है। इसमें सूर्य की किरणें व्याप्त रहती हैं। ऋग्वेद[2] ८।७०।१० मंत्र भी इस एमूष वराह का वर्णन करता है। यास्क और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार वर्+आहार्=जल को खाने वाला मेघ वराह है। आ ईम्+उप यहाँ भी निघण्टु में (१।१२) जल के नामों में 'ईम्' पड़ा है। अतः जल को सब तरफ से अपने में बसाने वाला होने से मेघ ही एमूष भी है। यहाँ पर यह प्रकट है कि मेघ ने पृथिवी को सन्तप्त अग्नि समुद्र से ठण्डा करके निकाला। शुष्काप पद का अर्थ पानी से सूखा भाग। यह ऊप से पूर्व की अवस्था होती है। जब अधमुखी थोड़ी ज़मीन होती है तब उसके ऊपर सफेद सोडा आदि का रूप दिखलाई पड़ता है जो क्षार के कारण होता है। अतः वह ऊप वा ऊपर की अवस्था है। मैत्रायणीशाखा में भी कहा गया है कि पहले पृथिवी शिथिल थी—प्रजापति ने 'शर्करा' से उसे दृढ़ किया[3]। तै० ब्राह्मण १।१।३।७ में भी लिखा है कि पृथिवी को शर्करा से दृढ़ किया[4]। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर यह भी बतलाया गया है कि सिकता से शर्करा, शर्करा से अश्मा और अश्मा से अयस् लोहा बनता[5] है।

---

1. इयती वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री, तामेमूष इति वराह उज्जघान। शतपथ १४।१।२।११
2. वराहमिंद्र एमुषम्।
3. शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्। मै० १।६।३
4. तां शर्कराभिरदृंहत्
5. सिकताभ्य. शर्करामसृजत=शतपथ ६।१।३।५, शर्कराया अश्मानम् तस्माच्छ र्कराश्मैवान्ततो भवति। श० ६।१।३।५; अश्मनोऽयः श. ६।१।३।५

अन्य प्रकार भी इस विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाया जाता है। बतलाया गया है कि इससे पूर्व प्रलय काल में कोई कार्य पदार्थ नहीं था। केवल असत्=अर्थात् कारण-सामग्री थी। उसको तपाया गया और धूम उत्पन्न हुआ। उसको फिर तपाया गया और अग्नि उत्पन्न हुआ। पुनः तपाने से ज्योति उत्पन्न हुई। पुन. अर्चि, पुनः, मरीचियें और पुनः ज्वालायें, और पुन मेघ उत्पन्न हुआ। उसका भेदन किया और समुद्र उत्पन्न हुआ। पुन ये जलें जो सलिल थी—ये पार्थिव कणों से युक्त थी। इस जल में प्रजापति ने पुन श्रम किया और पृथिवी उत्पन्न हुई[1] पुन. इसी ब्राह्मण में कहा गया है कि पूर्वकाल में जलें सलिल रूप में विद्यमान थी। प्रजापति ने श्रम किया। उसने एक पुष्करपर्ण=अन्तरिक्षपर्ण=फेन को देखा। वह प्रजापति मेघ का रूप कर उसमें डूबा और पृथिवी को नीचे प्राप्त किया। उसने उपमज्जन किया और पुष्कर-पर्ण पर पृथिवी का विस्तार किया। इसी से इसका नाम पृथिवी अर्थात् 'विस्तार की हुई'[2] है।

तैत्तिरीय शाखा में लिखा है कि पहले जलें सलिल रूप में थी। उसमें प्रजापति ने वायु होकर विचरण किया। उसने इस पृथिवी को देखा और मेघ होकर इसको लाया। विश्वकर्मा होकर इसको विमृष्ट किया और यह फैल गई—इससे यह पृथिवी होगई[3]।

इन सभी वर्णनों से यह प्रकट होता है कि पहले प्रजापति ने वायु, पुन. अग्नि और आप को उत्पन्न किया। इसके पूर्व धूम और अभ्र की भी अवस्था उत्पन्न हुई थी। फिर फेन और शर्करा आदि के क्रम से पृथिवी को दृढ किया। मेघ ने इसे बाहर निकाला और इसका विस्तार होकर इस पर ओषधि आदि उत्पन्न हुये। यहाँ पर प्रजापति के श्रम को दिखलाते हुए यह दर्शा दिया गया कि पृथिवी वायु (गैस), अग्नि, और जल की अवस्था में होकर मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा और अयस् आदि की अवस्था में आई। ठण्डी होने पर पुनः इस पर ओषधियें आदि उत्पन्न हुए। भूगर्भ-शास्त्र का जितना वास्तविक विज्ञान पृथिवी की रचना के सम्बन्ध में है वह यहाँ इन वर्णनों में सब आगया। परन्तु यदि इनके आधार पर समय निकालने और युग आदि

---

1. इदं वै अग्रे नैव किंचनासीत्···तदतप्यत। तस्मात्तपनाद्धूमोऽजायत।··· अग्निरजायत।··· ज्योतिरजायत।······अभ्रमिव समहन्यत।···समुद्रो अभवत्।···सा पृथिव्यभवत्। तै० ब्रा २।२।६।१
2. सो ऽपश्यत् पुष्करपर्णं तिष्ठत्।···स वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत···तां शर्कराभिरदृंहत्। तै० ब्रा० १।१।३।५
3. अपोह इदमग्रे सलिलमासीत्···वायुर्भूत्वा अचरत्···सा पृथिव्यभवत्॥ तैत्तिरीय शाखा ७-१-५-१

कल्पना करने लगें तो ठीक नहीं होगा। शाखा और ब्राह्मणों में यह सारा वर्णन भूतकाल का दिया है। यदि इस आधार पर समय की कल्पना की जावे करोड़ों अरबों वर्ष का समय निकल आवेगा और 'वैदिक एज' के लेखक का बनाया सारा प्रासाद ढह जावेगा वैदिक एज के लेखक ने वेद का समय १००० वर्ष ईस्वी पूर्व माना है। परन्तु यदि दुर्जनतोषन्याय से थोड़ी देर के लिए इन्हीं कल्पित आधारों को लेकर हम भी वैसा ही करें तो वेद तो दूर रहा ब्राह्मणों का ही काल सहस्रों और लाखों वर्ष का बन जावेगा। इन्हीं आधारों को लेकर श्री एन.बी. पावगी और श्री ए.सी. दास आदि ने वेदों के समय को बहुत प्राचीन माना है। हमारा विश्वास है कि वेद नित्य है, ईश्वरीय ज्ञान है।' ये मनुष्य द्वारा रचे नहीं गये और न इनमें किसी इतिहास अथवा इतिहास को बताने वाली सामग्री का ही लेश है। वेदों में इतिहास की सामग्री निकालना ठीक नहीं।

परन्तु यदि कुतर्कियों के कुतर्क को खण्डित करने के लिए एक क्षण के लिए यहां पर मैं भी इन कुतर्कियों के आधार को मान कर ही चलूं तो वेद काल के विषय में वैदिक एज का माना काल तो चुटकियों पर उड़ जावेगा। थोड़ा सा नमूना यहां पर दिखला ही दिया जाता है। वेद का यह अटल सिद्धान्त है कि भोक्ता से भोग पूर्व उत्पन्न होता है। ओषधि और वनस्पति आदि पृथिवी के बन जाने पर उत्पन्न होती हैं। ऋग्वेद १०।९७।१ मंत्र (या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा) यह कह रहा है कि ओषधियां मनुष्य से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न होती हैं। इससे यह भाव निकल आता है कि पृथिवी को अपने रूप में आने और ओषधियों के उत्पन्न होने तक तीन युग अर्थात् चतुर्युगी बीत चुकी हैं। पुनः अथर्ववेद में मंत्र आता है कि सृष्टि की सारी आयु एक सहस्र[1] चतुर्युगी की है। पुनः[2] यह और भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये वर्ष ४३२००००००० होते हैं। इसमें अब तक १ अरब सत्तानवे करोड़ से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। एक चतुर्युगी ४३२०००० वर्षों की होती है। तीन चतुर्युगी अर्थात एक करोड २९ लाख ६० सहस्र वर्ष तो पृथिवी पर ओषधि आदि के उत्पन्न होने तक व्यतीत हो गये। शेष रह गया लगभग एक अरब ९६ करोड़ वर्ष का समय जो मानव को उत्पन्न हुए हुआ। मनुष्य जिस समय उत्पन्न हुआ उसी समय वेद का ज्ञान उसको मिला। अतः इतना ही समय वेद को उत्पन्न हुए भी हुआ। यह तो शुद्ध तर्क और यक्ति है। परन्तु आपका कथन मान लेने पर कि मनुष्य ऋषियों ने वेद को बनाया है यह समझ लिया जावे कि जंगली अवस्था से वेद बनाने

1. एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता: स्कम्भ: प्रविवेश तत्र। अथर्व १०।७।९
2. शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः। अथर्व ८।२।२१ = ४३२००००००० वर्ष

की अवस्था तक आने में भी दो चार लाख वर्ष (जबकि इतिहासवादी इतना लम्बा समय नहीं स्वीकार करते अपने युगों की कल्पना में तब भी यहाँ थोड़ी देर के लिए मान लिया जाता है) व्यतीत हो गये, फिर भी तो वेद को बने लगभग एक अरब पंचानवे करोड़ वर्ष ठहरते हैं। यहाँ वैदिक एज के कर्ता का एक सहस्र वर्ष ईस्वी पूर्व समय तो इस इतने बडे वर्षों के समुद्र मे विदुमात्र भी नही ठहरता है।

दूसरा एक उदाहरण और दिया जाता है। ऋग्वेद दशम मण्डल के ८५वें सूक्त का १३वां मंत्र निम्न प्रकार है—

सूर्याया वहतु: प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अधासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो: पर्युह्यते ॥

इन "वैदिक एज" के लेखक आदि ही की भांति वेद में ऐतिहासिक सामग्री मानने वाले श्री डाक्टर सपूर्णानन्द जी इसका अर्थ करते है—"सूर्य ने अपनी लड़की सूर्या के विवाह मे जो दहेज दिया था वह आगे चला। उसको ढोने वाली गाड़ी के बैलों को मघा नक्षत्र में मारना पडता है। फाल्गुनियों—पूर्वा और उत्तरा फाल्गुनी—में रथ वेग से चलता है।" वे कहते हैं पहले जिस समय की यह घटना वर्णित है, उत्तरायण गति का आरम्भ मघा नक्षत्र मे होता था। मघा सिह राशि में है। आजकल उत्तरायण का आरम्भ मकर राशि में होता है, जो चार महीने पीछे आती है। पर आज से १८००० वर्ष पूर्व मन्त्र मे संकेत किया हुआ दृग्विषय होता था। जिन आधारों पर 'वैदिक एज' वाले १००० वर्ष ईस्वी पूर्व वेद का अस्तित्व मान रहे हैं वैसे ही आधार लेकर श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी १८००० वर्ष पूर्व वेद की रचना मान रहे हैं।

पुनः तीसरा उदाहरण दिया जाता है। यह ऋग्वेद द्वितीय मडल के बारहवें सूक्त का दूसरा मंत्र है। इस मन्त्र को पहले मैं प्रस्तुत भी कर चुका हूँ।

य: पृथिवी व्यथमानामदृंहद् य: पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। इसका अर्थ श्री डा० सम्पूर्णानन्द करते हैं—"हे लोगो इन्द्र! वह है, जिसने व्यथित, हिलती-डोलती पृथिवी को दृढ किया और कुपित, चंचल पर्वतों को शान्त किया।"

श्री डाक्टर जी[1] का कहना है कि इन दृश्यों को आर्यों ने देखा होगा। तभी इसका वर्णन वे कर रहे हैं। इस प्रकार आज से २५००० से ५०००० वर्ष पूर्व की घटना है। अतः वेदों को बने हुए भी इतना समय हुआ होगा। इस प्रकार के और भी

1. डा० सम्पूर्णानन्द ने रामगोविन्द त्रिवेदी की लिखी पुस्तक 'वैदिक साहित्य" की भूमिका में ये विचार लिखे हैं।

अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ पर विषय को बढ़ाना अभीष्ट नहीं है। वेदों में वस्तुतः इतिहास की कोई सामग्री नहीं और न कोई घटना है। भूगर्भ-शास्त्र समय और युग के निर्धारण में असमर्थ है। उससे इतिहास की कड़ी का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। अतः इसके आधार पर जो वेद के समय को और आर्यों के इतिहास के समय को आकलित करते हैं—सर्वथा ही उचित नहीं करते। यहाँ पर संक्षेप में भूगर्भशास्त्र की मान्यताओं को देकर उनका निराकरण किया गया।

अध्याय ४

भाषाविज्ञान और इतिहास

वर्तमान काल में इतिहास का निर्णय भाषा-विज्ञान के आधार पर किया जाता है। वस्तुतः यह भी एक भूल-भुलैया है। कुछ सदियों से पाश्चात्यों के चरण-चिन्हों पर चलने वाले इतिवृत्त —विदों को विरासत में प्राप्त है। यह न तो वस्तुतः कोई विज्ञान है और न इसके आधार पर इतिहास का कोई निर्णय हो ही सकता है। विज्ञान नाम ऐसी मनःपूत कल्पना को देना सर्वथा ही निराधार है। भाषा-विज्ञान जिसे कहा जाता है उसका अपना कोई निश्चित नियम नहीं है, यदि कोई कल्पना की भी गई है तो वे नियम स्वयं को ही काटते हैं। फिर भी इसे विज्ञान का नाम देना तथ्य का तिरस्कार और बुद्धि का विग्लापन मात्र है। ससार में यह नियम भाषा के विस्तार में पाया ही नहीं जाता है कि परिष्कार से भाषायें बढी हैं। वस्तुतः संकोच और अपभ्रंश से भाषायें बढी है और बनी हैं। भाषा और ज्ञान के विकास में विकासवाद का प्रवेश करना भी सर्वथा सारहीन है। सूची से सुज्जा, सूई तक आने में विकास नहीं संकोच और ह्रास ही पाया जाता है। सूक्ष्म से सूच्छम और छुच्छिम में भी यही स्थिति है। यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि यह विकास है तो सर्वथा ही असत्य होगा। जब भाषा-विज्ञान का ही कोई सिर और पैर नहीं है तो फिर उसके आधार पर इतिहास के निर्णय का प्रासाद खडा करना और भी अनुचित है। भाषा-विज्ञान के नियमानुसार सृष्टि में मानव ने भाषा का किस प्रकार ग्रहण किया और बोलने लगा—इस विषय पर भिन्न-भिन्न वादों का विवेचन और निराकरण मैंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक-ज्योति के प्रथम दो लेखों में कर दिया है। साथ ही वैदिकवाग्दर्शन नाम के प्रकरण में वाक् के विषय में बहुत ही पर्याप्त प्रकाश डाला है। यहाँ पर इस प्रकरण में केवल विषय से सम्बद्ध बातों पर ही सक्षेप में प्रकाश डाला जावेगा।

भाषा की उत्पत्ति —मानव जिस समय पृथिवी पर अवतरित हुआ उस समय बोलने और समझने में समर्थ उत्पन्न हुआ। यह निर्देश पहले किया भी जा चुका है। अब यदि बोलने की शक्ति उसमें थी तो कहना पड़ेगा कि वर्ण भी थे जिनसे कि वह अपनी वाणी को प्रकट कर सके। यदि यह माना जावे कि वर्ण नहीं थे तो साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य आदिम अवस्था में गूँगा उत्पन्न हुआ। यदि गूँगा उत्पन्न हुआ तो फिर वह किसी भी हालत में बोलने वाला नहीं

हो सकता है। यदि बोलने की शक्ति उसमें थी तो कहना पड़ेगा कि भाषा जो वर्णों के रूप में है वह भी होनी चाहिए। शब्द दो ही प्रकार के हो सकते हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। यदि आदिम अवस्था के मानव में कर्ण थे—यह भी साथ ही स्वीकार करना पड़ेगा कि ध्वनियां भी थीं जिनको वह सुन सकता था—नहीं तो बहरा कहा जावेगा। यदि वाक् थी तो वर्ण भी होने चाहिएँ। मानव बच्चे के रूप में उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि बच्चे के पालन के लिये दूसरे स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता होती। वृद्ध भी नहीं उत्पन्न हुआ क्योंकि वृद्ध आगे अपनी सन्तति परम्परा को चलाने में असमर्थ होते हैं। अतः आदिम मानव युवा उत्पन्न हुआ। युवा मानव वाक्शक्ति आदि से युक्त उत्पन्न हुआ। ऐसी स्थिति में उसमें समझने की भी शक्ति थी। समझना ही विचार और ज्ञान का द्योतक है। संसार में कोई ज्ञान बिना भाषा के और कोई भी भाषा बिना ज्ञान के रह नहीं सकते। अतः कहना पड़ेगा कि बाह्य विचार वा ज्ञान का नाम भाषा है और आन्तरिक भाषा वा ज्ञान का नाम विचार है। जब यह अटल नियम है कि भाषा और ज्ञान साथ-साथ रहते हैं तो फिर कहना पड़ेगा कि आदि मानव के पास उसके पृथिवी पर आने पर ज्ञान और भाषा भी साथ-ही-साथ आये।

यह भी नियम है कि संसार में जितनी बोलियाँ प्रसिद्ध हैं वे लोगों में माता-पिता से आती हैं। सृष्टि की आदि में परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई माता-पिता थे नहीं। फिर कोई देशिक भाषा तो विरासत में आ नहीं सकती थी। केवल वही भाषा आ सकती थी जो सृष्टि के पदार्थों में विद्यमान हो, परमेश्वर के मनुष्य पर प्रकट किये जाने वाले ज्ञान के पूर्ण माध्यम होने की उसमें क्षमता हो और वह ऐसी हो कि सदा प्रत्येक कल्प में एक सी रहती हो तथा आगे बोल-चाल की समस्त भाषाओं को उत्पन्न करने में क्षम हो। साथ ही वह किसी देश विशेष की भाषा न हो और न उससे पूर्व कोई ज्ञान वा भाषा पृथिवी पर कहीं मौजूद हो। बस ! यही बात है जो विशेष वर्णन के योग्य है कि परमेश्वर ने मानव के पृथिवी पर आने के साथ ही साथ वेद ज्ञान की प्रेरणा मनुष्य में दी—और वह वेद की भाषा में ईश्वरीय ज्ञान मानव को मिला जो आदि ज्ञान और भाषा—दोनों था। यह कोई इसी सृष्टि की कल्पना नहीं है—बल्कि समस्त सृष्टियों में ऐसा ही होता है। आगे की सृष्टियों में भी ऐसा ही होगा। इस वेदभाषा से संकोच, अपभ्रंश और म्लेच्छित आदि होकर मनुष्य के बोल-चाल की भाषायें बनती हैं। संस्कृत भाषा जो बोलने की भाषा रही है वह भी वेद से बनी भाषा है। वेद की भाषा कभी भी किसी देश वा किसी जाति की अपने बोलचाल की भाषा नहीं रही है। वेदों में वाक्, वाणी आदि पदों का प्रयोग देखा जाता है भाषा का नहीं। ब्राह्मण आरण्यक आदि में 'भाषृ' धातु का प्रयोग देखा जाता है। भाषा पद भी पाया जाता है। वेदों में आये वाणी, वाक् के

अर्थ को द्योतन कराने वाले पदों का वैदिक निघण्टु, (१।११) में वाक नाम से जो संग्रह दिया गया है उसमें भी 'भाष' धातु का प्रयोग नही पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि भाषा का प्रयोग वस्तुत. लौकिकी वाणी जो बोलचाल की वाणी है उसी के लिये है।

वाणी का विस्तार—वेद मे वैदिकी वाणी को नित्य, कहा गया[1] है। यह सब वाणियो का अग्र और प्रथम[2] है। यह परमात्मा की प्रेरणा से[3] ऋषियो पर सृष्टि के प्रारम्भ मे प्रकट होती है। इस ही प्रथम, निर्दोष, अग्र वाणी को लेकर लोग बोलने की भाषा का विस्तार[4] करते हैं। वाणी के प्रकार पर ऋग्वेद में एक बहुत ही सुन्दर मंत्र पाया जाता है। इस मंत्र मे वाणी के चार परिमित पद कहे गये[5] है। इन चार पदो से वाणी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। ये चार पद भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक दृष्टियों से निम्न प्रकार[6] है :—

१. ओङ्कार, भूः, भुवः और स्वः—ये ही वाणी के चार परिमित पद है—यह आर्षमत है।
२. नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—यह वैयाकरणों का मत है।
३. मंत्र, ब्राह्मण, कल्प और व्यावहारिकी—यह याज्ञिकों का मत है।
४. ऋक, यजु, साम और व्यावहारिकी—यह नैरुक्तों का मत है।
५. सर्पो की वाणी, पक्षी की, क्षुद्रक्रिमियों की वाणी और व्यावहारिकी—यह एक आचार्यो का मत है।
६. पशुवों में, वाद्यों में, अरण्य पशुवों में और मनुष्यों में जो वाणी है—यह आत्मवादी मानते हैं।
७. पृथिवी, अग्नि, रथन्तरसाम } अन्तरिक्ष, वायु, वामदेव्य साम } द्यु, स्तनयित्नु, बृहत्साम } चौथी पशुवो की—यह एक मत है।

1. वाचा विरूप नित्यया ऋग्वेद ८।७५।१
2. बृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रम्। ऋ. १०।७१।१
3. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दनृषिषु प्रविष्टाम्। ऋ. १०।७१।३
4. तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा। ऋ. १०।७१।३
5. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति। ऋ. १।१६४।४५
6. निरुक्त परिशिष्ट १३।९

८. परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—यह एक विचार और भी पाया जाता है। इतना विस्तृत वाणी का स्वरूप संसार की किसी भी भाषा में नहीं मिलेगा जिस मंत्र के आधार पर यह वर्णन है उसके अन्तिम चरण में एक सत्य का और भी उद्घाटन किया गया है। वह यह कि समस्त वाणी मनुष्य की भाषा का विषय नहीं बन पाती। केवल वाणी के चतुर्थ भाग को ही मनुष्य बोलते हैं। तीन पद गुहा—बुद्धि के विषय हैं। इन सभी मतों में चतुर्थ पद को मनुष्य बोलता है। आर्ष मत में 'भूः' पद मनुष्य के बोलने का विषय है। वैयाकरण-मत में निपात तुरीय पद है। मनुष्य बहुधा निपातवत् ही बोलता है। इसे पाँच पर्यन्त क्रमों में तुरीय पद को व्यावहारिकी वाणी कहा ही गया है। छठें और सातवें मत में मनुष्यों और पशुवों की वाणी कहकर इस तुरीय पद को बतलाया गया है। ८ वें पक्ष में इसे वैखरी वाणी कहा गया है। परा वाक् परमेश्वर की अगाध वाणी है। पश्यन्ती ऋषियों द्वारा देखी गई वाणी है। मध्यमा देवों की वाणी है जो मध्यस्थानीय हैं। जसे गर्जना आदि वाणियें हैं। इनसे व्याकृत होकर जो बिखरने या बोल-चाल में विस्तृत होने वाली वाणी है वह वैखरी है। तुरीय शब्द व्याकरण नियमों से 'चतुर' का तद्धित में प्रयोग है। परन्तु यास्क ने 'तुरीयं त्वरते' । कहकर 'त्वर' धातु से इसकी सिद्धि की है। जो शीघ्रता और सरलता से उच्चारण की जा सके वह तुरीय है। इन प्रथम तीन पदों के अतिरिक्त चतुर्थ पद जो व्यावहारिकी भाषा है वह वस्तुतः बनी भी इसी आधार पर है कि उच्चारण में सरलता कर दी गई है। ७ वें मत में जो वर्णन है वहां पर यह भी दिखलाया गया है कि पशुवों की अव्यक्त वाणी के अतिरिक्त जो व्यक्त वाणी है उसे ब्राह्मणों में रख दिया गया और यही कारण है कि ब्राह्मण यज्ञ-काल में देवों की वाणी बोलते हैं और व्यवहार-काल में मनुष्यों की वाणी।

इस पर विशेष स्पष्टीकरण के लिए शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल का अध्ययन आवश्यक है। शतपथ में कहा गया है कि यह वाणी का तुरीय निरुक्त रूप है जिसे मनुष्य बोलते हैं। यह वाणी का तुरीय अनिरुक्त रूप है जो पशु बोलते है। यह वाणी का तुरीय अनिरुक्त रूप है जिसे क्षुद्र कृमि आदि बोलते[1] हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य वाणी के तुरीय पद को बोलता है और वह भी निरुक्त पद को अनिरुक्त को नहीं। पशु, पक्षी आदि अनिरुक्त रूप को बोलते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि वाणियों के जो तीन पद हैं वे मनुष्य के बोली के विषय नही हं—केवल व्यावहारिकी वाणी को मनुष्य बोलता है परन्तु मनुष्य एक अवस्था

1. तद्वैतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति···इत्यादि। श. ३।२।३।१५

में इन पशु, पक्षियों आदि की वाणी को भी समझ सकता है—इसमें सन्देह नहीं। परन्तु ये वाणियाँ उसकी बोली की वाणी नहीं। योगदर्शन में बतलाया गया है कि शब्द, अर्थ और प्रत्ययों का परस्पर अध्यास होने से इनके विभागों में संयम करने से योगी को समस्त प्राणियों की बोली[1] का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अर्थ मात्र के ज्ञान की भी एक अवस्था है जिसमें केवल अर्थ का ही ज्ञान होता है, शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प साथ-साथ नहीं उपस्थित होते हैं। भाव यह है कि 'गौ' ऐसा कहने पर इसमें ज्ञान[2], अर्थ और शब्द तीनों मिले हैं—गौ शब्द भी है, गौ अर्थ भी है, और गौ ज्ञान भी है। परन्तु साधारण आदमी तीनों का पृथक्करण नहीं कर सकता है। योगी तीनों का पृथक्करण करके अर्थमात्र का ज्ञान कर सकता है। अगर यह स्थिति योगी की न हो सकती होती तो फिर इस बात का भी कोई उत्तर नहीं है कि प्रत्येक देशवासी की अपनी भाषा में की हुई प्रार्थना को परमेश्वर किस प्रकार समझ लेता है। क्या उसे ये सारी गढ़ी हुई भाषायें मालूम हैं। यदि कोई सम्बन्ध-माध्यम इनका है जिससे वह जान लेता है तो उसी सम्बन्ध माध्यम को जानकर योगी पशुओं आदि की बोली को समझ लेता है।

बहुत दूर वाग्विज्ञान के रहस्य में पहुँच गया जो यहाँ वर्णित करना उचित नहीं—अस्तु ! प्रस्तुत प्रसंग पर आता हूँ। कहना यह है कि परावाक् और पराविद्या का केन्द्र तो स्वयं भगवान् 'ओम्' है। परा से पश्यन्ती का जो रूप आता है वह वही है जिसे दृष्टऋषि देखते और साक्षात् करते हैं। मध्यमा उस वाक् का वह रूप है जो बादल आदि दिव्य पदार्थों में है। सर्वरी कहे, गौरी कहे—सबसे इस मध्यमा का ही बोध होता है। ब्राह्मी भी यही है क्योंकि ब्रह्म-आकाश में विद्यमान है। पश्यन्ती वाणी ही वेदवाणी है। मध्यमा से भी इसका सम्बन्ध है। अतः पश्यन्ती वाणी और मध्यमा के द्वारा वैखरी वाणी का निर्माण होता है। यह वैखरी वाणी वह है जो पहले देवभाषा के रूप में आती हुई पुनः आसुरी वाक् से होती हुई विविध भाषाओं के रूप में आ जाती है। यद्यपि पश्यन्ती के पदों का संकोच होकर इस वैखरी में आना होता है परन्तु वैखरी का कोई भी पद वैखरी या व्यावहारिक रहता हुआ पश्यन्ती में नहीं सन्निवेश पा सकता है। वस्तुतः यही पश्यन्ती और वैखरी का विभाग है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि "अग्नि !" पद जो लौकिक संस्कृत रूपी वैखरी में पाया जाता है वह वेद अर्थात् पश्यन्ती में भी है—फिर यह क्यों ? इसका समाधान है कि लौकिक संस्कृत मे अग्नि शब्द जिस रूप मे है वेद में

1. योगदर्शन ३।१७ व्यासभाष्य।
2. योगदर्शन १।३३ व्यासभाष्यसहित। तथा "वैदिक ज्योति" भी देखें।

उसी रूप में नहीं है। वेद में अग्नि अग्नि भी है, और तीन धातुओं से जन्य भी है परन्तु लौकिक संस्कृत का 'अग्निपद' ऐसा नहीं है।

देववाणी का स्वरूप— जैसा ऊपर कहा गया है कि सृष्टि की आदि में पश्यंती वाणी ऋषियों को प्राप्त होती है। परन्तु यह किस रूप में प्राप्त होती है—यह भी एक गहन विचार है। यह देवी भी ऋषियों के द्वारा कल्प के बाद भी जाती है। जो ऋषि समाधिस्थ हो इसका दर्शन करता है उसे अर्थ का ज्ञान होता है। यह प्रेरणा द्वारा प्रकट होती हुई भी पश्यन्ती है और अर्थज्ञान की प्राप्ति में भी साक्षाद्दर्शन के माध्यम से पश्यन्ती है। अथर्ववेद ७।१०५।१ में कहा गया है कि पौरुषेय वाणी से दूर रहते हुये दैवी वाणी को चुनकर समस्त मित्रों आदि के साथ यज्ञ और कर्त्तव्य आदि का निर्धारण करना चाहिये[1]। अथर्ववेद ६।६१।२[2] में विश्वस्रष्टा परमेश्वर यह उपदेश करते हैं कि सत्य क्या है ? और अनृत क्या है ? इसका विवेचन कर उपदेश मैं देता हूँ और दैवीवाणी को अर्थात् वेद वाणी को मनुष्यों पर प्रकट करता हूँ। यहां मंत्रों में बतलाया गया कि वेद-वाणी अमानवी एवं अपौरुषेय वाक् है और मनुष्यों पर इसका प्रेरणा द्वारा प्रकटीकरण परमेश्वर के द्वारा होता है।

यह वाणी जब ऋषियों पर प्रेरणारूप में आती है तब संहिता के स्वरूप में आती है। संहिता शब्द का अर्थ साधारणतया संग्रह भी होता है परन्तु यहां पर संहिता शब्द वैसा ही पारिभाषिक है जैसा कि गुण शब्द। गुण शब्द व्याकरण, न्याय, सांख्य और लोक की दृष्टि से सर्वथा भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। वैसे ही संहिता पद भी भिन्नार्थक है। वेद के लिए जो 'संहिता' प्रयोग होता है वह संग्रह अर्थ का द्योतक नहीं है। उसका विशेष अर्थ है।

१. संहिता की परिभाषा पाणिनि सूत्र (अ.१।४।१०९)[3] के अनुसार यह है— वर्णों के अत्यन्त सामीप्य की संहिता संज्ञा है। ऋक्-प्राति-शाख्य (२।१) के अनुसार पदों की प्रकृति का नाम संहिता है। इसी प्रातिशाख्य में (२।२)[4] यह लक्षण किया गया है कि पदों के अन्तों को पदों के आदियों से जोड़ती हुई जो वाणी[5] पाई जाती है वह संहिता है। यास्क कहते हैं कि सभी चरणों की प्रातिशाख्यों का यह[6] मत है

---

1. अपक्रामन्पौरुषेयाद्वृणानो दैव्यं वचः। अथर्ववेद ७।१०५।१
2. अहं दैवी परिवाचं विशश्च। अथर्व ६।६१।२
3. परः सन्निकर्षः संहिता। अ. १।४।१०९
4. पदप्रकृतिः संहिता। ऋक्प्रातिशाख्य २।१
5. पदान्तान्पदादिभिः सन्दधदेति यत्सा। ऋ. प्रा. २।२
6. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरुक्त १।१७

कि पदों की प्रकृति संहिता है। वेद संहिता-रूप में प्रकट हुये न कि पद-रूप में। पदों का विभाग निरुक्त आदि विज्ञानों के द्वारा किया जाता है। पद एक दूसरे से ऐसे लगे रहते हैं कि उनका विभाग नहीं ज्ञात होता है।

२—यह वेदवाणी गायत्री आदि छन्दों से युक्त होती है और इसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि स्वर लगे होते हैं। ये स्वर बदले नहीं जा सकते हैं। यह ऐसी रोक है कि कोई इन संहिताओं में कोई दूसरा पद घुसेड़ नहीं सकता है। इन्हीं स्वरों के आधार पर वेद की जहाँ रक्षा होती है वहाँ स्वरों से ही अर्थज्ञान भी होता है। किसी लौकिक भाषा में इन तीन स्वरों का नियम नहीं पाया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि इस स्वर को नित्य मानते हैं। महाभाष्य ५।२।५९।

३—वेदवाणी की वर्णानुपूर्वी भी नित्य है। किसी भी लौकिक भाषा में यह नियम नहीं पाया जाता है। इस वर्णानुपूर्वी के आधार को ही लेकर व्याकरण-विज्ञान के महाविद्वान् आचार्य पतञ्जलि ने छन्दों के दो भेद कर दिये हैं। उनका कथन है कि छन्द किये जाने वाले भी हैं जो शाखाओं में हैं और न बनाये जाने वाले भी हैं जो चारों वेदों की संहिताओं में हैं। जहाँ संहिता के स्वरूप से तनिक भी इधर-उधर पद-पाठ वा शाखा आदि का प्रारंभ किया कि वर्णानुपूर्वी अनित्य हो जावेगी। वर्णानुपूर्वी की नित्यता केवल संहिता के मंत्रों को ही प्राप्त है। महाभाष्यकार कहते हैं "आम्नाय[1] (वेद) में स्वर और वर्णानुपूर्वी नित्य हैं". परन्तु जब शाखा में नहीं परिगणित होगा तब शाखा के व्याख्यान भाग होने से और कृत-छन्द-रूप होने से वर्णानुपूर्वी उसकी अनित्य[2] होगी।

४—वेदवाणी यौगिक शब्दों से युक्त है इसमें रूढ़ और योगरूढ़ नहीं हैं। प्रत्येक शब्द का यौगिक ढंग पर ही अर्थ किया जाता है। इसकी वजह से यह इतनी व्यापक है कि उसके क्षेत्र को किसी भी प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता है। हृदय (हृ+द+य), सत्य (स+ति+यम्) मख (मा+ख) अग्नि, (तीन आख्यातों से बना है), मघवा (मघ+वान्; मख+वान्), यज्ञ (यज्+ज), यजु (यत्+जू), साम (सा+अम्), अथर्व (अथ+अर्वाङ्, मेहना (मह+ना; म+इह+ना) आदि पद इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस प्रकार वैदिक शब्द यौगिक हैं।

५—वेदवाणी में 'देवता' का विशेष स्थान है। यह वेदवाणी का मुख्य और

---

1. स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियतास्यवामशब्दस्य। महा ५।२।।५९—"देखें मेरी पुस्तक दयानंद-सिद्धान्त-प्रकाश" वेद शाखा प्रकरण।
2. या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं, कालापकं, मौदकं पैप्पलादकमिति। अ ४।३।१०१ महाभाष्ये।

फल है। अर्थ में इस देवता का विशेष स्थान है। यह देवता ही अर्थपति है जिसके आधार पर भिन्न-भिन्न अर्थ निकलते हैं और अर्थों का नियन्त्रण होता है। ऋग्वेद १।४०।५[1] में यह वर्णन है कि वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर प्रशस्य, ज्ञान-विज्ञानों से युक्त मंत्रों का उपदेश करता है जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवताओं ने घर किया हुआ है। ऋग्वेद १०।१३० सूक्त इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालता है।

६—वेदवाणी के प्रत्येक शब्द अभिधा वृत्ति वाले हैं। वाक्य में जब तक पदविभाग नहीं होता है—तात्पर्याख्या वृत्ति भी पाई जाती है। लक्षणावृत्ति का इसमें सर्वथा अभाव है। साथ ही इनमें अभिधामूला और व्यंजनामूला व्यंजना ही पाई जाती है—लक्षणामूला व्यंजना का सर्वथा अभाव है।

इस प्रकार यह वेदवाणी उपर्युक्त बन्धनों और गुणों से युक्त है। इसमें किसी प्रकार का प्रक्षेप नहीं हो सकता है। संसार की किसी भाषा का न ऐसा स्वरूप है और न किसी मानव-निर्मित भाषा का यह स्वरूप हो ही सकता है।

भाषाओं की उत्पत्ति—ऊपर वेदवाणी का स्वरूप बतलाया गया। अब बोलने की भाषायें किस प्रकार उससे बनती हैं—इसका विचार किया जाता है। जैसा कि ऊपर यह भी बतलाया गया है कि वेदवाणी अपने स्वरूप में संहिता रूप में है और छः नियमों में बद्ध है। जब मनुष्य संहिता या छन्द आदि का अर्थ की दृष्टि से उपस्थापन अथवा इन पूर्वोक्त नियमों का संकोच करना प्रारंभ करता है तब भाषा का रूप आने लगता है। इसकी वर्णानुपूर्वी नित्य नहीं रह जाती और यह वेदवाणी भी नहीं रह जाती है। इस वाणी के शब्दों के संकोच और म्लेच्छीकरण आदि से अनेक भाषायें बनीं। ऋग्वेद में एक और तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। वह यह है कि—अन्तरिक्षस्थानी देवगण जिस मध्यमा वाणी को तरंगित करते हैं उसी को व्यक्तवाक् और सभी प्राणी बोलते[2] हैं। इस मध्यमा वाणी में जो व्याकृत या निरुक्त रूप है वह मनुष्य बोलते हैं और जो अव्यक्त अनिरुक्त रूप है उसे पशु आदि प्राणी बोलते हैं। तैत्तिरीय शाखा ६।४।७ में कहा गया है कि पहले वाणी अव्याकृत थी। इन्द्र ने मध्य से खींचकर इसको व्याकृत कर दिया[3]। इससे यह ज्ञात हुआ कि माध्यमिक देवों के तरंगों से उठी वाणी का जो व्यक्त भाग है उसको मनुष्य

---

1. प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
   यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे। ऋ० ।१।४०।५
2. देखें लेखक की पुस्तक वैदिक-ज्योति वाग्दर्शन प्रकरण।
3. वही पुस्तक और वही स्थल।

बोलते हैं और अव्यक्त भाग को पशु आदि बोलते हैं। शब्द कंपनों वा तरंगों से तरंगित होते हैं। वैदिक वाणी के संकोच और मध्य देवों के इन तरंगों में तरंगित निरुक्त एवं व्याकृत रूप वाणी को ही लौकिक भाषा वा लौकिक संस्कृत का रूप प्राप्त हुआ। इस लौकिक संस्कृत में वैदिकी वाणी से संकोच को प्राप्त शब्द और इन तरंगों से प्राप्त यदृच्छा आदि शब्द सम्मिलित हैं। जिन यदृच्छादि शब्दों का व्याकरण कर दिया गया वे व्याकृत होने से भाषा में सम्मिलित हो गए। इस प्रकार सर्वप्रथम लौकिक संस्कृत भाषा बनी जो बोलचाल की भाषा है। परन्तु जैसा पूर्व लिखा जा चुका है - यह संकोच के आधार पर बनी—विकास के आधार पर नहीं। वैदिक शब्दों का किस प्रकार संकोच कर इस भाषा में लिया गया इसका क्रम निम्न प्रकार निर्धारित किया जा सकता है —

आर्ष-संकोच-क्रम और मानव-संकोच-क्रम।

आर्ष-संकोच-क्रम— वैदिक शब्दों का यह संकोचक्रम वह क्रम है जो ऋषियों के द्वारा लौकिक भाषा के निर्माण में किया गया। वेदवाणी जो संहिता रूप में थी ऋषियों द्वारा छन्दः, देवता, सूक्त आदि का निर्धारण करने से पुनः पदपाठ और शाखाओं आदि का प्रणयन हुआ। इससे संहिता और वर्णानुपूर्वी का संकोच हुआ। शाखाओं और पदपाठ आदि की न वर्णानुपूर्वी है और न वे संहिता ही हैं। शाखाओं में मन्त्रों के व्याख्यान को बताने के लिए पर्यायवाची शब्द रख दिए गए हैं। परन्तु इनमें स्वर और वर्णानुपूर्वी की नित्यता न होकर अनित्यता हो गई है। पुनः वेद के वेदांग और उपांग तथा उपवेदादि को बनाकर ऋषियों ने शब्दों को परिभाषा आदि में बांध दिया। वेद-भाषा में स्वर, यौगिकता और देवता तथा वैदिक छन्द आदि थे, उनका संकोच हो गया। क्योंकि इनमें शब्दों की परिभाषा विशेष बनाई गई है और स्वर तथा देवता आदि के द्वारा इनकी भाषा के शब्दों के अर्थ की आवश्यकता नहीं रह गई। इनका रूप लौकिक संस्कृत का हो गया। ब्राह्मण ग्रंथों में यौगिकता का भाग तो कुछ अंश तक रहा परन्तु स्वरों का वैदिक ऐश्वर्य रूप नहीं रह गया। इनमें भाषिक स्वर प्रयुक्त होने लगा। श्रौत आदि ग्रन्थों में जो ऊह करने का विधान है वह भी इस संकोच की एक कड़ी है। इस प्रकार वैदिक वाणी में लौकिक संस्कृत (देववाणी) तक आने में संहिता, वर्णानुपूर्वी की नित्यता, यौगिकता, अभिधावृत्ति की व्यापकता, देवता, स्वर आदि का संकोच हो गया। लौकिक भाषा में न देवता की आवश्यकता रही, न स्वर की, लक्षणा वृत्ति और रूढिता आदि ने स्थान ग्रह किया। शब्द यौगिक न रहकर यौगिक, रूढ और योगरूढ बन गए। यौगिकता भी बहुत अल्प सीमा में रह गई। अभिधा वृत्ति ही न रहकर अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्तियाँ बन गईं। प्र[illegible] की भी [illegible] कता बहुत कम हो गई।

साथ ही इस लौकिक भाषा में मध्यमा के आधार पर बहुत से व्याकृत और अव्याकृत शब्द आये। देवभाषा नाम लौकिक संस्कृत का इसलिए है कि यह वेद मंत्रों (जो देवता कहे जाते है) से संकोच को प्राप्त कर बनी और मध्यमा वाणी (जो अग्नि, वायु, मेघ आदि देवों से प्रकट होती हैं) से बनी है।

मानव-संकोच-क्रम—इनके अतिरिक्त मनुष्यों को उच्चारण की क्लिष्टता होने से उन्होंने बहुत से पदों का संकोच किया जो भाषा मे सम्मिलित हैं। यदृच्छा शब्द भी पर्याप्त मात्रा में इसमें सम्मिलित है। वैदिक धातुवों से लौकिक प्रत्यय और लौकिक धातुओं से वैदिक प्रत्यय के भी पद इस लौकिक भाषा में सम्मिलित हैं। यह संस्कृत लौकिक भाषा है। इनमें भी मानव-संकोच-क्रम चालू रहने से प्राकृत और पाली आदि भाषायें बनीं। इस प्रकार यह संस्कृत और पाली आदि का रूप सामने आया।

आसुर-संकोच-क्रम इसके अनन्तर संस्कृत से अनेक देशी और विदेशी भाषावों के बनने में एक और क्रम चालू रहा जिसको आसुर-संकोच-क्रम कहा जाता है। यह क्रम वह है जिससे विविध विदेशी भाषायें और एतद्देशीय भाषायें बनी। इसको ही भाषा का म्लेच्छीकरण अपभ्रंश आदि विधियों का नाम दिया जाता है। विविध विदेशी भाषायें जिनमें ज़न्द भी सम्मिलित है लौकिक और वैदिक शब्दों के म्लेच्छीकरण से ये भाषायें बनी हैं। जहाँ लौकिक संस्कृत के निर्माण तक संकोच का बाहुल्य रहा वहाँ इसके साथ आगे देशी विदेशी भाषावों के निर्माण में अपभ्रंश का कार्य अधिक तीव्रता से चला। जो लोक-भाषा के विकास की बात करते हैं उनको यह भ्रम है। वस्तुतः अपभ्रंश का विस्तार बहुत बड़ा है। जहाँ शुद्ध शब्दों का विषय महान् है वहाँ बिगाड़ का रूप उससे भी विस्तृत है क्योंकि इसमें एक ही शब्द के अनेक विकृत रूप बन जाते हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने इसी आधार को लेकर कहा है कि शब्दों का उपदेश तो लघु है परन्तु अपशब्दों का[1] उपदेश बहुत बड़ा है। एक-एक शब्द के ही बहुत से अपभ्रंश पाये जाते है। जैसे एक ही 'गौ' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश है। इन अपभ्रंशों का म्लेच्छीकरण में ही सन्निवेश है। इस प्रक्रिया मे संकोच के साथ अपभ्रंश अधिक तीव्रता से बढ़ते हैं।

म्लेच्छीकरण का वैदिक लोग बहुत ख्याल रखते थे। यहाँ तक कि यज्ञ में

---

1. लघीयाञ्छब्दोपदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः: एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।
महाभाष्य ३।३।२

लौकिक भाषा का प्रयोग नहीं होने पाता था। याज्ञिक यज्ञकाल में व्यवहार की भाषा नहीं बोलते थे। इस म्लेच्छित भाषा का नाम असुर्यावाक् वा भाषा रखा गया था। यह म्लेच्छीकरण आसुर समझा जाता था। म्लेच्छ धातु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अव्यक्त शब्द अर्थात् अपशब्द अर्थ में प्रयुक्त है। मानव-धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु ने दस्युवों में भी म्लेच्छवाक् और आर्यवाक्[1] दो प्रकार के लोगों का वर्णन किया है। अर्थात् जिन दस्यु जातियों में वैदिक धर्म का लोप हो गया उनमें भी पूर्व संस्कारवश आर्यभाषा बोलने वाले थे। आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईरान, उत्तर वायव्य और पश्चिम देशों में रहने वालों को ही म्लेच्छ और असुर कहा जाता था। अन्य कारणों के अतिरिक्त एक बड़ा कारण इनके म्लेच्छ कहे जाने का यह भी था कि ये म्लेच्छ भाषा बोलते थे। एक प्रमाण इस विषय में शतपथ ब्राह्मण और अन्य ग्रन्थों का बहुत ही महत्वपूर्ण है।

शतपथ ३।२।१। २३-२४ में लिखा है कि वे असुर लोग पराभूत-वाणी[2] वाले होकर हे अलव हे अलव बोलते हुये पराजित हुये। देवों ने इस वाणी से कहा कि यह तो म्लेच्छ अपशब्द है अतः ब्राह्मणों को म्लेच्छ वाणी नहीं बोलनी चाहिए। यह तो असुर्या वाक् है। इगलिंग[3] द्वारा अनूदित शतपथ ब्राह्मण के फुटनोट में इस स्थल पर लिखा गया है कि काण्व शाखीय शतपथ ब्राह्मण में "हैलोहैल" ऐसा असुरों के द्वारा बोला जाना लिखा है। परन्तु महाभाष्य १।१।१ में "हेलयोहेलयः" पाठ है। इस प्रकार देखा गया कि "हे अरयः, हे अरय." का आसुर प्रयोग जो असुरों के म्लेच्छित उच्चारण से बना वह—हे अलव., हे अलवः, हैलोहैल, तथा हे अलयः हे अलय'—तीन प्रकार का बना। काण्व शाखीय पाठ को ले लीजिये और आजकल कई बाबुओं का टेलीफोन का "हैलो-हैलो" ले लीजिये दोनों एक से मिलेंगे। हैलोहैल ठीक ऐसा ही जंचता है। ये उदाहरण म्लेच्छीकरण के हैं। इनसे सदा ब्राह्मण लोग बचते रहते थे। किस प्रकार म्लेच्छीकरण से भाषा में परिवर्तन हो गया, इसका

---

1. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः १०।४५, म्लेच्छदेशस्ततः परः। मनु २।२३

2. तेऽसुरा आत्तवचसो हेलवो हेऽलवइति वदन्त. पराबभूवु'। तत्रैतामपि वाचमूदुः उपजिज्ञास्यां स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वाक्। शतपथ ३।२।१।२३-२४।

3. See footnote No 3 of the Shatpatha translated by Professor Eggeling

4. तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त पराबभूवु। तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। महाभाष्य १।१।१

शतपथ ब्राह्मण और महाभाष्य का वतव एक ज्वलन्त उदाहरण है। जन्द, अंग्रेजी तथा दूसरी विदेशी भाषाओं का यदि सस्कृत से मिलान किया जावे तो पता चलेगा कि किस प्रकार आसुर संकोच और अपभ्रंश से ये भाषायें बन गई हैं। महाभाष्य में "यद्वा नः तद्वा[1] नः" वाक्य का भी म्लेच्छ एवं आसुर प्रयोग 'यर्वाणः तर्वाणः' दिया गया है। इस प्रकार के अन्य अनेकों उदाहरण दिये जा सकते है।

यहाँ पर इस अपभ्रंश के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि अपभ्रंश कभी नियमित होते हैं और कभी अनियमित। यदृच्छा और भी इसकी पीठ को ठोंक देता है। यहाँ पर उदाहरण के लिए कुछ थोडा सा वर्णन दिया जाता है। संस्कृत से अपभ्रंश होकर एक भाषा और पुनः उस भाषा से अपभ्रंश होकर दूसरी और इस प्रकार तीसरी—ऐसे परम्परा से अनेक भाषायें बन जाती है।

सस्कृत का 'घटः' शब्द घड़ा और घृत शब्द घी, तथा दुग्ध शब्द दूध रूप में अपभ्रष्ट हुये। इसी प्रकार आंख अक्षि का, कान कर्ण का, नाक नासिका का, जीभ जिह्वा का और पीठ तथा कन्धा पृष्ठ और स्कन्ध के अपभ्रंश हैं। इसी प्रकार आर्यपुत्र का अज्जउत्त, गर्दभः का गद्रभ और गद्दह पुनः गधा आदि अपभ्रंश हैं। पाली प्राकृत ऐसे उदाहरणों से भरी हैं। इसी प्रकार यूयम् से यू, वयम् से वी, गूढ से गॉड, द्यौष्पितर से ज्यूस्पैटर और जुपिटर तथा 'गौः' से काऊ आदि शब्द अपभ्रष्ट होकर बन गये है।

एक ही पदार्थ के बहुत नाम हैं। इनमे भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द बन जाते हैं। इसी प्रकार एक पदार्थ बहुत नामों वाला होता है—जैसे वानर, घोड़ा, सिंह, सूर्य, मनुष्य देव और चोर का नाम हरि है। किसी देश में सिंह नाम से उस पशु का ग्रहण देखा जाता है और किसी देश में 'हरि' से सिंह का ग्रहण होता है। किसी देश में हरि से घोडे का ग्रहण और किसी में सूर्य तथा किसी ने चोर का ग्रहण किया। इसमें भी देश-भाषा भिन्न-भिन्न हो गई। एक ही अर्थ में आने वाली अनेक धातुओं में से भिन्न-भिन्न देश वाले अपने अनुसार भिन्न धातु उसी अर्थ में प्रयुक्त कर लेते हैं। महाभाष्यकार[2] पतञ्जलि ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि इस महान्

---

1. ते तत्र भवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते। याज्ञे पुन; कर्मणि नापभाषन्ते तं पुनरसुरः याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः। महा १।१।१

2. एतस्मिंश्चाति महति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्रतत्र नियतविषया दृश्यन्ते तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु। गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। —महा. भा. १।१।१

शब्दप्रयोग के विषय में वे-वे शब्द उन-उन देशों में नियत देखे जाते हैं। गत्यर्थक 'शव्' धातु का प्रयोग कम्बोज में होता है। हम्म का सौराष्ट्र में, 'रंह' का प्राच्य और मगध में, आर्यावर्त्त में 'गम्' का ही प्रयोग होता है। भाष्यकार ने यहाँ पर यह भी बतलाया है 'शव्' धातु का आर्यावर्त्त में विकार अर्थात् 'शव'—मृत शरीर के अर्थ में प्रयोग होता है। शतपथब्राह्मण में रुद्र अर्थात् अग्नि के नव नामों का वर्णन करते हुए भी ऐसा ही एक वर्णन पाया जाता है।[1] मीमांसा सूत्र १।३।४[2] आर्य-म्लेच्छ-प्रसिद्धि प्रकरण में भाष्यकर्त्ता ने लिखा है कि कई लोग दीर्घ शूकों में यव शब्द का प्रयोग करते हैं कुछ लोग प्रियगु के अर्थ में प्रयोग करते हैं। कई लोग सूकर अर्थ में वराह शब्द का प्रयोग करते हैं और कई लोग कृष्ण शकुनि के अर्थ में। वेतस शब्द का प्रयोग कई बेत अर्थ में करते हैं और कई जम्बवान् के अर्थ में करते हैं। ये प्रयोग देश विशेष के हैं। मूल वेद में यव और प्रियगु पृथक् हैं[3]। इसी प्रकार वराह का अर्थ वेद में मेघ भी है। अगिरम् देवगण भी वराह हैं[4]। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रयोग देखे जाते हैं।

ध्वनि के विकारों से भी शब्दों में फेर पड़ जाता है जैसे कहीं-कहीं पर 'य' के स्थान में 'ज' का और "ज" के स्थान में 'य' का उच्चारण लोग कर देते हैं। यज्ञ को जग्य, यमुना को जमुना, जागादि को यागादि, जनपद को 'यणपद' आदि प्रयुक्त करते हैं। कभी तालव्य 'शकार' को मूर्धन्य 'ष' और दन्ती 'स' में परिवर्तित करने पर भी पर्याप्त अन्तर पड जाता है। महाभाष्यकार ने इसी दोष के निवारण को दृष्टि में रखकर कहा है—शश षष न हो जावे, पलाश पलाष और मञ्चक मञ्जक न हो जावे—अतः स्वर, वर्ण आदि का आनुपूर्वी ज्ञान आवश्यक है। (देखें महाभाष्य १।१।१)। कभी उच्चारण में शब्दों में भेद हो जाता है और शब्द अपभ्रष्ट होकर अन्य बन जाते हैं। जैसा कि 'ज्ञ' के ज+ञ+अ के मेल से बने होने पर भी कई ज्ञ बोलते हैं। कई ग्यँ बोलते हैं और कई 'ग्न' तथा कई देश भेद से द्न बोलते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित बात है कि 'वेदवाणी' परमेश्वर-प्रदत्त और पूर्ण वाणी है। लौकिक संस्कृत भाषा उस वाणी के सकोच से बनी और उससे पुन. ऊपर

---

1. अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीका॥श० १।७।३।८
2. तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यव शब्दं प्रयुञ्जते केचित्प्रियङ्गुषु।
   वराहशब्दं केचिद्वञ्जुलके कचिज्जम्बति। मीमांसा भाष्य।
3. यजुर्वेद १८।१२॥
4. निरुक्त ५।१

बतलाये गये नियमों से विभिन्न देशीय और विदेशीय भाषायें बनीं। थोड़ा दिग्दर्शन कराकर पुनः इस विषय पर आगे बढ़ना उचित होगा।

भाषा-शास्त्री भाषाओं के तीन विभाग करते हैं—आर्य, सेमिटिक और तूरानी। परन्तु यह भेद बिल्कुल ही कृत्रिम और कल्पित है। विचार से देखने पर मालूम पड़ेगा कि सभी में समता है और सभी एक आर्य भाषा से ही विकृत होकर बनी है।

वैदिकी वाक्	आर्य	सेमिटिक	तूरानी	अर्थ
अम्ब	सं० अम्ब	सीरियन—आमो सामोपेडिक—अम्म अर्बी—उम्म	द्राविडी—अम्मा मीथियन-अम्मारा अम्मेद मलयाली—अम तुलु - अप्पा चीनी—मा	माता
द्यौः	सं० द्यौः अं—डे ग्री० ज्यूस	अर्बी—योः	चीना—तीः जापानी—दे तेलगू—दिवमु	सूर्य
इरा इला इडा	सं०—ईरा ग्री०—एरा लेटिन—टेरा जर्मन—एर्द (Erda) पु. अं. अर्थ (Earthe) न. अं. अर्थ (Earth)	हिब्रू—ऐरछ अर्बी—अर्ज जेरत		......

इससे स्पष्ट है कि तीनों भाषा परिवारों का मूल एक है

वैदिकी वाक्	संस्कृत	फार्सी	अंग्रेजी	अर्थ
पितरः	पितरः	पिदर	फादर	पिता
मातरः	मातरः	मादर	मदर	माता
दुहितरः	दुहितरः	दुख्तर	डाटर	लड़की
भ्रातरः	भ्रातरः	बिरादर	ब्रदर	भाई
विधवा	विधवा	बेवा	विडो	विधवा

यहाँ पर भी वेदवाणी मूल से ही तीनों भाषायें निकली दिखाई पड़ती हैं।

संस्कृत	अंग्रेजी	अर्थ।
समिति	कमिटी	सभा
तरु	ट्री	वृक्ष
ऋत	राइट	सत्य

संस्कृत	अंग्रेजी	अर्थ
पशुचर्	पास्चर	चरागाह
सप्तकोण	हेप्टागोन	सप्तकोण
त्रिकोणमिति	ट्रिग्नो मेट्री	त्रिकोणमिति
ज्यामिति	ज्या मेट्री	ज्यामिति
दशमलव	डेसीमल	दशमलव
बृन्द	बैण्ड	१६ बाजे वालों का समूह
चरित्र	कैरेक्टर	आचरण
नास्ति	नॉट	नहीं
अस्ति	आंट	हाँ
नाम	नेम	नाम
भ्रू	ब्रो	भौंह

संस्कृत	अरबी	अर्थ
हर्म्य	हरम	महल
सुर	हूर	देवता
अन्तकाल	इन्तकाल	मरना
कीर्तन	किरतंग्रन	पढ़ना
पष्ठ	सित्ता	छ.
सप्त	सब्बा	सात

संस्कृत	सोहेली	अर्थ
ध्यान	धानी	विचारना
द्यौ	जुवा	सूर्य
जम्बू	जम्वारक	जामुन
सिंह्	सिम्बा	शेर
पष्ट	सीता	छः
सप्त	सबा	सात

सस्कृत	यूनानी	अर्थ
श्वान	श्यान	कुत्ता
श्रुत:	क्लूटोस	सुना
शिर:	के.रोन	सिर
दश	डेक	दस
ददर्श	डेडर्क	देखा

सस्कृत	मिश्री	अर्थ
आप	आप	पानी
नर	ना	मनुष्य
रसना	रस	जिह्वा
वास	आस	घर
क	क	आत्मा

सस्कृत	हिब्रू
वैदिक-यहृव:	जिहोवा
अर्ह	यलिह
आदिम वैदिक	आदम
इलीविश	इब्लीस
स्तेन	शैतान

सस्कृत	चीनी	अर्थ
स्थान	तान	स्थन
द्युस्थान	टियन्टान	स्वार्ग
अम्बा	मा	माता
जनस्थान	जिनस्तान	पृथिवी
होम	घोम	हवन
लिग	लंग	चिन्ह ।

संस्कृत	जापानी	अर्थ
का, कः, किम्	का	क्या
द्यौः	दे	सूर्योदय
शिष्य	शोसेई	शिष्य
अहिफेन	आहेन	अफ़ीम
यम	इम्मा	यम
कनक	किनका	सोना

संस्कृत	द्राविड (तेलगू)	अर्थ
इह	ई	यहाँ
गौः	औ	गाय
अम्बुद	मब्बु	मेघ
मेष	मेक	बकरा, भेड़
दैवम्	दय्यमु	भूत प्रेत
काक	करकि	कौवा
द्यौ	दिवमु	सूर्य

संस्कृत	जन्द	अर्थ	संस्कृत	जन्द	अर्थ
पशु	पशु	जानवर	सप्त	हफ्त	सात
उक्षन्	उक्षन्	बैल	सेना	हेना	फौज
यव	यव	जौ	हस्त	जस्त	हाथ
वैद्य	वैद्य	वैद्य	आहुति	आजुति	आहुति
वायु	वायु	हवा	अहि	अजि	सर्प
इषु	इषु	बाण	अजा	अजा	बकरी
रथ	रथ	गाड़ी	जानु	जानु	घुटना
गान्धर्व	गान्धर्व	गायक	अश्व	अस्प	घोड़ा
अथर्वन्	अथर्वन्	ऋषि-यक्ष	स्वप्न	ख्वान	सपना
गाथा	गाथा	पवित्र पुस्तक	गोमेध	गामेज	सेनी
इष्टि	इष्टि	यज्ञ	वेद	वइद	वेद
			छन्द	जन्द	अथर्ववेद

यहाँ तक संक्षेप में उदाहरण आदि से यह दिखलाया गया कि वेदवाणी संस्कृत और पुनः अपभ्रंश आदि होकर संसार की समस्त भाषायें बनीं। अब भाषा-विज्ञान के आधार पर किये जाने वाले कुछ आक्षेपों का उत्तर दिया जावेगा और पुनः इस

कल्पित विज्ञान की व्यर्थता और इतिहास-निर्णय में असमर्थता पर विचार किया जावेगा।

१. आक्षेपों के समाधान—वर्तमान समय मे भाषा-विज्ञान के विद्वानों का यह कथन है कि सभी भाषावों का मूल वैदिक-वाणी वा संस्कृत नहीं है। वर्तमान मे आर्य, सेमिटिक और तूरानी आदि जो भाषा-भेद पाये जाते है इनसे प्रकट होता है कि कोई एक भाषा थी जो सबका एक मूल थी परन्तु अब वह नष्ट हो चुकी है और इण्डोयोरुपीय भाषा ही इन सब भाषाओं का मूल है। ऐसी स्थिति मे वैदिक भाषा का भी मूल यही है और यह सब भाषावों की माता वा मूल न होकर जन्द और ग्रीक आदि भाषावों की भगिनी है। वेद मे दूसरी भाषाओं के शब्द और इस भाषा की न्यूनतायें इसके प्रमाण है।

इस आक्षेप का समाधान करने से पूर्व यह कह देना सर्वथा समुचित है कि 'इण्डोयोरुपीय' कोई भाषा नहीं। यह केवल कुछ विदेशियों की कल्पना है। यह सर्वांशत: कल्पित और मनघडन्त है। संसार के किसी भी भाग में इसके अस्तित्व को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। अभी तक संसार की समस्त भाषावों का न पूरा-पूरा व्याकरण जाना जा सका है और न जांच की जा सकी है। केवल कुछ भाषावों के कल्पित सामंजस्य और असामंजस्य को लेकर इतनी बड़ी कल्पना करना मिथ्या है। इस थोथे आधार पर आधारित भाषा-विज्ञान (Philology) कोई विज्ञान नहीं है। इसके कोई वैज्ञानिक नियम नहीं है—फिर भी इसे विज्ञान कहना विज्ञान शब्द का ही उपहास करना है। इण्डोयोरुपीय में भी तो इण्डो मूल लगा ही है। जब ऐसी भाषा इनकी मूल है जिसमे आर्य और योरुपीय दोनों प्रकार के शब्द थे तो फिर यह प्रश्न उठेगा ही कि जहाँ दो प्रकार का मूल है वह आदि भाषा किस प्रकार है। क्योंकि नियमत:तो एक ही भाषा मूल में होनी चाहिए। इस प्रश्न से बचने के लिए यह कल्पना की गई कि इसके पूर्व एक भाषा थी जो लुप्त हो गई और अज्ञात है। पूछना चाहिए कि भाषा तो अपनी अन्त:साक्षियों और व्याकरणों आदि से जानी जाती है। जब वह अज्ञात और लुप्त है तो फिर बिना इन साधनों के उसका अस्तित्व किस प्रकार जाना गया। कहना पड़ेगा कि यह कोरी कल्पना मात्र है।

भारत में कुछ ऐसे भी कठहुज्जती लोग है जो कहते है कि "विंशति." पद संस्कृत भाषा का है। इसका लेटिन मे विगिन्टी होता है। जर्मन में ट्स्वान्ट्सिक है। अंग्रेजी मे ट्वयन्टी है। अब देखना है कि अंग्रेजी मे 'ट' की आवाज कहाँ से आई। क्योंकि संस्कृत मूल में तो 'त' है नहीं। अत. यह मालूम पडता है कि कोई एक अज्ञात भाषा थी जिसमें बीस के लिए 'द्वि दशति' का प्रयोग होता था और उससे यह अंग्रेजी का पद बना होगा और उसी से 'विंशति.' भी बना होगा। परन्तु यह ज्ञात

होना चाहिए कि 'विंशति:' पद भी संस्कृत व्याकरण में 'द्विदशति:' से निपातित है। 'दशति' पद किसी अन्य भाषा का नहीं बल्कि संस्कृत भाषा का ही है। महाभारत-कालिक यास्क अपने निरुक्त(१०।४०)में ऋग्वेद के लिए 'दाशतयी' का प्रयोग करता है जो 'दशति' से बना है। सामवेद के वर्गीकरण मे भी 'दशति' का प्रयोग होता है। यास्क ने निरुक्त ३।६ पर 'विंशति:' और शत[1] की निरुक्ति करते हुए लिखा है कि द्विदश मे विंशति और दश दश से शत बनता है। शतपथ ७।५।२।४४ मे विश् धातु से 'विंशति' बनाया गया है। इस प्रकार जब महाभारत-काल में और उसके पूर्व भी संस्कृत में यह प्रयोग था तो इसके लिए अज्ञात भाषा की कल्पना करना और वेद से भी पूर्व कितनी अनुचित बात है। वेदों में त्रिः सप्त आदि व्यवहार गणना के विषय में पाये जाते हैं।

कैसी-कैसी कल्पनायें इस भाषा-विज्ञान के विषय में की गई हैं—और इस नाम के ईजाद करने में क्या कुछ किया गया है इसका एक संक्षिप्त वर्णन श्री डा०[2] सम्पूर्णानन्द की पुस्तक आर्यों के आदि देश से दिया जाता है। डाक्टर जी लिखते हैं "आदि भाषा को कुछ लोगों ने पहिले इण्डो-यूरोपियन (भारत-यूरोपीय) कहा। यह नाम बहुत व्यापक था। दूसरा नाम इण्डोजर्मन (भारतजर्मन) सोचा गया, इसलिए कि यह सब खोज जर्मनी से ही प्रारम्भ हुई और जर्मन विद्वान् अपनी भाषा को प्रधानता देना चाहते थे। परन्तु इसी कारण से यह नाम दूसरों को नापसन्द हुआ। इसके पहिले इस भाषा के लिए संस्कृतिक नाम भी सोचा गया था पर यह भी बहुत संकीर्ण प्रतीत हुआ क्योंकि इसमे दूसरी भाषावों की अपेक्षा संस्कृत का महत्व बढ़ गया। अन्त में आर्य (यूरोप में आर्य्यन) नाम प्रचलित हुआ। आरम्भ में यह नाम संस्कृत-जेन्द और इनसे निकली भाषावों के लिए रक्खा गया था परन्तु अब यह पुरानी मातृभाषा के लिए प्रयुक्त हो गया।" यहाँ इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इस नाम की कल्पना में क्या भावनायें निहित थीं। यह भी प्रकट है कि यह विज्ञान के आधार पर नहीं बल्कि कल्पना के आधार पर है और इसमें कोई तथ्य नहीं है।

इस प्रकार इण्डोयूरोपियन कोई भाषा नही जो सबका मूल हो सके और अज्ञात भाषा का इन सबका मूल होना निरर्थक होने से सहज ही पहले दिखाई गई भाषा की साक्षियों के आधार पर वैदिकी वाणी को ही सब भाषावों का मूल कहना सर्वथा उचित है। मैक्समूलर ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है कि "यदि तुम यह कहना चाहते हो कि भाषा के प्रारम्भ अनेक हुये तो तुम्हें यह बात असंभव सिद्ध

1. 'विंशतिर्द्विदशत. शतं दशदशत' । नि. ३।६

2. आर्यों का आदि देश, पृ. २३

करनी चाहिए कि सब शाखावों का एक ही आदिमूल था[1]।" पुन. वे अन्यत्र लिखते हैं" समस्त भाषापरिवार" एक ही प्राचीन भाषा की शाखायें" हैं" आर्य और सेमिटिक दोनों एक ही मूल भाषा की दो धारायें हैं—यह भी प्रोफेसर मैक्समूलर ने स्पष्टतः स्वीकार किया है[3]। टेलर महोदय का कथन है कि "अब तक दोनों शाखाओं में अनेकों शब्द एक ही रूप के मिलते[4] हैं। तुरानी शाखा, समस्त मंगोलियन और इथियोपिक जातियों की बोलियों में प्रयुक्त होती है। इसका विस्तार आस्ट्रेलिया की भाषा से लेकर मद्रास की द्राविड़ भाषावों तक है। "ब्रिटानिका विश्वकोश" बतलाता है कि अनेकों शब्द मद्रास और आस्ट्रेलिया में एक ही रूप के बोले जाते हैं।[5] मद्रास की तेलगु आदि भाषावों के सम्बन्ध में केम्बेल का कहना है कि ये भाषायें भी वेद भाषा से ही निकली[6] हैं। इस बात का समर्थन रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी के जरनल में भी होता है जो सन् १८७० में प्रकाशित हुआ था[7]। इसी प्रकार यह भी एक तथ्य है कि संस्कृत एक समय समस्त पृथिवी पर बोली जाती[8] थी। इस प्रकार यह सुतराम सिद्ध है कि वैदिकी वाणी ही संसार की समस्त भाषावों का मूल है। भाषाविशारदों की कल्पित इण्डोयूरोपीय अथवा अज्ञात भाषा संसार की भाषावों की मूल नहीं है।

२—संधि के नियम को आधार मान कर कई भाषा वैज्ञानिक यह कहते हैं कि संस्कृत भाषा में साधारणतया एक ही शब्द में निवृत्ति (संधि का न होना) नहीं देखा

1. Maxmuller's 'Science of Language' Part I. Page 166.
2. What are called families of languages are only dialects of an earlier speech. —China's Place in Philosophy.
3. This does not, however, exclude the possibility that both (Sanskrit & Semetic) are diverting streams of the same source and ....that the material elements with which they both started were originally the same Lecture on the Science of Language, Vol. I P. 316.
4. Delitzsch goes deeper He claims to have identified one hundred Semitic roots with Aryan roots Tailor's Origin of Aryan.
5. The aboriginal tribes in southern and western Australia use almost the same words for I, thou, he, we, you etc as fishermen on the Madras Coast —Encyclopaedia Britanica Volume III Page 778 Ninth Edition.
1. It has been generally asserted and indeed believed that the Telgu has its origin in the language of the Vedas,—Cambells Telgu grammar Introduction Page XV.
2. But this is admitted on all hands that a very large portion of their (Non-Aryan language) Constituent parts is of Aryan origin Journal of Royal Assiatic Society 1870. Vol I P. 150.
8. At one time Sanskrit was the one language spoken all over the world. Edinburgh Review Vol II & III P. 43

(See auther's book Vedic Jyoti also)

जाना है परन्तु ऋग्वेद १०।७१।२ मन्त्र में आये 'तितउ' शब्द में विवृत्ति पाई जाती है अतः यह शब्द कहीं बाहर से आया होगा।

इसका समाधान यह है कि जिस विषय की बात कही जा रही है वह साधारण है —विशेष नहीं। फिर विशेष नियम को साधारण में घटाया कैसे जा सकता है। तितउ' पद उणादिसूत्र 'तनोतेर्डउः— सनवच्च सूत्र से बना है। यह वैदिक पद है। वेद में अपवाद के नियम भी हैं। 'बहुलं छन्दसि' का नियम वेद में लगता है। साथ ही व्याकरण वेद का अङ्ग है। अतः वेद के प्रयोग लौकिक व्याकरण के नियम में बांधे नहीं जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्याकरण के महाविद्वान् स्वयं भाष्यकार पतंजलि हैं और व्याकरण की कृत्स्नता निरुक्त शास्त्र से होती है जिसके आचार्य यास्क हैं। दोनों के सामने यह पद आ चुका है। उन्होंने भी इस पर व्याकरण की कोई आपत्ति नहीं देखी। जब व्याकरण के नियमों से इसकी निष्पन्नता धातु, प्रत्यय आदि के साथ आचार्य लोग करते आ रहे हैं और महाभारत-कालिक आचार्य इसका इसी प्रकार नियमित व्याकरण करते आ रहे हैं तो यह कहना कि यह पद कहीं बाहर से आया होगा सुतराम् गलत है। यह वेद का पद है—वैदिकी वाक् है। संस्कृत में अमरकोष और त्रिकाण्ड शेष आदि कोषों में नपुंसक प्रयोग भी इसका पाया जाता है। संस्कृत में वैदिक से आया है और 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।' के अनुसार इस भाषा में विराजमान है। निघण्टु ४।१ में 'तितउ' पद है। निरुक्त ४।६ पर यास्क ने इसकी व्याख्या की है। यदि ऐसी ही अनर्गल कल्पनायें करनी हों तो कोई भी कर सकता है। परन्तु व्याकरण आदि का जानने वाला कभी ऐसी थोथी बात नहीं करेगा वेद में ही सुरणी और सयुजौ तथा 'सखायौ के स्थान में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया पाठ है। यह वेद का विशेष नियम है। परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रयोग बाहर से आ गया है। वेद में पुनर्वसु और विशाखा एक वचन में प्रयुक्त होते हैं। भिस् को ऐस् में भी विकल्प है, लेट् लकार भी अधिक होता है। और 'तुमुन्' के अर्थ में से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन् आदि प्रत्यय होते हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि ये शब्द कहीं बाहर से आये होंगे। ऋग्वेद १०-१०६-६ मंत्र में जर्भरी, तुर्फरीतू, पर्फरीका, जेमना, मदेरू, मरायु आदि पद आये हैं। देखने में मालूम पड़ते हैं कि ये बाहर के शब्द होंगे जो एक ही मंत्र में एकत्र कर दिये गए हैं। परन्तु विचार करने पर पता चलेगा कि इनका भी व्याकरण है और नियम है। भाषा विज्ञान वालों की एक यह बड़ी भारी त्रुटि है कि वे कल्पना और गलत धारणाओं की उड़ान में उड़ते हैं। महाभारत-कालिक यास्क और जैमिनि ने पूर्वपक्ष उठाकर इन शब्दों को लेकर उत्तर भी दिये हैं। जब तीन सहस्र ईस्वी पूर्व भी ये पद वेद में विद्यमान थे तो ऋग्वेद को १००० वर्ष ईस्वी पूर्व मानकर बाहर की भाषा से इनके आने का प्रश्न ही क्या

उठता है। उस समय तो संसार की और कोई भाषा आ ही नहीं से सकती थी। साथ ही वेद तो उससे भी पूर्व विद्यमान थे। जैसा कि भूगर्भशास्त्र के प्रकरण में सिद्ध कर आए हैं। तथा महाभारत से पूर्व ही नहीं बहुत पूर्व के ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में भी वेदों का वैसा ही वर्णन है।

३—स्वर्गीय श्री बालगंगाधर लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि वेदों में विदेशी भाषा के शब्द पाए जाते हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद में आये आलिगी, विलिगी, उरुगूला और तावुव शब्द चाल्डियन भाषा के हैं। इन शब्दों का वास्तविक अर्थ भी वहीं पर प्रचलित था। उन्हीं के संसर्ग से ये शब्द वेद में आये। वैदिक एज के लेखक ने तावुव शब्द का लक्ष्य लिखा है कि "सिलवेन लेवी ने हमारे ध्यान को इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है कि अथर्ववेद का 'तावुव' पद एवेबग (१८७६) और वार्थ के अनुसार पोलीनेशियन शब्द तापु और तावु से सम्बद्ध है[1]।

इसका समाधान यहाँ पर किया जाता है। ये सभी शब्द अथर्ववेद में पञ्चम काण्ड के १३वें सूक्त के ७वें, ८वें और १०वें मन्त्र में आए हैं। इस सूक्त का देवता प्रजापति है और सर्पों के विष का निवारण करने का वर्णन है। इसी प्रसंग में ये शब्द भी आये हैं। यह भ्रम इन विद्वानों को क्यों है कि ये शब्द बाहरी देशों की भाषा के हैं—कहा नहीं जा सकता है। ये वेद से ही दूसरे देशों की भाषा में गए ऐसा क्यों न स्वीकार किया जावे। वस्तुतः बात तो यह है कि इन पर इस त्रुटिपूर्ण भाषा-विज्ञान की छाप पड़ी है और उसी के अनुसार ये बोल रहे हैं। इन्हें यह भी तो देखना चाहिए था कि इन शब्दों का मूल क्या है। यदि ये शब्द चाल्डियन भाषा के हैं तो फिर इनकी धातु कहाँ से कल्पित कर ली गई। कौशिक गृह्यसूत्र में इनका विनियोग कहाँ से बना लिया गया। साथ ही कह देने मात्र से तो कार्य बनता नहीं, प्रमाण भी देना चाहिए। तापु और तावु से तावुव बन गया अथवा अंग्रेजी के टैबू से बन गया यह कल्पना तो बड़ी सरल है परन्तु इसकी सिद्धि करना सरल नहीं है। स्पष्ट बताना तो चाहिए कि तापु से बना, कि तावु से बना, वा टैबू से बना। 'आलिगी' शब्द 'लिगि' 'गतौ' धातु से 'अच्' प्रत्यय और 'ङीप्' करने से बना हुआ है। इसी प्रकार वि उपसर्ग पूर्वक 'लिगि' धातु से विलिगी पद बना है। 'उरुगूला' पद उरु पूर्वक गुरी हिंसार्थक और गत्यर्थक धातु से 'क' प्रत्यय और 'टाप्' करके बना है। 'आलिगी' का अर्थ चारों तरफ घूमने वाली, 'विलिगी' का अर्थ टेढ़ी चाल वाली और 'उरुगूला' का अर्थ बहुत काटने वाली सर्पिणी है। अथर्व ५।१३।१० में ही 'तावुवं' पद चार बार आया है जिसका सीधा अर्थ है कि तावुव तावुव नहीं है। तू निश्चय ही तावुव है। तावुव से विष निर्बल हो जाता है। यहाँ मन्त्र में आये 'तावुव' शब्द का चारों बार

1. देखें वैदिक एज, पृष्ठ १५०-१५१।

एक ही अर्थ है नहीं। सायण ने इस मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—जिसका हिन्दी अनुवाद यह है—

'ताबुव नहीं है, ताबुव नहीं है, तू ताबुव नहीं है, क्योंकि ताबुव से विष नीरस हो जाता है।'

इन दोनों प्रकार के अर्थों से यह प्रकट है कि चार बार आये 'ताबुव' पद का एक ही अर्थ नहीं है। सायण के भाष्य में एक बड़ी भारी त्रुटि है कि वह एक नकार का अधिक अर्थ करता है। परन्तु सायण के भाष्य से यह प्रकट है कि 'ताबुव' न सर्प का ही नाम है और न विष का। उसके अनुसार विष को नीरस करने वाली औषध का नाम ताबुव है। फिर ताबुव को सर्प वा विष कहकर विदेशी भाषा का शब्द मानने की कोई स्थिति नहीं रह जाती। यदि सायण के अर्थ को न मानकर चलें तब भी वैदिक एज और दूसरे लोगों का मत सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि यहाँ पर ताबुव का अर्थ वृद्धि करने वाली वस्तु और पीड़ा देने वाली वस्तु है। ये दोनों अर्थ इस कारण भी है कि 'तु' धातु जिससे 'उण्' प्रत्यय होकर 'ताबु' पद बना है वह गति, वृद्धि और हिंसा अर्थ में है। साथ 'व' भाग 'वा' गन्धर्यक और गन्धनार्थक धातु से बना है। इससे वर्धक, नाशक आदि सभी अर्थ यहाँ पर गृहीत है। यहां यदि विष का ग्रहण किया जावे तो विषनाशक का भी ग्रहण साथ ही प्राप्त है। परन्तु विदेशी 'तापु', ताबु और टेबू में यह अर्थ नहीं घटता। अतः ये शब्द एक संकुचित अर्थ को लेकर पाश्चात्य भाषा में वेद से गए न कि वहाँ से वेद में आए। भाषा में संकोच का नियम है—विकास का नहीं। इसी प्रकार 'आलिगी', 'विलिगी' व्यक्तिवाचक नहीं हैं। किसी एक सर्प के ये नाम नहीं है। ये जातिसूचक सामान्य पद हैं जो इस प्रकार के सभी सर्पों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। परन्तु चाल्डियन भाषा के शब्दों में ऐसी यौगिकता लेखक दिखला नहीं सके है। अस्तु! यह तो ठीक है कि ये शब्द वैदिक-भाषा से इन भाषावों में गए। परन्तु यह नितराम् असम्भव है कि ये शब्द विदेशी-भाषावों से वेद में आये। 'आर्यन' शब्द जिस प्रकार विदेशी भाषा से वेद में नहीं आया अपितु वेद से और संस्कृत भाषा से विदेशी भाषाओं में गया है—वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिए। क्या कोई भाषा-विज्ञान का ज्ञाता यह सिद्ध करने का साहस कर सकता है कि 'एरियन, आर्याना, अथवा ईरान से आर्य शब्द बना है।

४. एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि आर्यों की किसी भाषा में 'ट वर्ग' नहीं है। और निरुक्तकार ने भी माना है कि तवर्ग ही टवर्ग हो जाता है।

इस पर भी यहां पर विचार किया जाता है। प्रथम तो यह कहना कि आर्यों की भाषा में टवर्ग नहीं—यह ही भ्रान्त धारणा है। अंग्रेजी में 'टी' 'डी' मौजूद हैं। अंग्रेजी भी तो आर्य-वर्ग मे ही है। परन्तु वैदिक वा संस्कृत भाषा में टवर्ग नही, यह और भी गलत धारणा है। टवर्ग से शब्दों का प्रारंभ न होना कोई कमी की बात नहीं। ऋ, र, ष, और टवर्ग का उच्चारण स्थान मूर्धा है। ये साथी हैं। अनेकों शब्द पाये जाते है जिनके मध्य और अन्त मे 'टवर्ग' पाया जाता है। यदि 'टवर्ग न होता तो इनमें टवर्ग कहां से आ जाता। इडा, काट, काण्व, काष्ठा, कुणारु, 'कुण्ड्टणाच्या' आखण्डल, हेडन, जठर, कीकट, विठ, आदि पदों में टवर्ग कहां से आ गया, यदि टवर्ग था ही नही। 'डयते' निघण्टु मे गतिकर्मा है। यह कोई नियम नहीं कि टवर्ग से शब्द अवश्य प्रारम्भ किए जावें। ष् के सयोग मे जो टवर्ग वर्ण आते है वे भी तो सूचना देते हैं कि टवर्ग है। अभिष्टि, इष्टि, कुष्ठ, पष्ठ आदि में जो 'ट' हैं क्या यह वैसे ही कही से कूद पड़ा है। जिस भी भाषा में 'कष'='क्ष' का उच्चारण मौजूद है उसमे 'ट' की संभावना है ही। जिसमें 'ष' हो उस भाषा में 'ट' न हो—यह संभव नही। पद तो अन्तिम वर्णो से और य, ङ, से भी नही प्रारंभ होते तो क्या इनका होना व्यर्थ है। वैदिक और सस्कृत वाणी को छोड़कर आर्यों की किसी भाषा मे 'भ' भी नहीं है। परन्तु इससे वेद और संस्कृत के 'भ' कही आकाश से आ गिरे ?

निरुक्त के अनुसार वैदिकी प्रक्रिया से 'निगन्तवः' का 'निघण्टवः' बनाया गया है। यहां पर 'निगन्तवः' के 'त' को 'निघण्टवः' मे 'ट' हो गया है। ये दोनों पर्याय है। परन्तु यहां पर 'घ' का 'ग' वा 'ग' का 'घ' किस प्रकार बन गया—यह भी तो बतलाना चाहिए। साथ ही निर्हन्तु और 'निर्हर्त्तृ' भी तो वही पर पठित है। इनसे भी तो निघण्टु पद बनता है। इस प्रकार यहां पर कुछ आक्षेपों का समाधान किया गया और यह दिखलाया गया कि वर्तमान भाषा-विज्ञान की सारी कल्पनायें निरर्थक है। भाषा-विज्ञान के अपने कोई निश्चित नियम नही।

भाषा-विज्ञान के नियम का व्याघात—भाषा-विज्ञान मे जैसा पूर्व लिखा गया है कोई दृढ़ नियम नहो। यदि कोई नियम भी कल्पित किया गया तो वह स्वयं कट जाता है। भाषा-विज्ञान का यह एक नियम है कि वर्णमाला के प्रत्येक वर्ग का दूसरा और चौथा अक्षर उत्तरोत्तर भाषाओं मे पहले और तीसरे अक्षर तथा हकार का रूप धारण करता है। पहला और तीसरा अक्षर दूसरे और चौथे 'अक्षर' का रूप धारण नहीं करते और न हकार को वर्ग के दूसरे अथवा चौथे अक्षर का रूप मिलता है।

यहाँ पर इन नियमों की विपरीतता दिखाई जाती है। वर्ग के प्रथम वर्ण को द्वितीय और प्रथम, तृतीय को चतुर्थ होते हैं। नीचे की शब्द-तालिका उसका प्रमाण है—

प्रथम वर्ण को द्वितीय होता है

संस्कृत	पंजाबी	हिन्दी
परुषक	फालसा	फालसा
तुत्थ	थोथा	थोथा
नीलोत्पल	नीलोफर	नीलोफर
कोटर	खोड़	खोंडर
कर्परिका	खपरिया	खपडा
अंकोठ	अंखोल	×

तृतीय वर्ण को चतुर्थ

सं०	पं०	हिन्दी
शृंगाटक	संघाड़ा	सिंघाड़ा
चुचुन्दरी	झींगर	झींगुर
बिस	भें	भिस

हकार का रूपान्तर

गुहा	कुभा (पाली)	गुफ़ा (पंजाबी) उर्दू
सिंह	सिंघ (पंजाबी)	
नहुष	नघुष (पाली)	
हिञ्जीर	जंजीर (उर्दू)	जंजीर (पंजाबी)
अहि	अजि (जन्द)	अफि (फारसी)
दुहिता	दुख्तर (फारसी)	

जिस प्रकार प्रथम अक्षर को द्वितीय अक्षर होता है उसी आधार पर संस्कृत तृप् का 'थर्स्ट' और त्रिंसत् को 'थर्टी' बना है। जिस प्रकार ह को ज और ज हो जाता है उसी आधार पर संस्कृत हन का जर्मन गंज और अंग्रेजी का गन भी बन गए हैं। इसी प्रकार कई भाषा-विज्ञान के विशारद जो यह कहते हैं कि संस्कृत में जहाँ केवल 'अ' 'आ' स्वर हैं वहाँ ग्रीक भाषा में इनके स्थान में 'अ' 'ई' 'ओ'

आदि अनेक स्वर हैं और इसलिए संस्कृत और ग्रीक किसी एक ऐसी भाषा से निकलीं जिसमें स्वर अधिक थे—यह कथन भी निराधार हैं। क्योंकि नीचे कुछ उदाहरण ऐसे दिए जावेंगे जिनसे यह सिद्ध हो जावेगा कि इसी संस्कृत 'अ' के ही 'अ' 'इ' 'ओ' आदि अनेक रूप दुष्ट उच्चारणों के कारण बन गए है। संस्कृत साहित्य में 'अ' के १८ भेद होते है। परन्तु 'अ' का 'इ' वा 'ओ' बनना सर्वथा निराधार है। यह दुष्ट उच्चारण के कारण है।

चटक	चिड़ा (पंजाबी)
यम	यिम (फारसी)
चष्टन	टिअस्टनेस (ग्रीक)
काक	कौआ (हिन्दी)
चन्द्रगुप्त	सैण्ड्राकोटस (ग्रीक)

बिना नियम के अपभ्रंश भी भाषा-विज्ञान को अधूरा सिद्ध करते है। इनका उदाहरण निम्न प्रकार है—

अहिदानव — अजिदहाक (दाहक)

चिरविल्व—चिरहिलि (लौकिक रूप)

वितस्त—हाइडेस्पस (Hydaspes)

इस प्रकार यह सिद्ध है कि भाषा-विज्ञान अपने निर्धारित नियमों पर ही खरा नहीं उतरता है।

भाषा-विज्ञान की इतिहास के निर्णय में व्यर्थता—ऊपर भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी विविध बातों पर विचार किया गया। जो कुछ रह गया होगा वह वेदों के विषय मे विचार करते समय और भी स्पष्ट कर दिया जावेगा। यहाँ पर यह दिखला कर इस विषय को समाप्त किया जावेगा कि भाषाविज्ञान इतिहास के निर्णय की कोई भी सामग्री नही प्रस्तुत करता है। उसके आधार पर काल आदि का निर्धारण सर्वथा ही व्यर्थ है।

श्री इसाइल वरनफ का कथन है कि 'फिर भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान कठिनाई से एक विज्ञान के रूप मे स्थिति वाला कहा जा सकता है। इसके नियम और वास्तविक विकास कही पर स्थापित और व्याख्यात नहीं है। जब देव-विज्ञान (Mythology) जैसे धार्मिक विषयों के साथ इनको प्रयुक्त किया जाता है, तब झूठे नियम के चरितार्थ हो जाने का खतरा रहता है। अथवा गलत प्रयोग भी इनका हो

जाता है।[1]

पुनः उसी विद्वान् का कथन है कि भाषा-वैज्ञानिक इस बात पर अवश्य ध्यान दें कि उन झूठे नियमों से जिनके द्वारा वे चलते है वे केवल् प्राचीन धर्मों के परमात्मा को ही नहीं समाप्त करते है बल्कि जेसस एवं क्राइस्ट के नाम को भी एक रूपक मात्र बना देते है···भाषा-विज्ञान के ज्ञाता इस बात को न भूलें कि जहाँ एक गलत नियम कभी-कभी सत्य परिणाम उत्पन्न करते है वहाँ सत्य नियमों से कभी भी झूठे परिणाम नही निकाले जा सकते है। इस (भाषा-विज्ञान) की व्याख्याओं को अधिक महत्व वा मूल्य नही देना चाहिए, सिद्धान्त और कर्मकाण्ड के मूल के निर्धारण में भी इनके शब्दों को नहीं स्वीकार करना चाहिए। इन व्याख्याओं की शक्ति के बाहर है कि हमें ये प्रकाश दे सकें।[2]

डाक्टर रफेल-कार्स्टीन पी० एच० डी का कथन है कि विकासवाद का आधार ठीक नहीं है। विकास (Evolution) और आदिम (Primitive) शब्दों को बहुत सावधानी से बर्तना चाहिए। वे कहते है कि मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ (पिछड़ी और आदि जाति) का विभाग करना ठीक नहीं। मैं इतना पुनः जोड़ता हूँ कि जबकि फ्यूजियन (Fuegians) की भाषा डार्विन के द्वारा अर्ध-पशु की भाषा के सदृश और सर्वथा अपरिमृष्ट (निरर्थक) मानी गई थी—आंग्ल मिशनरी थॉमस

---

1. Still comparative philology scarcely exists as a science; its method and essential development are not nowhere expounded and explained. When brought into the field with religious subjects, such as mythology, for instance, there is danger of setting to work false principles or of applying them wrongly. The Science of Religions, by Emile Burnouf, english translation 1888 edition, P. 2.
2. Philologists must be aware that the false principle by which they are guided does not undermine the divinity of ancient religions alone, but also modern ones as the.........Christ and Jesus all which it reduces to metaphors.........

   Philologists must not forget that whilst a false principle sometimes engenders true consequences, false consequences can never be derived from true principles. It does not do therefore to attach too great a worth to philological interpretations, nor to take their word for the origin, of dogmas and rites, it is not in their power to enlighten us. The Science of Riligions. P. 18.

बिजेस ने कुछ दशक बाद उसी भाषा में ३२००० शब्दों की शब्दावलि का संग्रह[1] किया।"

श्री डाक्टर संपूर्णानन्द जी अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २५ पर लिखते है—

"जैसे कुछ शब्दों के अस्तित्व से कुछ बातों का अनुमान किया जाता है वैसे ही दूसरे शब्दों के अभाव से भी कुछ अटकल लगाया जा सकता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अभाव के आधार पर जो तर्क खड़ा होता है वह अस्तित्व-मूलक तर्क के बराबर पुष्ट नहीं होता। यदि पेट के लिए इन भाषाओं में समान शब्द न मिलें तो इससे यह अनुमान तो नहीं किया जा सकता कि उन प्राचीन आर्यों के शरीर में पेट होता न था।"

परन्तु इस सारी इमारत की नीव में जो कल्पना है वही विवाद का विषय है। भाषाओं के साम्य को देखकर यह मान लिया गया कि उन भाषाओं के बोलने वालों में भी साम्य रहा होगा और फिर साम्य के परिचायक लिंग ढूंढे जाने लगे। पर यह बात कैसे मान ली जाय कि जिन लोगों की भषा एक है उनके पूर्वज भी एक थे ? आज जो लोग हिन्दी बोलते हैं उनकी विषमता प्रत्यक्ष है। धीरे-धीरे हिंदी भारत की राष्ट्र-भाषा तो बन ही रही है, करोड़ों मनुष्यों की मातृभाषा होती जा रही है। उसमें कोल, भील, गोंड आदि जंगली और अर्ध-जंगली लोगों की बोलियों के शब्द भले ही मिल जायें पर उन बोलियों को उसने दबा दिया है।…यदि भाषा मात्र की समता देखकर कोई इन सब (वेप-भूषा और भाषा में अंग्रेजों की नकल करने वालों और अंग्रेजो) को एक मान ले और इनमें एकता के लक्षण ढूंढने लगे तो उसे कुछ बातें तो मिल ही जायेंगी पर उसका विभाजन निराधार और कृत्रिम होगा। भाषा और सभ्यता के बाहरी आडम्बर के एक होने से वंश की एकता सिद्ध नहीं होती।"

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भाषा में विकास का कोई स्थान नहीं और यह भाषा-विज्ञान इतिहास की कड़ियों की सिद्धि में कोई साधन नहीं और न यह कोई विज्ञान ही है।

---

1. I have already pointed out that this opinion must be considered erroneous. I may add that, whereas their language, for instance, was regarded by Darwin as half-animal-like and not even as 'articulate the english missionary Thomas Bridges, a few decades latter, noted down in this same language a vocabulary of no less than 32,000 words.

—The Origins of Religion, by Rafael Karsten Ph. D. 1935 edition. Page 14.

अध्याय ५

आर्येतिहास के प्रामाणिक स्रोत

इसके पूर्व के प्रकरणों में विदेशी पद्धति से माने गये इतिहास के स्रोत भाषा-विज्ञान आदि का खण्डन किया गया और विदेशी मान्यतावों का भी निराकरण किया गया। ऐसी स्थिति में यह स्वभावतः प्रश्न उठ सकता है कि फिर आर्यों के आदि इतिहास को किन स्रोतों से ढूंढा जावे ?।

यहां पर यह स्मरण रहे कि वेद की चार संहितायें जो ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार की गई हैं उनमें कोई भी इतिहास की सामग्री न हो सकती है और न है। उनमें इतिहास की सामग्री ढूंढना व्यर्थ और मिथ्या प्रयास है। वैदिक इण्डेक्स[1] तथा अन्य विद्वानों द्वारा लिखित पुस्तकों के आधार पर वेद में व्यक्तियों, स्थानों आदि की संज्ञावों को लेकर इतिहास गढ़ना एक दुःसाहसपूर्ण और अनभिज्ञतापूर्ण प्रयास है। वेदों से सामान्य-संज्ञा को लेकर पुराणों में कथित कहानियों से मिलान करके इतिहास की कड़ियां जोड़ना भी सर्वथा ही असंगत है। पुराण प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं और उनमे कथित सामग्री भी प्रमाणयुक्त नहीं।

१. वेद की संहितावों को छोड़कर शाखायें, वेदांग, ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रंथों में इतिहास की सामग्री मिलती है। अतः ये प्रथम स्रोत है।
२. दूसरे स्रोत में वाल्मीकीय रामायण है।
३. तीसरा स्रोत महाभारत है।
४. संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ और उनकी टीका प्रटीकायें चौथे स्रोत में आती है।
५. अर्थ-शास्त्र, लिखित इतिहास और बौद्ध आदि ग्रंथ पांचवें स्रोत है।
६. छठें स्रोत में विदेशीय लोगों के ग्रन्थ, यात्रियों के वर्णन आदि हैं।
७. सातवें स्रोत में शिला-लेख, ताम्रशासन, मुद्रायें आदि हैं। परन्तु इनका सम्बन्ध केवल पिछले थोड़े काल के साथ ही है।

---

1. वैदिक इण्डेक्स तथा ग्रन्थों द्वारा प्रदर्शित सभी इतिहासों का उत्तर लेखक ने अपनी प्रसिद्ध वृहत् पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में दिया है।

८. ज्योतिष की सामग्री के आधार भी इस दिशा में साधन हैं।

यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वेद की भाषा, वेद के धर्म, उनकी अन्तःसाक्षी के आधार पर कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती हैं। यह विदेशियों और उनके चरण-चिन्हों पर चलने वाले एतद्देशीय विद्वानों की एक विदेशीय पद्धति है कि वे वेद से अनेक प्रकार की घटनायें निकालकर उनसे इतिहास निकालने का प्रयत्न करते हैं। इस विदेशीय एव त्रुटिपूर्ण कल्पित पद्धति का सर्वथा परित्याग करके ही आर्येतिहास का शुद्ध रूप उपस्थित किया जा सकता है।

यदि कोई दुराग्रह-वशात् वेद की संहितावों को इतिहास की घटनावों से सम्बद्ध कर इतिहास की शृंखलावों को जोड़ने का प्रयत्न करेगा ही तो निश्चित है, जैसा कि पूर्व दिखलाया जा चुका है—ऐसी भी कल्पनायें खड़ी हो जावेंगी जो इस दुराग्रह को ही समाप्त कर देंगी। निकाला परिणाम सर्वथा ही इन्हीं आधारों पर खण्डित हो जावेगा।

अध्याय ६

आर्यलोग बाहर से नहीं आये—न उनसे पूर्व धरा पर कोई अन्य जाति ही थी

इतिहास की जहाँ अन्य विदेशी मान्यतायें है वहाँ एक मान्यता यह भी है कि आर्यलोग भारत में बाहर से आये और उनसे पूर्व यहाँ पर अनार्य लोग रहते थे। आर्यो ने आकर इन पर आक्रमण किया। ये लोग उसी प्रकार विदेशी है जिस प्रकार पठान, मुगल और अंग्रेज आदि। अपने को आदिवासी कहलाने वाले भी इस प्रभाव से प्रभावित है और वे स्वयं को इस देश का आदिवासी मानते हैं। इसी प्रकार एक विचार-धारा यह फैलाई जा रही है कि आर्यों से पूर्व जो आदि-वासी थे उनमें द्राविड लोग भी है। ये आर्यो से पूर्व यहाँ पर थे। इनकी सभ्यता थी, किले थे, नगर थे। आर्यो ने आकर इन्हे जीता। इनका भी आर्यों के दर्शन आदि पर पर्याप्त प्रभाव है। द्राविड मुनेत्र कड़गम आन्दोलन भी इसी भावना पर अपना आधार रखता है। कई लोग तो यहां तक साहस करते हैं कि मोहन्जोदारो की सभ्यता आर्यों से पूर्व की है और वह द्राविड सभ्यता है। आर्यो की संस्कृति पर उसकी पर्याप्त छाप है। आर्य दर्शनों के विकास में भी उसके दिए तत्व ही निहित[1] है। भारत में स्कूल से लेकर विद्यालयों तक ये बातें पढ़ाई जाती है। इन्ही आधारों को लेकर पढ़े-लिखे लोगों में भी रूढ़ियां अपना कार्य कर रही हैं। ये रूढ़ियाँ दो प्रकार की है—१. आर्य लोग भारत के बाहर से आकर यहां बसे। २. भारतीय सभ्यता मिश्र और ईराक की सभ्यता की अपेक्षा पीछे की है। इस प्रकरण में यहां पर कुछ विचार इस विषय पर किया जाता है।

आर्य लोग बाहर से भारत में आए—इस विषय पर यह प्रश्न उठता है कि कहाँ से आए? इसका समाधान यह किया जाता है कि वे मध्य एशिया में रहते थे और खाने-पीने की कमी आदि के होने पर भारत में उनका दल आकर बसा। इस विषय में पाश्चात्य इतिहास-वेत्ताओं को बड़ा ही मनोरस था। कुछ भारतीय विद्वान्

---

1 निराकरण लेखक की पुस्तक दर्शनतत्व-विवेक में किया गया है।

भी इसी पथ के गामी हैं। परन्तु कुछ भारतीय विचारकों ने इस बात का विरोध किया और अपनी धारणा के अनुसार आर्यों को भारत का ही मूल निवासी बतलाया। भारत में किस स्थान पर ये आर्य लोग रहते थे ? इसके विषय में और विभिन्न तर्क और सरणियों के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है परन्तु इस तथ्य में इन विद्वानों की सराहना की जानी चाहिए कि इन्होंने आर्यो के आदि स्थान को विदेश से हटाकर भारत में लादिया।

श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने आर्यो का आदि निवास-स्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश स्वीकार किया है। श्री नाना पावगी महोदय आर्यों का आदि-निवास पंजाब की सैंधव श्रेणी मे बतलाते हैं कि सोमलता के साथ आर्यों का सम्बन्ध पाये जाने से यह ज्ञात होता है कि उनकी उत्पत्ति सप्तसिंधु मे हुई। स्वर्गीय श्री अविनाश चन्द्र दास ने आर्यों का निवास सप्तसिंधु में माना है। श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी भी श्री दास बाबू के ही समर्थक हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि आर्यो के विदेश आने के विषय में जिस प्रकार के तर्क दिए जाते हैं, लगभग वैसे ही तर्कों का अनुसरण इन पक्षों की स्थापना मे भी किया गया है। ये सभी लोग अपने पक्ष की स्थापना में वेद को ऐतिहासिक सामग्री का स्रोत बनाते है जो सर्वथा ही अनुचित हैं। जैसा पूर्व कहा जा चुका है वेद में किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन नही है।

इसी से सम्बन्ध रखने वाला एक विचार और भी है। वह यह है कि मानव सर्वप्रथम पृथिवी पर कहाँ अवतरित हुआ ? इसका भी उत्तर नीचे लिखे अनुसार दिया जाता है।

१. विकासवाद को स्वीकार करने वाले मानते हैं कि चूँकि मनुष्य बन्दर का विकास है अत: वह वन मनुष्य से मनुष्य तक पहुँचते हुए असभ्य, काला और बदशक्ल आदि रूप मे प्रकट हुआ और अफ्रीका आदि के नीग्रो ही मनुष्य के पितामह हैं और मनुष्य पहले अफ्रीका आदि में ही हुआ।

२. कुछ पुराने विचारो के लोग आदि सृष्टि को मंगोलिया, मध्य एशिया, अदन का बाग, तिब्बत अथवा भारत मे हुई मानते है।

३. वैज्ञानिक लोग वर्तमान एशिया और अफ्रीका के मध्यवर्त्ती पोलिनिशिया और जावा के समीप के स्थान को आदि मानवस्थान स्वीकार करते हैं। अफ्रीका के विक्टोरियान्यांजा और टाँगनिका सरोवर के पास भी मनुष्य का प्रादुर्भाव कई विद्वान् मानते हैं।

इन उपर्युक्त विचारो में प्रथम विचारधारा विकासवाद से सम्बन्ध रखती है। विकासवाद का पूर्व प्रकरण में खण्डन किया जा चुका है। विकासवाद-सिद्धांत के

खण्डित हो जाने से यह विचारधारा अपने आप निर्मूल हो जाती है। तीसरी विचार-धारा कहने को तो वैज्ञानिकों की विचारधारा है परन्तु इसमें भी विकासवाद और उससे निःस्यूत कल्पनायें ही कार्य कर रही हैं। अतः यह वाद भी युक्ति और तर्क से संगत नहीं है। रह जाती है शेष दूसरी विचारधारा। इसमें भी मंगोलिया और मध्य एशिया सम्बन्धी विचार कुछ कृत्रिम नियमों को आधार मानकर बनाये गए है। इनमें भाषा-विज्ञान, उपजातिवाद का स्थान भी महत्व रखता है। यह दोनों ही बनावटी वस्तु हैं। अत. यह विचारधारा भी ठीक नहीं।

अदन का बाग एक ऐसे धर्म की नींव पर कल्पित किया गया है जो आलंका-रिक है और उसका मूल तथा उस धर्म का मूल भी अपना नहीं है। इनका भी स्रोत भारत के धर्म में निहित है। यहीं से इसका पल्लवन हुआ। अतः यह पक्ष भी युक्तियुक्त और संगत नहीं। भारत में मानव उत्पन्न हुआ यह पक्ष ठीक है। परन्तु सप्तसिंधु में पैदा हुआ—इसके लिए भी जो प्रमाण दिए जाते हैं वे ऐसे है जो ऐति-हासिक नहीं। ये प्रमाण गढ़कर बना लिए गए हैं। वस्तुतः इनके पीछे कोई ऐतिहासिक मूल्य है नहीं।

अब रह जाता है तिब्बत पर सृष्टि के आदि में मानव के उद्भूत होने का विचार। यह विचार कसौटियों पर ठीक उतरता है। मानव के उत्पन्न होने पर आव-श्यकता की पूर्ति के लिए कई वस्तुवों की आवश्यकता होती है। इनमें आहार के लिए फल-मूल, जलवायु आदि बहुत ही आवश्यक हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कई ऐसी कसौटियां हैं जिनपर उस स्थान का उतरना आवश्यक है। इन सबको संग्रहात्मक रुप में निम्न प्रकार कहा जा सकता है—

१. भूगर्भशास्त्री जिन कसौटियों को भूसम्बन्धी निर्णय मे लगाते हैं उसके अनुसार पृथिवी का ठण्डी होना और जल से उसके भाग का प्रथम बाहर आना भी सिद्ध होता है। अतः वह स्थान ऐसा होना चाहिए जो सबसे ऊँचा होने से जल से पहले बाहर हुआ हो।

२. चूंकि सृष्टि की आदि में अमैथुनी सृष्टि होती है और सभी युवा उत्पन्न होते हैं—अतः यह स्थान ऐसा होना चाहिए जो इस अपेक्षा को भी पूरा करता हो।

३. 'आर्य' पद अर्य के अपत्य के अर्थ में है। आर्य का अर्थ ईश्वर पुत्र है। जो किसी जाति (Race) से उत्पन्न नहीं। भूमि भी सर्वप्रथम आर्य को ही मिलती है। अतः ऐसी स्थिति में मूल में केवल एक ही जाति आर्य उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में वह स्थान ऐसा होना चाहिए जो प्रथम पुरुषों की उत्पत्ति का स्थान हो।

४. युवावस्था में उत्पन्न इन मानवों की खानपान की आवश्यकता की पूर्ति के लिए जहां प्रारम्भिक खूराक फल आदि हों और वायुजल भी अनुकूल हों।

५. उस स्थान पर अब भी आस-पास उस रूप, रंग के मनुष्य बसते हों तथा मनुष्य-जाति के स्मरण का विषय हो।

इन कसौटियों पर हिमालय प्रदेश ही ठीक उतरता है। तिब्बत हिमालय पर उत्तम स्थान है। अतः ये सारी वस्तुवें उस पर ठीक-ठीक घटती हैं। मनुष्य शब्द पर विचार करते हुए निरुक्त ३।७ पर लिखा है कि मनुष्य वह है जो सोच समझकर कर्म करता है। जो मनस्वी हो अथवा मनु का अपत्य हो। मनु नाम वैदिक साहित्य में प्रजापति परमेश्वर का भी है और मानववंश के आदिपुरुष का भी है। आदि में सृष्टि अमैथुनी होती है और वह मनु=परमेश्वर से उत्पन्न होती है अतः मनुष्य मनु का अपत्य है। पुनः जो मानव की परम्परा चलती है वह आदि मानव मनु से चलती है अतः वह मनु की संतान है। दोनों अवस्थावों में मनु का अर्थ अर्थीभूत है। मेनिंग[1] ने अपनी पुस्तक में एक विशेष बात पर प्रकाश डाला है। इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु आदिपुरुष हैं। मनुष्य जाति के पूर्व पितामह मनु वा मनस उसी प्रकार जर्मनों के मनस और टयूटनों के मूल पुरुष समझे जाते हैं। अंग्रेजी का 'मैन' और जर्मन का 'मन्न' शब्द मनु शब्द के साथ उसी तरह मिलता है जिस तरह जर्मन का 'मनेश' संस्कृत के मनुष्य शब्द के साथ। उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का पूर्वज मनु है और यह सभी जातियों के विषय में एक-सा है। शतपथ ब्राह्मण में (१।८।१।६) मनु का उत्तर गिरि से अवसर्पण लिखा है। इसी प्रकार महाभारत वन-पर्व के१८७ अध्याय में भी हिमवान् के शृंग पर मनु की नौका का बांधा जाना वर्णित है। चरक चिकित्सास्थान ४।३ में लिखा है कि महर्षि लोगों का निवास-स्थान हिमालय पर था। इसी में यह भी बतलाया गया है कि ग्राम्यवासकृत आत्मदोष को जानकर पुनः अपने पूर्व निवास हिमवान् को गये। यहाँ पर पूर्वनिवास पद यह बतला रहा है कि आर्यों का आदि निवास

1. It has been remarked by various authors (as Kuhn and Zeitschrift IV, 94 H) that in anology with Manu or Manus as the father of mankind or of Aryas, German mythology recognises Manus as the ancestor of Tuetons. The English man, and German Manu appear also to be akin to the word Manu, as the German Manesh presents a close resemblance to Manish of Sanskrit.—Ancient & Mediaval India, Vol. I. P. 118.

स्थान हिमालय पर तिब्बत ही था। वहाँ से बाद में ये लोग अन्यत्र फैले। इस प्रकार हिमालय प्रदेशीय तिब्बत का स्थान जब आदि स्थान आर्यों का सिद्ध है तो फिर अन्य कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

तिब्बत की स्थली की साम्प्रतिक रूप-रेखा में भी कुछ ऐसे चिन्ह पाये जाते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि यह स्थान मानव का प्रथम स्थान रहा है। तिब्बत की राजधानी 'ल्हासा' है। यह नाम इसलिए पड़ा कि यह देवभूमि है। 'ल्हा' का अर्थ देव और सा' का अर्थ भूमि है। तिब्बत की एक व्यापार-मण्डली का नाम 'रुद्रोक' है। इसका अर्थ है रुद्रों का घर। देवराज इन्द्र जो विशेष राजा है उसके भाई ११ रुद्र यहां पर ही रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ३।३८ में यह वर्णन मिलता है कि उत्तरकुरु और उत्तरमद्र हिमालय के पर भाग में थे। इससे ज्ञात होता है कि ये तिब्बत में ही थे। पश्चिमी तिब्बत में ही कैलास पर्वत की स्थिति मानी जाती है। प्राचीन समय में महादेव और पार्वती का यह स्थान रहा है। यहीं पर नन्दी आदि भी रहते थे। नन्दी ने नाभियन्त्र[1] की रचना की थी और यह रस-शास्त्र तथा काम-शास्त्र का ज्ञाता था। स्वयं शिव या महादेव भी आयुर्वेद के ज्ञाता थे। इनके अनेकों प्रयोग आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलते हैं। इनके मित्र कुबेर ने भी अगद तन्त्र का अध्ययन इन्हीं से किया था। चरकसंहिता चिकित्सास्थान २६।८१[2] में इसका वर्णन मिलता है।

मानसरोवर के ऊपर अर्थात् उत्तर में और मेरु के दक्षिण में यमपुर नाम का नगर था। इसमें सूर्य का पुत्र यम रहा करता था। यह वैवस्वतयम अथर्व और ऋग्वेद के बहुत से मंत्रों का द्रष्टा था। इसने आयुर्वेद में ज्ञानार्णवतन्त्र की रचना की थी। आज से लगभग पाँच सहस्र तीन सौ वर्ष पूर्व ऋषि पुनर्वसु[3] आत्रेय ने कैलास

---

1. (क) नाभियन्त्रमिदं प्रोक्तं नन्दिना सर्ववेदिना। रसरत्नसमुच्चय पृ. ष. ९।२६

   (ख) महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां कामशास्त्रं प्रोवाच। वात्स्यायन कामसूत्र।८१

2. अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेणयण्टङ्कः अप्रतिहतप्रभावख्यातो महागन्ध-हस्तीति।

3. एते श्रुतवयोवृद्धाः जितात्मानो महर्षयः।
   वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः॥ चरक सू० २६

पर्वत मानसरोवर अलकापुरी में कुबेर के राजभवन के समीप तथा अन्य त्रिविष्टप के भूभागों में भ्रमण करते हुए ऋषि अग्निवेश, पराशर, हारीत, भेल, क्षारपाणि और जतूकर्ण आदि अनेक शिष्यों को आयुर्वेद की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार चैत्ररथ वन में जो कुबेर का था, पुनर्वसु ऋषि की अध्यक्षता में आयुर्वेदविज्ञान के वैज्ञानिकों के अनेक सम्मेलन भी हुए थे। हिरण्याक्ष, मौद्गल्यादि ऋषि काशी के महाराज वामक, विदेहराज निमि, वाल्हीक, आचार्य काकायन ने उसमें भाग लिया था। कैलास पर्वत के उत्तर में अमरावती नाम की एक नगरी थी। यह इन्द्र की नगरी थी। यहीं पर इन्द्र रहा करते थे। ये देवराज उपाधि से युक्त इसलिए थे कि विद्वानों में भी श्रेष्ठ थे। इनकी पत्नी का नाम शची था। ये पति पत्नी ऋग्वेद के कई मन्त्रों के द्रष्टा भी हैं। इन्द्र आयुर्वेद के ज्ञाता थे। साथ ही व्याकरणशास्त्र के भी ये ज्ञाता थे। त्रेतायुग में काशी के राजा दिवोदास धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया[1] था। कश्यप, वसिष्ठ और अत्रि ने भी इनसे आयुर्वेद का अध्ययन किया था।[2] पुनर्वसु के गुरु भारद्वाज ने भी यहीं पर आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। अश्विनी-कुमारों के पिता सूर्य भी यहीं पर ही रहते थे और सूर्यराज के पिता ब्रह्मा का भी यहीं पर स्थान था। इन अश्विनी-कुमारों ने सूर्य, ब्रह्मा और दक्ष[3] प्रजापति से आयुर्वेद-विज्ञान का अध्ययन करके अपने चाचा इन्द्रराज को पढ़ाया था। इन आधारों पर यह निश्चित है कि 'त्रिविष्टप' (तिब्बत) में ही सृष्टि के प्रारम्भ में मानव उत्पन्न हुआ और आज तक वहाँ पर अविच्छिन्न परम्परा से उसके चिन्ह मिलते चले आ रहे हैं। वर्तमान तिब्बत यद्यपि बौद्धधर्म का अनुयायी है फिर भी वहाँ पर आर्यों के चिन्ह अब भी पाये जाते हैं। हवन के द्वारा चिकित्सा की प्रथा अब भी वहाँ पर पायी जाती है। इस हवन को तिब्बती भाषा में जिनसेक कहते हैं। इस प्रकार आर्यों का इतिहास और वैज्ञानिक आधार भी यही सिद्ध करते हैं कि आर्य इस सृष्टि के प्रारम्भ में तिब्बत में उत्पन्न हुए और बाद में अन्यत्र फैले। आर्यावर्त्त भारत में वे सर्वप्रथम रहने लगे। हिमालय पर बर्फ आदि के तूफान के कारण भारत में ही उन्हें आना पड़ा और यही उनका आदि देश है।

1. (क) अश्विभ्यामिन्द्रः इन्द्रादहम्। सु० सूत्र० १।१८
   (ख) बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां पारायणं प्रोवाच। महाभाष्य १।१।१
2. इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यपवसिष्ठात्रिभृगुभ्यश्चतुर्भ्यः। काश्यपसंहिता पृष्ठ ४२
3. चरक चिकित्सा० १।४।६३

उपजाति-विभाग और जाति-आन्दोलन—इतिहास की विविध कल्पित मान्यताओं में उपजातियों का भेद, एवं जाति प्रचार (Race Movements) भी हैं। वे सर्वथा ही कल्पित और कृत्रिम हैं। उपजातियों की कल्पना करने में विशेष चातुरी वर्ती गई है और इसलिए कि इतिहास की मनमानी कल्पनाओं को सिद्ध किया जा सके। वर्तमान में निम्न प्रकार से इसका पल्लवन किया जाता है। हर्म्सवर्थलिखित विश्व-इतिहास (History of the world) पृष्ठ ३३२ पर लिखा है कि जावा द्वीप में कलेंग नामी मनुष्य बहुधा वन-मनुष्यों से मिलते हैं अतः वे ही मनुष्य जाति के पूर्व पितामह हैं। यह कलेंग जाति मनुष्यों के चार बड़े प्रधान विभागों में से निग्रो (Ethiopic) विभाग के अन्तर्गत है। इस निग्रो विभाग की विशेषता उसका काला रंग और मोटा चेहरा है। इसका निवास-स्थान अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पूर्वी समुद्र के अनेक टापू है। पाश्चात्य विद्वानों का यह सिद्धान्त है कि इसी विभाग ने मनुष्य की समस्त शाखाओं को जन्म दिया है, जिनमे से अनेक लुप्त हो गईं और इस समय एक सहस्र के लगभग मौजूद हैं जो संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली हैं। ये एक सहस्र शाखायें चार महा-विभागों में विभाजित हैं। ये चारों महा-विभाग—काकेशियन, मंगोलियन, अमेरिकन और इथियोपिक कहलाते हैं। समस्त पृथिवी पर उक्त चार ही रूप और चार ही रंग के आदमी बसते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

१. सफेद रंग और लम्बी आकृति के मनुष्यों को काकेशस कहा जाता है।

२. पीले रंग और चौडी आकृति के मनुष्य मंगोलिक कहे जाते है।

३. काले रंग और मोटी आकृति के मनुष्यों को इथियोपिक (निग्रो) कहा जाता है।

४. लाल रंग और पतली आकृति के मनुष्यों को अमेरिकन (रेड इण्डियन) कहा जाता है।

वैदिक एज में डा. बी. एस. गुहा के हवाले से पृष्ठ १४२ पर इस विषय पर प्रकाश डालने वाला निम्न विवरण इस प्रकार मिलता है—

1. The Negrito
2. The Proto—Austroloid.
3. The Mongoloid, consisting of—
   I. Palaeo-Mongoloid of (a) long-headed and (b) Broad-headed types
   II. Tibeto-mongoloids.
4. The Mediterranean, comprising:—
   I. Palaeo—Mediter anean,

II. Mediterranean,

III. The so-called Oriental type.

5. The western Brachyophals, consisting of :

I. The Alpinoid

II The Dinaric, and

III. The Armenoid.

6. The Nordic.

वैदिक एज का यह विभाग भारत और उसके आस-पास की सीमा के निवासियों को लक्ष्य में रखकर है। परन्तु यह उस पाश्चात्य कल्पना से ही प्रसूत है जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है।

श्री डाक्टर सपूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक "आर्यों का आदि देश" में पृष्ठ १ से १८ तक इसका विस्तृत वर्णन किया है जो इस प्रकार है—पृष्ठ ७

"क्यूवियर और क्वात्रफाज ने ३, लिनियस और हक्सले ने ११, ब्लुमेन बाख ने ५, वफान ने ६, प्रिचर्ड हण्टर और पेशोल ने ७, अगासीज ने ८, देसमूलां और पिकरिंग ने ११, हैकेल और मुलर ने १२, सेण्ट विंसेण्ट ने १५, त्रूं ने १६, टोपिनार्ड ने १८, मार्टन ने २२, कॉफोर्ड ने ६०, वर्क ने ६२, और गिलडन ने १५०, उपजातियाँ (Races) गिनायी हैं।..........आर्य, सेमिटिक, मंगोल और हब्शी—पृथक् उपजातियाँ हैं—ऐसी धारणा व्यापक है।"

इस प्रकार की उपजाति-सम्बन्धी भेदभावना ने संसार के मानव को भी बांट रखा है। परस्पर उच्च-नीच का भाव भी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। रक्त और रंग के भेद ने संसार के इतिहास में अनेक भेदक भित्तियाँ खड़ी कर रखी हैं। इन भित्तियों पर आज राजनीति अपना प्रभाव जमा रही है। अपने को ऊँचा समझने वाले अपनों से नीच के साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहते। मानव को शुद्ध मानव रखने के लिए यह आवश्यक है कि बनावटी भेदों को समाप्त कर दिया जावे। इस जाति-भेद को जो वैज्ञानिकता देने का मिथ्या प्रयत्न किया जा रहा है उसको समाप्त करना आवश्यक है। संसार में रक्त, रंग का भेद मानवता को पछाड़ने में लगा है। इस भेद को सर्वदा के लिए समाप्त करना चाहिए।

समीक्षा—उपजातियों के भेद को देने के बाद इसकी सारासारता पर विचार किया जाता है। इस विषय में जो युक्तियाँ दी जाती हैं उनकी भी परीक्षा की जाती है।

१. एक युक्ति यह दी जाती है कि जिन लोगों के शिर लम्बे होते हैं वे उत्कृष्ट और जिनके शिर चौड़े होते हैं वे निकृष्ट जाति के है। यह तर्क इसलिए उठाया गया कि योरप के कुछ भागों के लोगों के शिर चौड़ाई की अपेक्षा लम्बे अधिक होते है। इसलिए यह सिद्धान्त बना लिया कि उन्नत उपजाति के शिर लम्बे होते हैं। परन्तु विचार करने पर यह तर्क ठीक नहीं जँचता है। कुछ उन्नत लोगों के शिर निःसंदेह लम्बे होते है परन्तु इस आधार पर यह सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता है कि सभी लम्बे शिरों वाले उन्नत ही होते हैं। साथ ही यह भी देखा जाता है कि कई चौड़े शिर वाले समुदायों का भी सभ्यता के इतिहास में ऊँचा स्थान है। नगरों के रहने वालों का शिर प्रायः लम्बा होता है—परन्तु इनके विपरीत भी देखा जाता है। दो-चार सौ वर्षों में जलवायु के प्रभाव से भी शिर की लम्बाई-चौड़ाई में भारी अन्तर पड़ जाता है। यह प्रत्यक्ष दृश्य है कि गाल की उभरी हड्डी जहां असभ्य वा अर्धसभ्य लोगों में पायी जाती है—वहां उच्च लोगों मे भी पाई जाती है जो कि आर्य माने जाते हैं। चीन का व्यक्ति यदि यूरोप में रहे और यूरोप का चीन में तो कुछ वर्षों में आंखों में भी अन्तर पड़ जाता है। इसी प्रकार रंग और आकृति पर भी जलवायु का प्रभाव पड़ता है। अतः यह तर्क जाति भेद का साधक नहीं है।

२. दूसरा तर्क मस्तिष्क के आयतन और परिमाण का उठाया जाता है। इससे कम आयतन वाला अवनत और छोटी जाति का और बड़े आयतन वाला बड़ी जाति का तथा कम परिमाण के मस्तिष्क वाला छोटी और बड़े परिमाण के मस्तिष्क वाला बड़ी जाति का है।

परन्तु यह युक्ति भी संगत नहीं है।

यूरोपियन और हब्शी लोगों के मस्तिष्कों के आयतन में ६ से १०घन इंच का अन्तर होता है परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि कम आयतन वाला छोटी उपजाति का है। क्योंकि यूरोपियनों में ही पुरुष और स्त्री के मस्तिष्कों के आयतन में १२ से १३ वर्ग इंच का फरक होता है। यह तो कहना संभव नहीं कि यूरोप में पुरुष एक उपजाति का और स्त्री दूसरी उपजाति की होती है। मस्तिष्क के तोल पर आधारित तर्क की भी ऐसी ही स्थिति है। लंगूरों में आराङ्ग ओटाङ्ग का मस्तिष्क सबसे भारी होता है इसका तोल ७०० से ८०० ग्राम होता है। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों का मस्तिष्क इससे कुछ ही भारी ९००-१००० ग्राम होता है। इधर नार्डिक यूरोपियन वा उत्तरभारत के ब्राह्मणादि के मस्तिष्क का तोल लगभग १५०० ग्राम होता है। इससे यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि

आस्ट्रेलिया के निवासी सबसे निकृष्ट और १५०० ग्राम वाले सबसे उत्कृष्ट है। परन्तु चीन का औसत मस्तिष्क तोल योरप के औसत मस्तिष्क तोल से अधिक है। ध्रुव प्रदेश के रहने वाले एस्किमो का मस्तिष्क किसी से भी कम नही है जबकि यह अर्ध-सम्य माना जाता है। इसी प्रकार लम्बाई में भी कोई उन्नति का चिन्ह नही। कई लम्बे भी असम्य होते है और कई नाटे भी सम्य होते है। इस प्रकार ये आधार वा मापदण्ड ठीक नहीं—चाहे इन्हे कितना ही वैज्ञानिक कहने का प्रयत्न किया जावे।

३. मानव आदि मे असम्य, बेडौल और असंस्कृत एवं असम्य था अतः पहले के लोग होने भी ऐसे चाहिएँ जो इस अवस्था से बाद मे इस उच्च अवस्था को प्राप्त हुए हों।

परन्तु यह उक्ति भी सर्वथा असंगत है। विकासवाद पर इसका आधार है। इस वाद का खण्डन पूर्व किया जा चुका है। जब विकासवाद की ही स्थापना असिद्ध है तो फिर उसके आधार पर दूसरा वाद अथवा जाति-भेद किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। यह धारणा भी भ्रान्त है कि आरम्भ में मनुष्य बेडौल और असम्य था। न्यायाधीश श्री स्ट्रेंज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है कि "सृष्टि की आदि मे अमैथुनी सृष्टि होती है और इस अमैथुनी सृष्टि मे उत्तम और सुडौल शरीर बनते है।[1]" इसके अतिरिक्त यह युक्तियुक्त भी है कि अमैथुनी रचना एक प्रकार का ढाँचा है जिससे पुन. मैथुनी सृष्टि चलती है। अतः वह सर्वथा उत्तम और सुडौल होनी ही चाहिए। आज भी साँचा बनाते समय उत्तम ढग पर ही वह बनाया जाता है। यदि साँचा खराब होगा तो फिर ढलने वाली वस्तु तो खराब बनेगी ही। अतः साँचा बनाने में उत्तम से उत्तम परिष्कार बर्ता जाता है। जब साधारण आदमी भी ईंटों के साँचा और रुपयों आदि के साँचे को सर्वथा सुडौल उन्नत और परिष्कृत बनाने का प्रयत्न करता है तो जगन्नियन्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भद्दा, कुरूप और काला साँचा क्यों बनावेगा। अतः यह सर्वथा गलत है कि मानव हब्शी और कलँग जाति से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न शाखाओं मे विभक्त हुआ।

ये कुछ तर्क थे जिनका यहाँ पर निराकरण किया गया। अब यह दिखलाया जाता है कि इस कल्पना के लिए कोई स्थिर भूमिका नहीं है। इस दिशा में दो प्रकार की वैज्ञानिक खोजें हुई है—एक रंग के आधार पर और दूसरी मानव-वंश-परम्परा शास्त्र के आधार पर। दोनों को यहाँ पर दिखलाया जाता है।

---

1. The Development of Creation on the Earth, P. 17

प्रथम वैज्ञानिक खोज के अनुसार निर्धारित सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के पूर्व कहे गये चारों विभागों में काकेशस विभाग सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। इस विभाग के लोग गौर शरीर है। इसी विभाग से सब रंगों की उत्पत्ति हुई है। इस खोज के विद्वानों का यह विचार है कि 'हेमाइट' लोग काकेशस वंश के है[1] और सफेद से भूरे और काले रंग के हो गये है। इनके बाल सीधे और निग्रो जाति के घुघुरूदार होते है। हेमिटिक शाखा के लोग मिश्र में रहते है। विद्वानों की धारणा है कि अमेरिका के लाल रंग वाले मूल निवासियों का मिलान मिश्र निवासियों अर्थात् हेमेटिकों से ही होता[2] है। इस प्रकार लाल, पीत और कृष्ण एवं सफेद रंग के चारों समुदाय काकेशस विभाग से ही उत्पन्न है।

दूसरी खोज जो मानव-वंश-परम्परा की है उसका निष्कर्ष यह है कि संसार के जितने मनुष्य हैं सब हेमेटिक और सेमिटिक शाखावों में ही अन्तर्भूत हो जाते है। यह भी सब पर ज्ञात है कि मिश्र निवासी हेमिटिक हैं। इनके यहाँ मुर्दो को मसाला लगाकर रखने की प्रथा थी। मिश्र की मीनारें इन्हीं मुर्दों को रखवाने के लिए बनायी जाती थी। अब ऐसा पता लगा है कि ये सभी बातें अमेरिका के लाल रंग वाले मूल निवासियों में भी पाई जाती है। पुरातत्व के अनुसंधान-कर्त्तावों को वहां भी 'ममी' मिली हैं और मीनारें भी मिली हैं। इसी आधार पर यह निश्चित किया गया है कि अमेरिका निवासियो का सम्बन्ध मिश्र देशीय हेमिटिकों से[3] ही है।

इस प्रकार हेमिटिक का काकेशस के अन्दर ही अन्तर्भाव होने के बाद इसकी दूसरी शाखा का विचार आता है जो सेमिटिक है। इस सेमिटिक शाखा में अरब, सिरलन, सीरिया और जुडिया के यहूदी आदि सम्मिलित हैं। इसी की एक शाखा हिट्टाइट (Hittite) है जो पूर्वकाल मे मेसोपोटेमिया में रहा करती थी। यहाँ पर पुरातत्त्व के अन्वेषण-कर्त्तावों को इनके ३४०० वर्ष पूर्व के ईंटों पर लिखे मुलह-

1. Hemites—A family of Caucasic man belonging to the Melanochroid or dark type, ranging in colour from white to brown and even black; hair soft, straight or wavy. Harmsworth, History of the World. P. 330.
2. सूचना—सभी विस्तार इसी पुस्तक में देखें।
3. देखें Harmsworth History of the world. Page 2014 and Himyarites तथा Egyptians etc.

नामे मिले है। लोगों का यह भी कहना है कि इन्ही लोगों का एक दल भारत में रहता है जो द्राविड कहलाता है।[1]

इन विद्वानों के अनुसार भारत के द्राविडों की भाषा मंगोलिक और निग्रो विभागों को सयुक्त करती है। भाषा के अतिरिक्त रूप, रंग और शारीरिक गठन भी ऐसा ही है। कई विद्वानो ने यह पता लगाया है कि भारतीय द्राविडों की भाषा आस्ट्रेलिया की भाषा की भाँति है। यह भी उनका कथन है कि यह भाषा मंगोलिक विभाग से भी मिलती है। आस्ट्रेलिया निवासी शुद्ध निग्रो जाति के हैं और दूसरी तरफ द्राविड जाति से भी सम्बन्ध रखते हैं। अत. निष्कर्ष यह निकला कि द्राविड जाति इस प्रकार नीग्रो और मागोलिक विभागों से अपने को जोड़ती हुई अपना मूलोद्गम सेमिटिक शाखा मे सस्थापित करती है। इसी प्रकार हेमिटिक शाखा अमेरिका के मूल निवासियो को जोड़ती है। इस भाँति काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखावों से ही मंगोलियन और अमेरिकन तथा नीग्रो विभागों का सम्बन्ध जुड़ता है। अत पूर्व कथित दोनों खोजों को विचार में रखकर यह परिणाम सहजता से निकल आया कि समस्त विश्व के काले, पीले, लाल और सफेद रगवाले चारों विभाग काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखावों से ही उत्पन्न हुये हैं। तथा ये नूह के पुत्र हेम और शेम की ही सन्तति है। मनु की मछली अर्थात् नूह के जल-प्लावन की कथा[2] मिश्र, बेबलिन, सीरिया, चाल्डिया, जुडिया, फारस, अरब, ग्रीस, भारत और चीन आदि संसार के समस्त देशों और समस्त जातियों मे पाई जाती है। इसी कथा को नूह की कथा का रूप दे दिया गया है। नूह शब्द मालूम पड़ता है कि 'नौका', वा 'नौ.', का विगड़ा रूप है। मन मे दो मानव वंश चलते है—'सूर्यवंश' और चन्द्रवंश जिसे ही सोमवंश भी कहा जा सकता है। मनु की नौका मे नूह (Noah) की कल्पना कर उसके दो पुत्र हेम और शेम स्वीकार कर लिये गए। हेम शब्द भी संस्कृत भाषा का है। हेम के अर्थ स्वर्ण के है और जल अर्थ मे भी यह प्रयुक्त होता है। परन्तु 'हेममाली'[3] पद सूर्य के लिए प्रयुक्त होता है। अतः हेम से सूर्य और शेम से सोम अर्थात् चन्द्र ही नूह की कथा में लिया गया ज्ञात होता है। इसी आधार पर हेमाइट और सेमाइट पद भी कल्पित हुये हैं। यह भी संभव है और बहुधा ठीक है कि 'नौस्थ' जो मनु

1. इसका विस्तार वैदिक सम्पत्ति (पं० रघुनन्दन शर्माकृत) में देखें।

2. See Encyclopaedea of Religion and Encyclopaedea of Knowledge on Deluge and Manu and also compare the Sanskrit-dictionary of Monier Williams on word Manu.

3. आप्टे की डिक्शनरी तथा मोनियर विलियम्स की संस्कृत डिक्शनरी

की गाथा में मनु के लिए प्रयुक्त किया जावेगा उसका ही यह नूह (Noah) शब्द गढ़ लिया गया हो।

नूह के बड़े पुत्र हेम की सन्तति मिश्र में रहती है। वह अपना सम्बन्ध राजा मनु से बतलाती है। पहले 'मैन' आदि मनुष्य वाचक शब्दों से भी यह बात प्रकट की जा चुकी है। वह मिश्र जाति अपने को सूर्यवंशी भी कहती[1] है। मनु वैवस्वत के मूल विवस्वान् को अपना इष्ट समझती है। इन्हीं मिश्र वालों की सन्तानें मूल अमेरिका निवासी भी है—यह कहा जा चुका है। इस प्रकार यह ज्ञात हुआ कि समस्त मानव-जाति मनु से ही विस्तार को प्राप्त हुई है। मनु ही उसका आदि पूर्वज है। इस सिद्धान्त के निकल आने पर भिन्न जातियों के मूल का वर्गीकरण अपने आप ही गिर जाता है। इस अवस्था में यह भेद कल्पित है—इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता है।

संसार में जातियों के विषय का एक सार्वभौम वैज्ञानिक और दार्शनिक नियम कार्य कर रहा है। वह है समान-प्रसव का नियम न्याय शास्त्र के कर्त्ता गौतम मुनि ने जाति का लक्षण करते हुए लिखा कि जिसका समान प्रसव हो वह जाति है। बन्दर, कुत्ता, गधा, हाथी और मनुष्य में सर्वत्र यह नियम कार्य कर रहा है। इसका तोड़ा जाना असंभव है। यदि कहीं पर एक जाति के नर वा मादे का दूसरी जाति के नर वा मादे से परस्पर सम्बन्ध कराके कोई सन्तति उत्पन्न भी की गई तो वह आगे अपने सन्तति को न चला सकेगी और उसका सन्ततिजनन अवरुद्ध हो जावेगा। यह जाति का नियम आगे के विस्तार को रोक देगा। नकली कुत्ते और खच्चर को पैदा करने में यह विकल्प देखा गया है। परन्तु ये दोनों ही आगे अपनी सन्तान नहीं चला सकते हैं—यह भी सिद्धान्त है। तथा प्रत्यक्षदृष्ट है। यदि मानव जाति के विभाग भी वस्तुतः जाति विभाग होते तो एक दूसरे का सांकर्य होने पर या तो सन्तान ही नहीं उत्पन्न कर सकते थे और यदि उत्पन्न कर सकते तो फिर आगे उनकी सन्तति नहीं चल सकती थी। परन्तु इन उप-जातियों में यह बात पाई नहीं जाती है। अतः यह कृत्रिम और बनावटी तथा कल्पना मात्र है। ये वस्तुतः जाति नहीं। जाति तो केवल एक मनुष्य जाति है। श्री डाक्टर[2] संम्पूर्णानन्द ने भी इस

1. The reader will not readily forget the city of the Sun 'Helis-polis' or 'Menes' the first Egyptian king of the race of the Sun, the Manu Voivasowant or patriarch of the solar race nor his statue, that of the great 'Menoo' whose voice was said to salute the rising Sun. India in Greece. Page 174.

2. देखें—आर्यों का आदि देश।

जाति भेद को कल्पित माना है।

'हिन्दू' पत्र मद्रास के तीन फरवरी १९६४ के संस्करण में एक विद्वान् के व्याख्यान का विवरण छपा है। ये विद्वान् डा० मिल्टन सिंगर है। ये अमेरिका में शिकागो विश्वविद्यालय में मानववंशशास्त्र के प्राध्यापक हैं। विवरण में बतलाया गया है कि उपजातिवाद (Race Movement Theory) को ये असामयिक और अवैज्ञानिक मानते है। इससे यह भली प्रकार ज्ञात होता है कि अब विद्वान् इस तथ्य को समझने लगे हैं और उपजातिवाद की कल्पना को अनुचित मानने लगे[1] हैं।

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में (५।२।३१) नासिका से नत अर्थात् नत नासिका के व्यक्ति को अवटीट, अवनाट और अवभ्रट लिखा है। यहाँ पर 'नते नासिकायाः संज्ञायाम् टीटञ् नादज् भ्रटच., सूत्र से नतनासिक को संज्ञा में टीटञ्, नाटञ् और भ्रटच् प्रत्यय किये हैं। इससे स्यात् यह किसी को संदेह हो कि ये उपजातियों में घटते हैं अत. पाणिनि ने भी इसी आधार पर ये शब्द बनाये हों—तो ठीक नही। यहाँ पर तो सभी नतनासिकों के लिये ये शब्द हैं। किसी विशेष भेद के द्योतन के लिये नहीं। जो अवटीट है, वही अवनाट और अवभ्रट भी है। ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं। पाणिनि ने ५।२।३२ सूत्र से इसी अर्थ में निबिड और निबिरीस शब्द तथा ५।२।३३ सूत्र से चिकिन और चिपिट पद भी बनाये हैं। इन से कोई उपजाति नही सिद्ध होती है। पाणिनि ने इन आकृति की नाक वाले मनुष्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यह किसी भी अवस्था में जाति-भेद का द्योतक नहीं है। आर्य, अनार्य, सभी में इस नासिका वाले व्यक्ति हो सकते है। किसी जाति-विशेष की ही ऐसी नाक होती है—यह यहाँ मर पाणिनि को अभीष्ट नहीं है।

1 An American anthropologist Dr. Milton Singer, and a well-known historian of India, Prof. K A. Nila Kantha Sastri, were unanimous in their view that the Aryan-Dravidian race controversy had no scientific basis.

Dr. Singer who is a profesor of anthropology, Chicago University was speaking today on "Anthropology and the study of Indian civilisation" under auspices of the Social Science Association at the Govt. Museum. He said that the race theory had become outmoded and unscientific in the light of modern theories. Hindu, February 2. 1964.

द्राविड़ और आदिवासी आर्यों से पृथक् नहीं—एक बड़ी ही निराधार धारणा इतिहास के क्षेत्र में यह बनाई गई कि आर्यों से पूर्व इस देश में द्राविड़ और आदिवासी लोग रहते थे। आर्यों ने आकर उन पर आक्रमण किया और उन्हें पराजित कर अपनी सभ्यता और धर्म का विस्तार किया। यह बात है तो निराधार परन्तु इसका राजनैतिक प्रभाव बहुत ही कटु हो, चला है। देश-विदेश के कई विद्वानों ने इन आधारों को लेकर अपने मनमाने प्रासाद खड़े किये। श्री डा० कुन्हन राजा ने तो यहाँ तक लिखा कि वेदों में दार्शनिक मूलतत्व[1] है ही नहीं और दाक्षिणात्य दार्शनिक तत्वों से भारत के वैदिक दर्शन का विकास हुआ। कुछ लोगों ने लिखा कि मोहन-जोदारो[2] की खोदाई से प्राप्त सामान भी यही सिद्ध करते हैं। वहाँ की भाषा भी द्राविडियन ही थी, यहाँ तक कहने का भी साहस कई व्यक्तियों ने किया है।

परन्तु ये कल्पना के भवन हैं। इनमें कोई तत्व नहीं है। जैसा कि पहले सिद्ध किया जा चुका कि आर्य ही सृष्टि के आरम्भ से हैं। उन से पूर्व न कोई द्राविड़ जाति थी और न कोई दूसरे मूल आदिवासी थे। मोहन-जो-दारो में जो वस्तुवें मिली हैं उनसे यह अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है कि आर्यों से पूर्व इस देश में कोई था। अभी तक सारी स्थिति सन्देह और मनःप्रसूत कल्पनावों पर चल रही है। इसके विपरीत ऐसी भी वस्तु इस खोदाई में मिली है कि जो यह सिद्ध करती है कि इससे पूर्व आर्य और वेद मौजूद थे। मोहन-जो-दारो की भाषा तो अभी तक पढी ही नहीं जा सकी है और पढने वालों में बड़ा मतभेद है। फिर उसको द्राविड़ भाषा कहना अथवा उसके आधार पर कोई ऐतिहासिक परिणाम निकालना नितराम् त्रुटिपूर्ण है और वे सिर पैर[3] का है। आदिवासी और पालवंशीय महात्मा बुद्ध की कल्पना का खड़ा करना भी इसी प्रकार की बात है जो आदिवासी आन्दोलन को चलाने वाले लोग किया करते हैं। वे ऋग्वेद ३।५३।१४ मंत्र का हवाला देते हैं कि इसमें 'कीकट'[4] पद आया है जो वर्तमान विहार के लिये प्रयुक्त है और 'प्रमगन्द' का वर्णन है जो पालवंशीय क्षत्रिय महात्मा बुद्ध ही थे। भागवत की भी पुष्टि इस विषय में देते हैं। परन्तु यह गलत है। कीकट का अर्थ किकृत अर्थात् कर्तव्याचार रहित मनुष्य और स्थान है। ये व्यक्तिवाचक नहीं। प्रमगन्द का अर्थ सूदखोर है।

---

1. History of Philosophy Eastern & Western. (इसका निराकरण मेरी पुस्तक दर्शनतत्व-विवेक में किया गया है।
2 देखें 'वैदिक एज' आदि पुस्तकें।
3. देखें आर्यों का आदिदेश।
4. देखें श्री बोधानन्द-कृत भारत के मूल-निवासी।

उसके धन के अपहरण की बात कही गई है। इससे कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं सिद्ध होता है।[1]

एक तर्क यह उठाया जाता है कि वेदों में आर्यों के द्वारा आर्यवर्ण की रक्षा की प्रार्थना इन्द्र से की गई[2] है और दस्युवों अनार्यों को मारने की प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि यहाँ पर जो आर्यों से पूर्व द्राविड़ एवं आदिवासी थे उन्हें ही इन आर्यों ने अनार्य और दस्यु शब्द से व्यवहृत किया है।

यहाँ पर यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि वेद में किसी ऐतिहासिक व्यक्ति वा जाति का नाम नहीं है। इन्द्र, आर्य और दस्यु कोई व्यक्ति नहीं और न कोई इतिहास की उपजातियाँ ही है। वेद के सभी शब्द यौगिक है अतः ये गुणवाचक है। इन्द्र के राजा, सूर्य और परमेश्वर आदि अनेक अर्थ है। इसी प्रकार आर्य और दस्यु शब्द भी गुणवाचक है जाति के सूचक नहीं। आर्य का उत्तम गुण कर्मों वाला और दस्यु का अर्थ है डाकू, चोर आदि। श्रेष्ठों की रक्षा, आततायियों को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य ही है। फिर वेद के ऐसे वर्णन से अन्यथा कल्पना करने को स्थान ही कहाँ रह जाता है। मेघ जिसे वृत्र कहा गया है उसको भी वेद में दस्यु कहा जाता है। निरुक्तकार यास्क ने इस पर प्रकाश डाला है। दस्यु डाकू और बुरे कर्मों को करने वाले है। जो आर्य इस प्रकार के कर्म करने लगेगा उसे भी दस्यु कहा जावेगा और जो दस्यु आर्यों का कर्म करने लगेगा वह आर्य कहा जावेगा।

दस्यु क्या है? इसकी परिभाषा भी वेद ही कर देता है। ऋग्वेद ८।७०।११ और १०।२२।८ में लिखा है कि कर्महीन, यज्ञहीन, अविचारी, अनीश्वरवादी, अमानुष मनुष्य दस्यु[3] है। रही बात दस्युवों के मारने की प्रार्थना की। वह भी कोई ऐसा निर्णय करने की प्रेरणा नहीं देती कि ये दोनों भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, वेद में केवल दस्युवों को ही दण्ड देने का नहीं लिखा है—वहाँ पर आर्यों को भी दण्ड देने का लिखा है। ऋग्वेद ६।३३।३ मंत्र[4] कहता है कि "हे पराक्रमी इन्द्र-नेतः! तू उन दोनों

---

1. इसका निराकरण मेरी पुस्तक वैदिक-इतिहास-विमर्श में देखें। मेरी पुस्तक दर्शनतत्व-विवेक में भी इस पर विचार किया गया है।

2. हत्वी दस्यून् प्रार्य वर्णमावत्। ऋ ३।३४।९

3. अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। ऋ० ८।७०।११
अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। ऋ० १०।२२।८

4. त्वा तान् इन्द्र! उभयान् अमित्रान् दासा वृत्राणि आर्या च शूर। वधीः वन इव सुधितेभिः अत्कैः आपृत्सुदर्षि नृणां नृतम॥ ऋग्वेद ६।३३।३

पापात्मा अमित्रों, दस्युवों और आर्यों को मार जिस प्रकार कुल्हाड़े से वन काटे जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि यहां युद्ध में क्या करना चाहिए इसकी शिक्षा दी गई है। अतः इस वर्णन से यह सिद्ध है कि वेद में जो आर्य और दस्यु का वर्णन है उससे द्राविड और आदिवासियों की आर्यों से पृथकता नहीं सिद्ध होती और न यही सिद्ध होता है कि आर्यों से पूर्व ये यहाँ पर रहते थे।

महाभारत-कालिक यास्क के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि द्राविड़ आर्यों से पृथक् नहीं आर्यों में ही थे। ऋग्वेद १।१२४।७ मंत्र में आये हुए 'गर्ताख्' पद की व्याख्या करते हुए यास्क ने 'दाक्षिणाजी' शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध प्रथा के आधार पर अर्थ समझाने के लिए किया है। पुनः ६।२।१० पर ऋग्वेदीय १।१०६।२ मंत्रस्य 'विजामाता' पद के अर्थ को समझाने के लिए दक्षिण की प्रथा का दिग्दर्शन कराते हुए 'दाक्षिणाजा.' शब्द का प्रयोग किया है। इन दोनों शब्दों की व्याकृति करते हुये स्कन्द स्वामी क्रमश. दोनो स्थलों पर लिखते हैं। "दक्षिणापथ[1] में किसी प्रदेश मे अपुत्रा, अपतिका स्त्री पति के धन को प्राप्त करने के लिए न्यायालय को जाती है। दक्षिण दिशा वा देश को अजिता=गता अथवा तत्र जाता दक्षिणाजी है। उसके अपत्य स्त्री को दाक्षिणाजी कहा जाता है। तथा दाक्षिणाज[2] —दक्षिणदिशा वा देश में पैदा हुए दक्षिणाज हैं और वे ही पुनः दाक्षिणाज हैं।" यहाँ पर यास्क ने मंत्रस्थ पद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए वहाँ के प्रचलनों का उदाहरण दिया है। इससे ज्ञात होता है कि यास्क के समय तक कोई भेद-भाव आर्य और द्राविड़ का था नहीं। यदि द्राविड़ अनार्य होते तो यास्क वेद के शब्द के अर्थ को बताने के लिए उनकी प्रथा का उदाहरण क्यों देता। जबकि विदेशियों और एतद्देशीय विद्वानों का कहना है कि वेद में इनको मारकर इनके धन आदि के हरण की प्रार्थना आर्य लोगों ने की है। आर्येतर होने से यह वैदिक प्रथा भी फिर इन दाक्षिणात्यो मे क्यों थी। कहना पड़ेगा कि यह आर्य और द्राविड का भेद सर्वथा कल्पित है। जो आर्य दक्षिण में बसे वे दाक्षिणाज कहलाये और वे ही द्राविड़ हैं। आर्यों से इतर द्राविड़ नाम की कोई जाति नही।

---

1. दाक्षिणाजी दक्षिणां दिशं देश वा अजिता गता जाता वा तत्र दक्षिणाजीः, तस्या अपत्यं स्त्री दाक्षिणाजी। नि० स्कन्दभाष्य।
2. दाक्षिणाजा दक्षिणस्यां दिशि देशे वा अजावृत्त इत्याङ्‌ पूर्वस्य जनेर्डः प्रत्यय., दक्षिणजा एव दाक्षिणाजाः। स्कन्द भा०

लौकिक भाषा में विपरीतार्थ में प्रयुक्त व्रात्य पद को वेद के व्रात्य से समता लेकर कई लोगों ने यह विचार व्यक्त किया है कि व्रात्य लोग घुमक्कड जाति के थे। ये चारों तरफ घूमा करते थे। पूर्वी भारत में रहते थे और इनकी संस्कृति आर्यों से भिन्न थी। परन्तु यह वैदिक-साहित्य को न जानने से भ्रम पैदा हुआ है। यहां पर थोड़ा-सा विचार इस विषय में किया जाता है। यह ज्ञात रहे कि वेद में किसी प्रकार का इतिहास नहीं है। अतः उससे इतिहास निकालना सर्वथा ही विपरीत और अनर्गल बात है। वेद में व्रात्य पद कई स्थलों पर आया है। यजुर्वेद में व्रातपति, व्रात, व्रातसाह, व्रात शब्द आये हैं। इनका अर्थ क्रमशः मनुष्यपालक, मनुष्य, मनुष्यों का सहन करने वाले वा वीरों का सामना करने वाले, सदाचारी, समूह और असंस्कृत अर्थ है। अथर्ववेद में कई स्थलों पर यह पद विभिन्न विभक्तियों में आया है। परन्तु वहाँ पर परमात्मा, विद्वान् और सदाचारी, व्रती आदि अर्थ है। व्रात्यध्रुवपद भी अथर्व में आया है। परन्तु, यहाँ पर भी व्रात्य का अर्थ उत्तम ही है। ऋग्वेद में भी व्रात, व्रातसहा:, पद आये है। 'व्रातास.' पद भी बहुवचन में आया है। यहाँ भी पूर्ववत् अर्थ है। अथर्व १५।१८।१—५ मन्त्रों में तो व्रात्य की दायी आँख को आदित्य, बायी आँख को चन्द्रमा; दाहिने कान को अग्नि और बायें कान को पवमान, आदि कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ पर व्रात्य का अर्थ परमात्मा है। निघण्टु २।३ में 'व्रात्य' पद मनुष्य नाम मे पढा गया है जिससे इसका सामान्य अर्थ मनुष्य है। कोई भी मनुष्य व्रात्य कहा जा सकता है। मनुष्य का अर्थ है समझकर कर्म करने वाला और 'व्रात्य' का अर्थ है व्रतकर्म में रहने वाला। अतः दोनों का अर्थ एक ही है। निरुक्त ५।१।४ मे यास्क ने 'व्रा:' पद का अर्थ 'व्रात्या:' किया है और कहा है कि व्रात्या: का अर्थ 'प्रैषा:=भृत्यवर्ग है। ऋग्वेद ८।२।६ में यही अर्थ 'व्रा:' का यास्क ने लिया है। निघण्टु में 'व्रा.' पद-नाम में पठित है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् २।११ में प्राण को व्रात्य कहा गया है क्योंकि वह अन्न का पचाने वाला और नियम में रहने वाला है। व्रात पद भी मनुष्यार्थ में निघण्टु में पढा गया है। पञ्चविंश, ताण्ड्य, ब्राह्मणों के अनुसार व्रात्य सदाचारी विद्वान् है। ऐतरेय और शतपथ में व्रात्य का अर्थ संस्कारहीन लिया गया है। इस प्रकार दोनों प्रकार का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों मे मिलता है। यजुः ३०।८ में व्रात्य का अर्थ असंस्कृत है। उसी अर्थ को इन दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थों ने दिखला दिया।

महाभाष्यकार पतंजलि ने ५।२।२१ पर व्रात्य, व्रातीन और व्रातम् आदि स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—नाना[1] जातीय अनियत वृत्ति, उत्सेध-जीवी संघ व्रात

1. नाना जातीया अनियतवृत्तय: उत्सेधजीविन: संघा: व्राता: तेषां कर्म व्रातम् व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीन: । ५।२।२१

है। उनका कर्म व्रात है और व्रात-कर्म से जो जीवित है वह व्रातीन है। भाप्यकार यहां पर 'व्रात' के समूह अर्थ को लेकर व्याख्यान कर रहा है। 'व्रात' समूह अर्थ में भी तो प्रयुक्त होता है। इस प्रकार व्रात्य के अनेक अर्थ हैं। परन्तु इन अनेक अर्थों के होते हुए भी यह नहीं सिद्ध होता है कि ये आर्यों से पृथक् जाति है और उनसे पूर्व कहीं पर उपस्थित थे। यदि ये इसी अर्थ में लिए जाते हैं तब भी तो यही भाव निकलता है कि आर्यों में जो संस्कारहीन हुये वे व्रात्य कहलाये। फिर भी तो वे आर्यों से ही निकले। लौकिक व्रात्य शब्द को लेकर वेद को भी घसीटना ठीक नहीं है। संस्कार हीन व्रात्य हैं तो भी वह आर्य में ही आता है। यह तो गुणवाचक पद है न कि जाति-वाचक। नेसफील्ड ने लिखा है कि "भारतीयों में आर्य विजेता और मूल निवासी जैसे कोई विभाग नहीं हैं[1]। इस प्रकार द्राविड और आदिवासी आर्यों से पृथक् कोई जाति नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८ में लिखा है कि दस्युवों, अंध्र, पुण्ड्र, शवर, पुलिन्द, मूर्त्तब, और उदन्त्य आदि विश्वामित्र की सन्तान हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति में (१०।४३४४) कहा गया हैं कि धर्मोपदेश के न मिलने से ये क्षत्रिय जातियां धर्म-भ्रष्ट हो गई और पृथक् हो गई। ये पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्राविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, दरद और खश जातियां इसी प्रकार से हुई है।[2] महाभारत शान्ति-पर्व अध्याय ६५ के १३-१४ श्लोकों में भी इसी प्रकार का मिलता-जुलता वर्णन मिलता है। इस प्रकार यह सुतराम् सिद्ध है कि सभी जातियां एक मूल आर्य जाति से निकली हैं। आर्यों से पूर्व किसी जाति का कोई अस्तित्व धरा पर नहीं था। यह उपजाति कल्पना सर्वथा ही भ्रान्तधारणा है। आदि-वासी और द्राविड आदि आर्यों से पृथक् नहीं। ये सभी आर्यों में ही हैं।

---

1. Brief View of the caste system of the North Western Province. Page. 27.
2. देखें विस्तार से मेरी पुस्तक 'वैदिक ज्योति' का वर्ण-विभाग प्रकरण

अध्याय ७

अवेस्ता—वेद और ईरान-भारत सम्बन्ध

इतिहास-सम्बन्धी विविध मान्यतावों पर पूर्व प्रकरणों में विचार किया गया है। यहाँ पर विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए यह अपेक्षित है कि जन्दभाषा के आधार पर वेद की समकालिकता वा पाश्चात्कालिकता तथा ईरान और भारतीय आर्यों के सम्बन्ध को आधार बनाकर कई ऐतिहासिक विद्वान् वेद के काल और आर्येतिहास का समय निर्धारण करने तथा इतिहास की समस्यावों के सुलझाने का जो प्रयत्न करते है उस पर भी ऊहापोह विचार किया जावे। एतदर्थ यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। इस विषय मे पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वान् 'गाथा' और उसकी भाषा तथा वैदिक भाषा की समता पर भी अधिक बल देते है। इन सब बातों का निराकरण यहाँ पर किया जावेगा। 'आर्य-समस्या' (The Aryan Problem) शीर्षक मे पृष्ठ २०३ पर वैदिक एज में लिखा गया है—"भाषा-विज्ञान के विशुद्ध दृष्टिकोण से वर्तमान रूप में प्रस्तुत ऋग्वेद के समय को एक सहस्र वर्ष ईसा से अधिक पूर्व का नही कहा जा सकता है। ऋग्वेद की भाषा उसी प्रकार अवेस्ता की गाथा की भाषा से अनति भिन्न है जिस प्रकार पुरानी अंग्रेजी पुरानी उच्च जर्मन से। अतः इनका लगभग एक ही समय निर्धारित किया जा सकता है।......अतः यह अवेस्ता की गाथावों का लगभग समय होगा जिसका कि वर्तमान ऋग्वेद न्यूनतः अथवा अधिकतः समकालिक होगा। इसलिए भाषा-विज्ञान सम्बन्धी सामान्य विचारों से हम अपने पर ज्ञात ऋग्वेद की भाषा का समय ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व कह सकते है।[1]

1. From a purely linguistic point of view the Rigveda in its present form cannot be dated much earlier than 1000 B. C. The language of the Rigveda is certainly no more different from that of the Avestan Gathas than is old English from old High German, and therefore they must be assigned to approximately the same age;............This then would be the approximate date of the Gathas of Avesta—with which the Rigveda in its present form must have been more or less contemporaneous. Thus from general linguistic considerations we get for the Rigveda language as known to us, an approximate of 1000 B. C. P. 203-204

इस बात को यहीं पर समाप्त नहीं समझना चाहिए। एक झूंठी कल्पना अपने खड़े होने के लिए दूसरी झूंठी कल्पना का सद्यः आश्रय चाहती है। कल्पना करने वाला तत्काल दूसरी झूंठी कल्पना का प्रसव करता है। संसार में यह देखा गया है कि गर्व और चर्बी (Arrogance & Fat) जिसमें अपना स्थान बनाते हैं उसे परिज्ञान नहीं होता है कि ये वृद्धि पर हैं। परन्तु ये बढ़ते रहते हैं। यही अवस्था झूठी कल्पनावों की भी है। कल्पना करने वाले को यह नहीं ज्ञात होता है कि वह क्या कर रहा है—परन्तु ये बराबर बढ़ती ही जाती हैं। वैदिक एज में संभाव्यता और सभव शब्दों की आड़ में ऐसी असत्य कल्पनावों का बाहुल्य है। वैदिक एज का पृष्ठ २१८ इस विषय में द्रष्टव्य है। वहाँ पर जो पंक्तियां लिखी गई है उनका विस्तारभय से उल्लेख नहीं किया जा रहा है। परन्तु भाव को अवश्य प्रकट किया जा रहा है। जिस प्रकार एक इण्डोयोरुपियन भाषा की कल्पना की गई है उसी प्रकार एक इण्डोयूरोपियन आर्य जाति की भी कल्पना खड़ी की गई है। जिस प्रकार इण्डोईरानियन भाषा जो कि इण्डोयूरोपियन भाषा का एक परिवार कल्पित की गई है। उसी प्रकार एक इण्डोईरानियन आर्य-जाति भी मान ली गई है। जिस प्रकार इण्डोयोरुपीय आर्यों के एक इण्डोयूरोपीय आवास की कल्पना की गई है उसी प्रकार इण्डोईरानी आवास की कल्पना की गई है। यह स्थान 'ईरानवेज' को समझा गया है तथा इण्डोयोरुपीय आर्यों का स्थान उत्तर पश्चिमी 'किरगीज' माना गया है। यह 'उरल्स' के दक्षिण में है। इसी प्रकार एक और कल्पना वैदिक एज ने की है कि इण्डोईरानियन आर्यों से पूर्व ईरान में उसी प्रकार एक जाति और सभ्यता विराजमान थी जिस प्रकार भारत में आर्यों से पूर्व द्रविड़ आदि थे। उसी प्रकार ईरान में भी जातियां थीं और उनके परस्पर सम्बन्ध थे।[1]

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि यदि भारतीय आर्य ईरान से आये और ऋग्वेद की रचना भारत में की तो फिर इन्हें 'ईरानवेज' की घटना सर्वथा ही क्यों

1. The undivided Indo-Iranian must have passed a long time in their Central Asian home, for here grew up a specific Indo-Iranian culture and religion that may be reconstructed, at least partially, by comparing the Veda with the Avesta.......... It is very probable, therefore, that the Pre-Aryan cultures of North-West India and Iran were of the same spirit and origin-Page.218

भूल गई ? ऋग्वेद में अपने उस प्यारे देश प्रथम स्थान को क्यों नहीं स्मरण किया। जबकि ईरानी आर्यों ने उसे अपने स्मृतिपथ से पृथक् नहीं होने दिया। इसका उत्तर देने का वैदिक एज मे व्यर्थ प्रयास किया गया है। वैदिक एज का कथन है कि भारतीय आर्यों ने जान बूझकर उसका स्मरण नही किया। कारण यह है कि वे सर्वथा विरुद्ध हो गये थे। यद्यपि जान-बूझकर इस घटना को भारतीय आर्यों ने दबा दिया और स्मरण नही किया फिर भी वे 'रसा', सरस्वती और 'बाह्लीक' पदों को ईरान से लाये और दो भारतीय नदियों और एक प्रान्त पर प्रयुक्त किया। यद्यपि अज्ञात अपने ईरान सम्बन्धी संस्मरण को दबाना जान बूझकर या नहीं तो ऋग्वेद के बाद में रचे गये भागों मे, जिनमें संभवतः अथवा संभावनातः ईरानी नाम पाये जाते है, वे पहले ही ईरान मे रचे गये[1] होंगे।

पुराने ईरानी आर्य और पुराने भारतीय आर्य लोगों में असमंजस क्यो बढ़ा जो बाद में वैमनस्य बन गया ? इसका विचार करते हुए वैदिक एज पृष्ठ २१९ पर लिखा गया है कि आदिम भारत-योरोपीय धर्म ने केवल प्राकृतिक देवों—अन्तरिक्ष, सूर्य और वायु आदि को स्वीकार किया था तथा अग्नि के सिद्धान्त को माना था। अविभाजित भारत-ईरानियन लोग अग्नि-सिद्धान्त के अतिरिक्त सोम-सिद्धान्त तथा 'ऋत' के सिद्धान्त को भी इन प्राकृतिक देवतावों के अतिरिक्त स्वीकार करते थे। इसलिए यह भारतीय-ईरानी समाज आपस में साम्यमय नही रहा। ईरानी और भारतीय आर्यों के पूर्वज परस्पर पृथक् हो गये और उनका सांस्कृतिक मतभेद इसका

1. The Iranians had retained a distinct memory of the Indo-Iranian common home (Earanvej) in their mythology, but the Indo-Aryans, who must have developed their distinctively Indian Rigvedic culture about 1500 B.C. at the latest. have nothing to say on this point. It is indeed difficult to get away from the idea that the silence maintained by the earliest Vedic Indians on Iran and Iranians was at least, partly intentional, ... Thus the names Rasa, Saraswati and Bahlika .... must have been brought to India from Iran by Aryans and applied to two Indian rivers and one Indian Province. P. 219.

कारण बना।[1]

पुनः लिखा है कि 'प्राचीन भारतीय-योरोपीय परिभाषा डीवो (Deivo)-(भारतीय-ईरानी देव) नये नैतिक एवं संनिकृष्ट देवों के लिए अनुपयुक्त समझी जाने लगी और शब्द 'असुर' स्यात् उच्च सभ्यता से उधार लिया गया। तथा उनकी उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ। वरुण इन नैतिक देवों में मुख्य था जैसा कि इन्द्र प्राकृतिक देवों में मुख्य माना जाता था।[2]

इसी प्रकार यह भी दिखलाया गया है कि यह भेद इसलिए खड़ा हुआ कि असुर देवों, और देव देवों के आधार पर आसुर धर्म और देव धर्म का भेद खड़ा हो गया। यह भेद एवं विरोध जरथुष्ट्र से बहुत पूर्व बहुत बहाव पर था। जरथुष्ट्र की गाथाओं का समय १००० बी. सी. है जो कि भाषा-विज्ञान से दिखाया गया है।[3]

पुनः लिखा है कि "आसुर धर्म" भारतीय ईरानी समाज के बहुत सभ्य और स्थिर कृषक और पशुपालक तत्वों के द्वारा व्यवहार में लाया जाता था जबकि उससे पुराना देव धर्म बहुत शक्तिशाली था परन्तु न्यून सभ्य लोगों से व्यवहार में लाया जाता

1. The primitive Indo-European religion recognized only nature-gods (Sky Sun, Wind etc) and a fire-cult. But already the undivided Indo-Iranians knew a soma-cult, beside the older firecult and abstract deities beside the older nature-gods. Indo-Iranian society had therefore ceased to be homoge-neous even before the forefathers of the Indian and Iranian Aryans parted company and it is hardly to be doubted that their parting was more the effect than the cause of the cultural contrast revealed in religion. Vedic Age P. 219.
2. The old Indo-European term deivo (-Indo-Iranian daiva) was apparently cosidered in appropriate for the new abstract and ethical deities, and a new term, Asura, perhaps borrowed from a higher civilisation came to be used as their designation. Varuna was the chief of these ethical deities just as Indra was the chief of the older nature-gods. Page 219-220
3. But it was in full blast long before the advent of Zarthustra whose Gathas should be dated about 1000 B. C. on linguistic grounds as shown in the preceeding chapter. Page 220

था ।"[1]

यह घपला पैदा करते हुए कि "आर्यों ने जब अपने भारतीय ईरानी घर के संस्मरण को दबा दिया और नहीं लिखा तो क्या वे आसुर-पूजकों की स्मृति को भी उसी प्रकार नहीं दबा दे सकते थे ?" लेखक ने लिखा है कि "वे ऐसा नही कर सकते थे—क्योंकि कुछ असुर-पूजक भी उनमें मौजूद थे[2] ।"

वह पुन. लिखता है कि "अति प्राचीन भारतीय-ईरानी समाज की भाँति ही अति प्राचीन भारतीय-आर्य-समाज भी सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वथा एक नहीं था। यह बाहुल्य से दैविक था परन्तु केवल मात्र रूप से नहीं। समकालिक ईरानी समाज मुख्यता से आसुरी था। थोड़े समय के चढ़ा-उपरी और अभ्यस्तता के उपरान्त संधि स्थापित हुई और इस सीमा तक कामयाब हुई कि प्राचीन ऋग्वेदीय भाग में देव इन्द्र भी एक असुर समझा जाने लगा और माया जो कि असुर की संपत्ति है और जादू की शक्ति है उसे इन्द्र के साथ सम्बद्ध कर दिया गया ।"[3]

वैदिक एज के लेखक का पुन: कथन है कि "एक बड़ी संख्या में समान सिद्धान्त-पद होम=सोम, जौवोतर=होता, अथर्वन्=अथर्वन्, मथ्र=मंत्र, यजत=यजत,

---

1. Christensen has suggested that the Asura religion was practised by the more cultured and steadier elements of the primitive Indo-Iranian society whose chief occupation was agriculture and cattle-breeding, while the older daiva religion continued to find favour with the more vigorous but less civilised portions of the people......... Page 220

2. But this they could not, because some Asura-worshipers were physically present among them.

3. The earliest Indo-Aryan Society, too, like the earliest Indo-Iranian Society, was therefore not quite homogeneous culturally. It was predominently—but not exclusively—Davic while the contemporary Iranian society was predominently Asuric. After a period of conflict and adaptation there was peace which proved successful to the extent that even the foremost of the Daiva-gods, namely Indra, not only came to be regarded as an Asura in the oldest parts of the Rigveda, but was also credited with possessing Maya which was a special property of the Asuras and probably signified "Magical power." Page 221

यस्न=यज्ञ, आजुति=आहुति आदि के रूप में, तथा संपूर्ण यज्ञ-सिद्धान्त तनिक भी सन्देह को अवसर नहीं देते (यह स्वीकार करने में) कि वेद और अवेस्ता का कर्म-काण्ड एक ही और एक मूल के हैं। प्रमाणत: जरथुष्ट्र का सुधार उस वैदिक सोम-सिद्धान्त को वास्तविक रूप में परिवर्तित करने में समर्थ नहीं हो सका जो ईरान में उसके समय से युगों पूर्व प्रतिपालित था।"[1]

श्री प्राणनाथ विद्यालंकार और अन्य कई विद्वानों का विचार है कि वेदों में ऐसे शब्द हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता है। जर्भरी, तुर्फरी इसके उदाहरण हैं। उनके अनुसार ये शब्द ईराक की प्रसिद्ध नदियों, पहाड़ों और नगरों के विशेष नाम हैं। इनका यह भी कथन है कि यदि आर्यों की एक शाखा भारत में थी तो उसी समय दूसरी शाखा ईराक में थी, दोनों में संपर्क था, इसलिए वेदों में दोनों का इतिहास है।[2]

वेदों में इस प्रकार के विदेशी भाषा के शब्दों का होना बतलाते हुए लोकमान्य आदि ने आलिगी, विलिगी, तावुव आदि शब्द बताये हैं। इनका उत्तर पूर्व प्रकरणों में दिया जा चुका है फिर भी पुन: यहाँ पर निराकरण कर दिया जावेगा।

समीक्षा—अवेस्ता और वेद न समकाल के हैं और न वेद अवेस्ता से बाद का है। वेद अवेस्ता से बहुत प्राचीन सृष्टि के आदि में प्रकट किए गए ईश्वरीय ज्ञान हैं। भाषा-विज्ञान का वर्णन करते हुए इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है। विपक्षीय प्रमाणों के आधार पर ही वेदों का समय अति प्राचीन सिद्ध किया गया है। फिर भी यहाँ कुछ विचार और प्रस्तुत किये जाते है।

(१) यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आफताब का पौत्र और तुर्फा का पुत्र 'लावी' नामक अरबी कवि मुहम्मद साहेब के जन्म के लगभग २४०० वर्ष पूर्व विद्यमान था। उसने वेदों का गुणगान अरबी भाषा की कविता में किया है। इस प्रमाण से यह पृष्ठभूमि भी बन जाती है कि ईस्वी सन् से लगभग १७०० वर्ष पूर्व भी

1. A large number of common cult-words such as haoma (—soma) Zaotar (—hota), atharvan (—atharvan); manthra (—mantra); yazata (—yajata); yasna (—yajna); azuti (—Ahuti) etc. and also the whole sacrificial cult, leave no doubt that the Vedic and Avestan ritual are of one and same origin. Evidently, the Zorathustrian reform could not materially alter the essentially Vedic character of the soma-cult cherished in Iran from ages before his time. P. 221

2 देखो 'आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २२२

से मिटिक लोगों में वेदों के प्रति उत्तम विचार मौजूद थे। लाबी की कविता हारून रशीद के दरबार के कवि असमाई मलेकुस शरा के द्वारा संगृहीत 'सीरुल उकूल'[1] नामक पुस्तक में पाई जाती है। इस पुस्तक में पृष्ठ ११८ पर लाबी के शब्द इस प्रकार है—

१. अया मुबारकल अर्ज़े योशेय्ये नुहामिनल् हिंदे फारादकल्लाहो मैय्योनज्ज़ेला जिक्रतुन्।

२. वहल तजल्लेयतुन् ऐनाने सहबी अरवातुन् हाज़ही मुनज्जेल रसूलो जिक्रतान मिनल् हिन्दतुन्।

३. यक़ूलुनल्लाह या अहलल् अर्ज़े आलमीन कुल्लहुम् फ़त्तबिऊ जिक्रतुल् वेद हक़्क़न् मालम् युनज्ज़ेलहुन्।

४. वहोवालम् उस् साम वल यजुर मिनल्लेह तनज़ीलन् फ़ ऐनमा या असेयो मुत्तबे अन् यो बशरैयो नजातुन्।

५. व अम्नैने हुमा ऋक् व अतर नासहीन क अख़ूवतुन् व अस्नात अला ऊदन् बहोव मशअरतुन्।

इन कविताओं में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहा गया है। साथ ही ऋक्,यजुर, साम और अतर=अथर्व वेद के नाम भी आये हैं। इसके अतिरिक्त यह भी प्रकट है कि चारों वेद उस समय भी एक समय मे ही विद्यमान थे। कोई आगे पीछे वना हो इस बात का और मानव की कृति होने का सन्देह ही नहीं रह जाता है। इस ज्वलन्त प्रमाण को देखिए और वैदिक एज की इस कल्पना को कि वेद ईसा के जन्म से एक सहस्र वर्ष पूर्व के है। दोनों को देखने से सत्य का पता अपने आप लग जावेगा।

(२) श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने 'वेदकाल-निर्णय' नामक ग्रन्थ में ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर वेदों का समय तीन लाख वर्ष पुराना स्वीकार किया है।[1]

(३) महाभारत का काल वैदिक एज पृष्ठ ३०० पर १४०० बी. सी. लिखा है। महाभारत मे भी चारों वेदों का वर्णन है। इससे भी वेद के काल और महाभारत के काल के निर्णय में वैदिक एज का निश्चय ठीक नहीं जँचता। वस्तुतः महाभारत का काल जैसा पूर्व दिखलाया जा चुका है ३१०० वर्ष ईस्वी पूर्व है। इस प्रकार वेदों का महाभारत में वर्णन होने से वेद उससे प्राचीन होते है। जब पांच सहस्र वर्ष पूर्व महाभारत ही हुआ तो वेद का काल आज

1. यह पुस्तक अब बेरट् पब्लिशिंग कम्पनी बेरट् पैलेस्टाइन द्वारा प्रकाशित है,
2. देख आर्यों का आदिदेश परिशिष्ट (घ)

से २८०० वर्ष पुराना मानना और एवेस्ता का समकालिक मानना ठीक नहीं है।

(४) वैदिक एज पृष्ठ २८८ पर रामचन्द्र एवं रामायण का समय ईसा से २३००-१६०० वर्ष पूर्व का माना गया है। रामायण[1] में भी वेदों का स्पष्ट वर्णन है। व्याकरण एवं अन्य वेदांगों[2] का भी वर्णन है। जब रामायण काल में वेदांग भी बन चुके थे तो वेद की प्राचीनता का तो कहना ही क्या। धनुर्वेद जो कि वेद का उपवेद है वह भी बन चुका था। इससे वेदकाल इस रामायण से भी पुराना सिद्ध है और १००० ईस्वी पूर्व की कल्पना गलत सिद्ध होती है।

(५) वैवस्वत मनु का समय वैदिक एज पृ० २७० पर ३१०२ ईस्वी पूर्व माना गया है जो सर्वथा गलत है। वैदिक एज के लेखक की धारणा है कि मेसोपोटामियाँ में जल-प्लावन ३१०२ वर्ष ईस्वी पूर्व हुआ था, अतः यही समय मनु का होगा। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं कि स्वायंभव मनु की स्मृति इससे भी ६ मनु पूर्व विद्यमान थी। यदि दुर्जनतोषन्याय से इसी मनु की यह मनु-स्मृति मानी जावे तो भी वैदिक एज का मत ठीक नहीं पड़ता है। मनुस्मृति में वेद और वैदिक कर्मकाण्डों आदि का वर्णन है। स्मृति श्रुति के अर्थ को स्मरण करने वाली होती है। वैवस्वत मनु भी है और वैवस्वत यम भी था। जब वेद मनु से भी पुराने सिद्ध होते हैं तो फिर १००० वर्ष ईस्वी पूर्व का उनका काल आकृतना अपने आप समाप्त हो जाता है।

मनु जहाँ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं वहाँ वेद में ये यौगिक पद हैं। वेद में ये ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं। परन्तु भारतीय ज्योतिष-विद्या-विशारदों ने मनु के साथ काल की गणना का प्रकार भी जोड़ रखा है। सारी सृष्टि के समय को १४ मनुओं में बाँट रखा है। इन्हीं को मन्वन्तर कहा जाता है। एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी का काल परिगणित माना जाता है। एक चतुर्युगी जो चारों युगों का जोड़ है तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की होती है। वैवस्वत मनु सातवाँ मनु है। इससे पूर्व स्वायम्भव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष ये छः मनु

---

1. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥२८॥ नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।।२९।। रामायण किष्किन्धा० ३।२८-२९

2. वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः धनुर्वेदे च निष्ठितः। रा० बालकाण्ड १।१४

बीत चुके हैं। अभी सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्यदेवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि बीतने को शेष हैं। प्रत्येक मनु के अन्त में एक जलप्रलय होता है—यही सधि का काल है। यह सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योति.शास्त्रों का मत है। ऐसी अवस्था मे ३१०२ वर्ष ईस्वी पूव जल-प्लावन का मानना कोई निश्चित सत्य नही है। व्यतीत हुए छ मनुवो और सातवें मनु के बीते काल को जोड़ने पर वेदो का समय एक अरब ६७ करोड़ से अधिक समय पुराना सिद्ध हो जाता है।

ये पाश्चात्य और पूर्वीय इतिहासज्ञ मनु का वर्णन वेद मे भी मानते हैं। परन्तु मनु की मनुस्मृति वेद का गुणगान करती नही थकती। दोनों का समय एक मानना ठीक नही। क्योकि मानव धर्मशास्त्र मानव धर्म-सूत्र के आधार पर है। धर्म सूत्र वेद के कल्प अग में माने जाते है। अंगों की रचना और वेद की रचना एक ही काल मे किस प्रकार हो गई—यह भी बतलाना पड़ेगा। जो किसी प्रकार इन इतिहासज्ञो से विकासवाद की प्रक्रिया को लेकर बताया जाना संभव नही। अतः यह सब कोरी कल्पना है—इसमे कोई तत्व नही। वेद का समय मनुस्मृति और मनु से भी पूर्व का है और वह मानव की कृति नही। मनु का समय भी वैदिक एज द्वारा जो बताया गया है, प्रामाणिक नहीं है।

मनु के वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारुष, शर्याति, पृषध्र, और नाभानेदिष्ठ पुत्र तथा इला नाम की पुत्री ये दस सन्तानें थी। ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ और तैत्तिरीय शाखा ३।१।९ तथा मैत्रायणी शाखा १।५।८ में लिखा है कि मनु के इन पुत्रों ने मनु की सम्पत्ति को बांट लिया। परन्तु नाभा-नेदिष्ठ उस समय गुरुकुल मे था। उसने आकर पिता से कहा कि दाय भाग में उसे भी भाग मिलना चाहिए। संपत्ति तो पहले ही बँट चुकी थी, अतः मनु ने नाभानेदिष्ठ को दाय में 'इदमित्था' से प्रारम्भ होने वाले ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१ वें और ६२ वें सूक्त तथा इस ब्राह्मण को दिया। यह नाभानेदिष्ठ वैवस्वत मनु का पुत्र है। वर्तमान में इन सूक्तों का ऋषि नाभानेदिष्ठ है परन्तु ये सूक्त प्राप्त हुए उसे उसके पिता मनु से। सूक्त ही नही ब्राह्मण भी। ऐसी स्थिति मे यह स्पष्ट है कि मनु के पूर्व और उसके समय में भी वेद ही नही ब्राह्मण भी उपलब्ध थे। ब्राह्मण वेद के व्याख्यान हैं। जब ब्राह्मण भी उपलब्ध थे तो वेद की प्राचीनता तो उससे और प्राचीन अपने आप ही सिद्ध है। इस प्रकार वैदिक एज में जो वेदों का काल बताया गया है वह सर्वथा ही भ्रान्त और गलत सिद्ध होता है।

(६) उपनिषदों की प्राचीनता और महत्ता सर्वविदित है। मुण्डक उपनिषद् १।२।१ में लिखा है कि मंत्रों (वेदमंत्रों) में जिन कर्मों को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने देखा था उन कर्मों का त्रेतायुग में बहुत प्रचार था। वाल्मीकि ने रामायण में दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ और महाराज जनक के वर्द-कामेष्टि यज्ञ का वर्णन किया है। अतः इस आधार पर रामायण का और वाल्मीकि का समय १२ लाख ६६ सहस्र वर्ष से अधिक पुराना सिद्ध होता है। उपनिषदों में वेद का वर्णन है और रामायण में भी। अतः वेद की अति प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

(७) सूर्यसिद्धान्त ज्योतिष का ग्रन्थ है। सूर्यसिद्धान्त का पुराना ग्रन्थ जो वसिष्ठ आदि का था और जिसके ही आधार पर यह नया सूर्यसिद्धान्त संकलित है सत्ययुग के अन्त में बना था। "अल्पावशिष्टे[1] तु कृते" अर्थात् सत्ययुग (कृतयुग) के थोड़े शेष रह जाने पर यह सूर्यसिद्धान्त बना। पुनः एक ज्योतिष की घटना का वर्णन करते हुये लिखा गया है कि इस कृतयुग के अन्त में सारे ग्रह एक युति में[2] थे। इससे यह प्रकट है कि जिस समय सूर्यसिद्धान्त बना उस समय यह घटना प्रत्यक्ष-दृश्य थी। अतः बारह लाख छानवें हजार त्रेता के, आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष द्वापर के और पांच सहस्र से कुछ अधिक वर्ष कलियुग के मिलाकर २१ लाख ६५ सहस्र से अधिक वर्ष इस सूर्य-सिद्धान्त को बने हुए होते है। वेद का वर्णन सूर्यसिद्धान्त में भी है क्योंकि यह वेदांग है। सूर्यसिद्धांत में इसे वेद का अग्र्य अंग कहा गया है। इस प्रकार वेद उससे भी बहुत पूर्व का सिद्ध होता है।

(८) इसके अतिरिक्त गोपथ ब्राह्मण ६।१ में लिखा है कि ऋग्वेद ४।१९ मंडल की जिन संपात ऋचावों को विश्वामित्र ने देखा था उनको वामदेव ने देखा। इससे यह सिद्ध है कि वामदेव से पूर्व इन ऋचावों को वसिष्ठ ने देखा था। वामदेव का वर्णन सांख्यदर्शन में आया है। सांख्य महर्षि कपिल की कृति है जो देवहूति और कर्दम महाराज के पुत्र थे। इनका समय सत्ययुग है। वसिष्ठ का समय भी सत्ययुग है। वह वामदेव से कुछ पूर्व वा समकाल का ही समय हो सकता है। अतः वेदों का समय इस आधार पर २२ से २५ लाख वर्ष पुराना सिद्ध होता है।

(९) शतपथ ब्राह्मण २।१।२।१ में कृत्तिका नक्षत्र की घटना का प्रत्यक्ष-दृश्य वर्णन है—ऐसा ऐतिहासिक लोग स्वीकार करते हैं। इसका गणित करके आज तक

---

1. सूर्यसिद्धान्त १।२
2. सूर्यसिद्धान्त १।५७

का समय चार सहस्र नव सौ ६३ वर्ष होता है। यह काल इनके अनुसार शतपथ ब्राह्मण का है जो यजुर्वेद का व्याख्यान है।

श्री वी० वी० केतकर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।१५ का एक प्रमाण बृहस्पति नक्षत्र की घटना का निकाला है। इसके आधार पर निकाला गया समय इस तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही आज तक ५९६४ वर्ष सिद्ध होता है। यह ब्राह्मण मूल यजुर्वेद का नहीं बल्कि उसकी तैत्तिरीय शाखा का है।

१०—इन्हीं इतिहासविदों की सरणि को अपनाकर यहाँ पर एक और भी कुतूहल दिखलाना अनुचित न होगा। वह इस प्रकार है कि शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।१८ में (एषाह् सवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी) कहा गया है कि फाल्गुनी पौर्णमासी सवत्सर की प्रथम रात्रि है। इसके अनुसार वसन्तसंपात फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन होता था। इसका गणित करने पर यह समय आज तक २२००० वर्ष से भी अधिक होता है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का समय ही बाईस सहस्र वर्ष ठहरता है तो फिर वेद का समय एक सहस्र वर्ष ईस्वी पूर्व कहना कितना अन्धेर है। फिर तो ब्राह्मण वेदों से भी प्राचीन हो जावेंगे।

इस प्रकार देखा गया कि इन प्रमाणों और तर्कों से वेदो का समय बहुत ही पुराना सिद्ध होता है। अन्त में वह लगभग दो अरब वर्ष से कुछ कम पुराना जा पहुँचता है। अथर्ववेद ८।२।२१ में (शतं ते अयुतं) सृष्टि का समय चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष बतलाया गया है। यह समय एक सहस्र चतुर्युगियों का है। एक चतुर्युगी तैतालीस लाख बीस हजार वर्षों की होती है।

इस प्रकार सृष्टि की आयु परिज्ञात हो जाने पर वैज्ञानिक दृष्टि से इसमें से मनुष्योत्पत्ति का काल निकालना आवश्यक है। यद्यपि पूर्व यह दिखलाया जा चुका है फिर भी यहां पर पुनः दिखला दिया जाता है। इससे पक्ष की विशेष परिपुष्टि हो जावेगी। वेद जहाँ सारी सृष्टि की आयु बतलाता है वहाँ यह भी बतलाता है कि जो ओषधि और वनस्पति आदि है वे भोक्ता के उत्पन्न होने से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न हो जाते[1] हैं। इस प्रकार चेतन मानवादि की उत्पत्ति तीन चतुर्युगी पश्चात् होती है—यह इतिहास नहीं वैज्ञानिक तथ्य है। पुनः वेद बतलाते हैं कि परमेश्वर इस वैज्ञानिक आधार से मनुष्य, ऋषि, आदि को उत्पन्न करता है और

1. या ओषधी.पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। ऋग्वेद १०।९७।१

वही इन्हें उत्पन्न करने के साथ ऋक्, यजु, साम और छन्दः=अथर्ववेद को उत्पन्न करता है।[1] इस प्रकार मानव की उत्पत्ति के साथ ही वेद का उस पर प्रकाश होता है और वह मनुष्य की रचना नहीं—परमेश्वर का ज्ञान है। अगर अब तक सृष्टि के बीते हुये समय में से इन तीन चतुर्युगियों का समय निकाल दिया जावे तब भी वेद का समय एक अरब ९७ करोड़ वर्ष के लगभग पुराना ठहरता है। अतः वैदिक एज की वेद-काल सम्बन्धी कल्पना सर्वथा ही निराधार है।

भाषा-विज्ञान का आधार भी ठीक नहीं—वैदिक एज ने अथवा अन्य विद्वानों ने जो भाषा-विज्ञान का आधार लेकर वेद को अवेस्ता का समकालिक अथवा तत्पश्चाद्वर्त्ती बनाने का साहस किया है वह भी सर्वथा निराधार है। अवेस्ता की भाषा पर और वेद की भाषा पर यदि विचार किया जावे तो पता चलेगा कि वेद के शब्दों के आधार पर अपभ्रंश करके अवेस्ता की भाषा बनी है—अवेस्ता के आधार पर वेद के शब्द नहीं बने है। भाषा-विज्ञान के पक्षपाती भाषा को विकास के आधार पर विकसित मानते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि भाषा विकास का नही संकोच और अपभ्रंश आदि का फल है जो वैदिकी वाक् से इसी आधार पर संसार में विस्तार को प्राप्त हुई है। इस विषय में विस्तृत रूप से भाषा-विज्ञान के प्रकरण में पूर्व कहा जा चुका है। वास्तविकता यह है कि वैदिकी वाक् और लौकिक संस्कृत के म्लेच्छीकरण, अपभ्रंश और संकोच के विविध क्रमों से ही जन्द भाषा अस्तित्व में आई है। जन्द से वैदिक शब्दों का विकास नही हुआ है। जब भाषा के संकोच-क्रम से एक भाषा से दूसरी भाषा के बनने में बहुत लम्बा समय लगता है तो विकास-क्रम से तो उससे कई गुना लम्बा समय लगना चाहिए। अतः वैदिक शब्द जन्द के विकास भी हों और उसी काल में हो गये हों—यह सर्वथा ही असंभव है। भाषा-विज्ञान के नियम जो कल्पित किये गये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि वैदिकी वाक् जन्द से पूर्व होगी। 'स' को 'ह' होने का नियम तो भाषा-विज्ञान मानता है परन्तु 'ह' से 'स' का विकास नहीं। ऐसे ही नियम वर्ग के द्वितीय चतुर्थ अक्षरों के विषय में भी हैं। नीचे दिये गये पदों पर ये नियम यदि लागू किये जावें तो यह निश्चित है कि संस्कृत के रूप जन्द के रूपों के पूर्ववर्त्ती रूप सिद्ध होंगे। परन्तु जन्द के रूप संस्कृत से पूर्ववर्त्ती किसी भी अवस्था में नहीं सिद्ध किये जासकेंगे। फिर जन्द से संस्कृत

1. देखें पुरुषसूक्त।

वा वैदिकी वाक् का विकास हुआ हो—यह संभव नहीं हो सकता है :—

संस्कृत रूप	जन्द रूप
असुर महत्, वा असुरमेधा	आहुरमजदा
सोम	होम
सेना	हेना
अस्मि	अह्मि
सन्ति	हेन्ति
असु	अहु
वैवस्वत	विवन्हत
हृदय	जरदय
हिम	जिम
त्वे	ज्वे
आहुति	आजुति
छन्द	जन्द
अवस्था	अवेस्ता
सुमतम्	हुमतम्
सूक्तम्	हूक्तम्
सुकृतम्	हूरर्तम्

जन्द वस्तुतः भाषा का नाम है अथवा यह कोई व्याख्या है इस विषय पर कई विद्वानों ने विचार किया है। श्रीमती एनीबिसेण्ट ने एक लेक्चर[1] दिया था जो थियोस्फिकल पब्लिशिंग हाउस अड्यार मद्रास से सन् १६३५ में छपा था। इसमें उन्होंने इस विषय पर विचार किया है। उनका कथन है कि अवेस्ता की भाषा तो अवेस्ता की भाषा है। जन्द अवेस्ता की भाषा में एक पुरानी व्याख्या (Commentary) थी जो कि पह्लवी भाषा के अनुवादकर्त्ताओं से पूर्व इस अवेस्ता पर विद्यमान थी। मूलतः जन्द का अर्थ व्याख्या है। सासान काल में पह्लवी ईरान की भाषा थी और नई जेन्द का उसी समय अनुवाद हुआ था। इस प्रकार जन्द भाषा नहीं—बल्कि प्राचीन व्याख्या का नाम है। डाक्टर हग और ब्लेवेट्स्की का भी इसी प्रकार का विचार श्रीमती एनीबिसेण्ट ने दिखलाया है।

1. Zrsaratianism.

अवेस्ता की भाषा के विषय में श्री बाबू संपूर्णानन्द जी लिखते है[1] कि "जिस भाषा में अवेस्ता की पोथी लिखी गई है वह ईरान की पह्लवी भाषा नहीं है। जेन्द पहलवी से मिलती-जुलती है परन्तु उससे भिन्न है। ऐसी परम्परागत कथा है कि मज्द धर्म के संस्कृत अर्थात् शुद्ध रूप को ईरान में मग लोगों ने फैलाया। यह लोग मीडिया प्रदेश में रहते थे जो ईरान के उत्तर-पश्चिम में है। मग लोग ही उपासना के समय आयुवन (अथर्वन्) हो सकते थे। अवेस्ता की प्रतियां इसकन्दर रूमी (सिकन्दर) के आक्रमण के समय जल गईं। फिर जिमको जो कुछ याद था वा जो कुछ इधर-उधर लिखा पड़ा था वह सब जोड़-जाडकर संग्रह किया गया। इस वृतान्त से यह तो निकलता है कि प्राचीन अवेस्ता का बहुत-सा अंश खो गया है।"

यहाँ पर श्री बाबू संपूर्णानन्द जी के लेख से भी यही ध्वनित हो रहा है कि जन्द भाषा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अवेस्ता के बहुत से अंश जो प्राचीन थे और संस्कृत के अधिक निकट थे—उपलब्ध नहीं है। यदि वे उपलब्ध होते तो स्यात् इस बात की पुष्टि का और भी प्रमाण मिल जाता कि अवेस्ता की भाषा संस्कृत का ही संकुचित रूपान्तर है।

यहाँ यह विशेष स्मरण रखने की आवश्यकता है कि ईरानी जाति प्राचीन आर्य जाति से निकली हुई एक शाखा है। ईरान की प्रधान भाषा फारसी भी आर्य-भाषा संस्कृत से निकली हुई उसके संकुचित रूपों की एक भाषा है। इस भाषा के अपने पुराने रूपों का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईरानी भाषा के प्राचीन साहित्य में कुछ तो प्राचीन साहित्यिक शिला-लेख हैं और दूसरी धार्मिक पुस्तक अवेस्ता है। अवेस्ता पूर्णतः पूर्वरूप में उपलब्ध नहीं है। परन्तु उपलब्ध भाग से पुरानी फ़ारसी के रूपों का कुछ पता लगाया जा सकता है। ईरान के प्राचीन साहित्य की भाषा एक होती हुई भी प्रान्तीय भेद से परस्पर विभिन्न है। शिला-लेखों की भाषा पश्चिमीय ईरान की भाषा है। इसी को पुरानी फ़ारसी कहते है। इससे पहलवी और पहलवी से वर्तमान फ़ारसी निकली है। अवेस्ता की भाषा का जन्द नाम प्रसिद्ध है। परन्तु यह भूल है। यह भूल सबसे पूर्व एक पश्चिमी विद्वान् से हुई, और प्रचार पा गई। इसी आधार को लेकर अवेस्ता को भी जन्द अवेस्ता के नाम से लोग प्रसिद्ध कर दिये है। जन्द अवेस्ता की एक व्याख्या का नाम है। जन्द पद वस्तुत: छन्द का विकृत रूप है। अवेस्ता की भाषा मीडिक भाषा है। परन्तु समुचित यह है कि अवेस्तिक भाषा ही कहा जावे।

1. आर्यों का आदिदेश पृ० ७३

पुरानी फारसी के साहित्य में वे शिला-लेख हैं जो एकोमीनिद राजवंश के खुदवाये हुये हैं। इनमें बेहिस्तन पहाडी में खुदे लेख मुख्य है। इनमें भी पहले लेखों की अपेक्षा बाद वालों की भाषा का स्वरूप कुछ परिवर्तित है। ये लेख कीलाक्षरों से खुदे हैं। लिपि अवेस्ता की अपेक्षा बडी सादी है। यह बायें से दायें को चलती है। वर्णमाला भी इसकी अवेस्ता की वर्णमाला की अपेक्षा सरल है। इसमें ह्रस्व 'एँ' और ह्रस्व 'ओ' का अभाव है। उनके स्थान मे संस्कृत के सदृश ही पाया जाता है।

पुरानी फ़ारसी समय पाकर पहलवी के रूप मे परिणत हुई। इसमें पुरानी फ़ारसी की अपेक्षा अनेक परिवर्तन हो गये। इसका काल सासानी राजवंश का काल है। अवेस्ता का पहलवी अनुवाद भी है और स्वतंत्र लेख भी है।

ऐकोमीनिद राजावों के समय की प्राचीन फ़ारसी से इस मध्यकालिक फ़ारसी में प्रधान परिवर्तन ये हुए हैं कि शब्दों के रूपों का उतना बाहुल्य नहीं है और भिन्न-भिन्न कारकों के द्योतन के लिए विभक्तियों के स्थान में अलग-अलग (हिन्दी के 'को', 'से' आदि की तरह) सहायक शब्दों से काम लिया गया है। वर्तमान फ़ारसी पहलवी के रूप में से होकर वर्तमान रूप मे आई है। इसके उच्च साहित्य का आरम्भ महाकवि फिरदौसी के शाहनामा से होता है। इस काव्य में अरबी के शब्दों का प्रभाव नाममात्र का है। इसके पीछे धीरे-धीरे वर्तमान फारसी में अरबी शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया है।

यह थोड़ा-सा विवरण 'जन्द' को लेकर यहाँ पर दिया गया। परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, प्राचीन फारसी और अवेस्ता की भाषा संस्कृत के बहुत समीप हैं। कहना चाहिए कि वे संस्कृत की ही संकुचित रूप हैं—संस्कृत से पूर्ववर्त्ती स्वतंत्र भाषा नहीं जिनका संस्कृत के विकास मे स्थान हो। वैदिक और संस्कृत शब्दों का ही संकोच होकर अवेस्ता की भाषा बनी है और न वह वेद की समकालिक और न पूर्ववर्तिनी ही भाषा है। जैकोलियट ने "बाइबिल इन इण्डिया" में लिखा है कि "इस प्रकार स्रोत की ओर मुड़ते हुए हम निश्चय ही पाते हैं भारत में प्राचीन और वर्तमान लोगों की काव्यकला, धार्मिक रीति को। जरथुस्ट्र की पूजा, मिस्र के चिन्ह, इलेसिस के रहस्यों, वेस्टा के पुरोहित देवियों, बाइबिल के सिद्धान्त और भविष्य-कथनों, सामी सन्तों के आचार, तथा बैतुलहम के दार्शनिक की उत्तम पवित्र शिक्षावों

का स्रोत हम भारत में पाते[1] हैं।" इससे यह सिद्ध है कि जरथुष्ट्र की शिक्षायें भारत से गई है। जैकोलियट ने प्रथम प्रकरण में प्रसिद्ध नामों को भी संस्कृत से गया हुआ सिद्ध किया है। वह पुनः कहता है कि विज्ञान ने पुनः किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाले तथ्य के रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि प्राचीन सभी वाक्धारायें और मुहावरे सुदूरपूर्व से प्राप्त किये गये हैं और भारत के भाषाविदों के प्रयत्न को धन्यवाद है कि हमारी वर्तमान भाषावों को उनसे तत्सम शब्द मिले और धातुवें मिलीं।[2]

इस प्रकार यह तथ्य है कि समस्त संसार ने भारत से ही इन विविध विषयों की प्रेरणा प्राप्त की है। भारत की इन सभी प्रवृत्तियों का प्रेरणास्रोत वेद रहा है। जैसा भाषा-विज्ञान के प्रकरण में दिखला दिया है, समस्त भाषावों का मूल वैदिकी वाक् है। इसी से भाषायें निकली हैं और अवेस्ता की भाषा भी वेद की वाणी से संकोच को प्राप्त होकर बनी है। वेद के विविध शब्द अवेस्ता में पाए जाते हैं।

अवेस्ता और वेद के शब्द तथा मंत्रभाग—अवेस्ता में वैदिक शब्दों का ही विकृत रूप पाया जाता है जो प्रकट करता है कि वेद से ही ये अवेस्ता में गये। वेद का प्रयोग भी अवेस्ता में कई बार आया है। यहाँ पर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—वेद शब्द विद् धातु से बना है। इसमें लाभ भी एक अर्थ है। यस्न २७ में क्रमशः ४, ५, १० गाथावों में—वीदुश,' वइदम्नो, वइदा पद आए हैं। यस्न २६ गाथा १० मे पवोउर्वीम् में वएदम पद आया है। यस्न २६/१० की संस्कृत रचना इस प्रकार होगी जो इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेगी—यूयम् एभ्यो अहुर ! ओजो दात्

1. So, in returning to the fountain-head, do we find in India all the poetic and religious traditions of ancient and modern peoples. The worship of Zoroaster, the symbals of Egypt, the mysteries of Eleusis and the priestesses of Vesta, the Genesis and prophecies of the Bible, the morals of the Samian sages and the sublime teaching of the philosopher of Bethlehum. Page 9, 1916 edition

2. Science now admits, as a truth needing no further demonstration, that all the idioms of the antiquity were derived from the far East and thanks to the labours of Indian philologists our modern languages have there found their derivation and their roots. P. 8

अप ! धानम् च एतावत् वसु मनसा मः सुदायतिश रामाम् च देयात् अहम् अमसि त्वाम् महद् अस्याः पौर्व्यं वेदम् ॥ यहाँ पर पयोउर्वाम् वेदम्, पौर्व्यं वेदम् का अर्थ पूर्व वेद है।

दूसरा उदाहरण अहुनावती गाथा हा—३२।२ का दिया जा सकता है। इस में भी 'वएदम्' पद है। इस यस्न २६।१० में आया अहुर' पद भी संस्कृत भाषा का ही है। असुर और अहुर दोनो का संस्कृत में प्रयोग होता है। सामवेद के मंत्र-ब्राह्मण १।६।२१ में अहुर पद का भी प्रयोग है और गोभिलगृह्यसूत्र २।१०।२६ में 'अहुर' पद का प्रयोग है। वेद पद का प्रयोग भिन्न-भिन्न गाथावों में पाया जाता है—

अवेस्ता	संस्कृत	अर्थ
यस्न ३४।७ वएदर्दना	वेदेन	वेद के द्वारा
उश्नवैति ४५।४।१-२ वएदा	वेदाः	वेद
" ४५।५।१-२		
यथ मूइथाइ ह्यत् मरेतए	यथेमां वाचं	जैसे इस कल्याणी
२ इत्यो २ वहिस्तम्	कल्याणी भाव-	वाणी को जनों
	दानि जनेभ्यः	को देता हूँ।
	(भाव यहाँ पर यही है)	
गाथा १।१।१० वएदा	वेदाः	वेद
वएद मनो	वेदमनाः	वेद में मन वाला
वए २ द मनाइ	वेद मनो आय	वेद मन वाला
वएदो २ दम्	वेदोक्तम्	वेदोक्त
वए २ दिश्तो २	वेदिष्टः	परमेश्वर

'वएदा' पद जानने अर्थ में भी कहीं-कही पर प्रयुक्त है परन्तु विद् धातु का भाव सर्वत्र पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मंत्रखण्ड भी हैं जिनका वैसा ही प्रकार वा भाव गाथावों में मिलता है :—

अवेस्ता	वेद
अह्या यासा नमङहा	मर्त्तोदुवस्येदग्नि मी लीत
उस्तानजस्तो रफेंभह्या	···उत्तानहस्तो नमसा
गाथा १।१।१	विवासेत् ॥ ऋग्वेद ६।१६।४६

पइरिजसाइ मज्दा उस्तानजस्तो··· नमंड्हा। गाथा ३।४।८	उत्तानहस्तो नमसोपसद्य ···अग्ने। ऋ ३।१४।५ यजुः १८।७५
नमङ्हो आ यथा नम् रफ्मावतो २ मज्दा। नमसा आ॥ गाथा २।२।१	नमोभिः—आ नमे मही ऋ ६।५१।६
अमॅरताइती दएवाइश्चा मश्क-याइश्चा। गाथा ३।२।१	देवेभ्यो···अमृतत्वं मानुपेभ्यः। ऋग्वेद ४।५४।२
वीस्पे हज़ ओपाओ। अवेस्ता	विश्वे सजोपसः। ऋ १।१३।४
नमो २···व वीस्प··· हज़ओपाओ-रवी० नी० १	नमोभि विश्वान्व······ आ नमे······विश्वे सजोपा ऋ ६।५१।६, ५
आ अइर्यमा···जन्तू नंरव्यस्चा नाइरिव्यस्चा यस्न ५४।१।१	अयमायात्यर्यमा······ पतिमुतजायाम्। अथर्व ६।६०।१
मिथ्र अहुर यज़मइदे। मिहिरयश्त् ३५।१४५।१-२	यजामहे-मित्रावरुणा ऋ० १।१५३।९
अइर्यमनम्······यज़मइदे यस्न ५५।२।१	अर्यमणं यजामहे। अथर्व १४।१।१७
नॅमो २ हओ माइ-हओम यश्त १।३।१६	सोमाय नमः······ अथर्व १८।४।७२
नॅमो २ मिथ्राइ खोर० न्याइश ५	मित्राय······नमः ऋ १०।८५।१७ नमो······मित्राय ऋ० १।१३६।६
यिम हे······यज़मइदे।	यमस्य यजामहे

फ़्रवर्दिन यश्त २६।१३०।१ — अथर्व २०।२५।५
उर्वथो बराता पता वा मज्दा ग्रहुरा । — उत वात वितासि न उत
गाथा २।३।११ — आतोत नः सखा ।
ऋ १०।१८६।२

यहां पर एक दो आयतें दी जाती हैं और उनका अंग्रेजी में अर्थ भी दिया जाता है जिससे यह सिद्ध होगा कि अवेस्ता वेद को याद करती है—वेद अवेस्ता के समकालिक और पोषक एवं उससे शब्दों को ग्रहण करने वाले नहीं हैं—

"कुआ तो२ इ अँरद्रा मज्दा योरइ बङ्हउश् वए२ दॅना मनङ्हो २ ।
सग्गहूश् रप २ खॅना ग्रों ग्रस्पॅन्चीत् चरत्रयो २ उप उरू ।
नए २ चीम् तम् ग्रन्यम् यूष्मत् वए२दा ग्रषा ग्रथानाग्रो थ्राज्दूम् ।
ग्रहुनवइति गाथा यस्न :४।७

Translation—

Where (are) (those) Thy devotees, Mazda ! who through the Veda of Vohumana, do produce doctrinal treasures, even in misfortune, being in love (themselves). (as also). Him (i. e at least one out of those devotees) other than you do do bring (near us) O Vedas ! True peace (शम्) now do save and protect us.

ग्रत् फवरव्ष्या ग्रङ्हउश् ग्रह्या पग्रोउर्वीम् ।।१।।
या मोरइ वीद्वाग्रो मज्दाग्रो व ग्रोचत् ग्रहुरो २ ।।२।।
यो २ ईम्......मांथ्रम्...... ।।३।।
उश्तवइति गाथा यस्न ४५।३।१, २, ३

Translation :—

Now shall I describe the Primaeval (word) of this world, which the wise Mazda Ahura did speak unto me who this Manthra (Mantra i.e. Veda)

ग्रत फवरक्षया ग्रङ्हउश् ग्रह्या वहिरतम् ।
ग्रषात् हचा यज्दा वए२दा यॅ इम् दात् ।......
उश्त० गा० य० ४५।४।१, २

Translation .—

Now shall I speak about the finest essence in this world—these Vedas which Mazda eonnected with Asha did impart (to His human subjects).

यहाँ पर वेद और मंत्र का प्रभाव गाथावों पर स्पष्ट ही दिखाई पड़ रहा है।

नीचे कई ऐसे शब्द दिये जाते है जो वेद के हैं और अवेस्तन भाषा में भी सामान्यतः उसी अर्थ में पाये जाते हैं—

पद	अर्थ
पितु	भोजन
यातु	मायावी
मातर	माता
वस्त्र	वस्त्र
दूत	दूत
अस्ति	है
उत	भी
आयु	वय

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से शब्द हैं। यहाँ पर केवल संक्षेप से ही कुछ शब्दों को दिखलाया गया। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे वैदिक शब्द है जिनका अवेस्तन भाषा मे एक वा दो अक्षर परिवर्तन हो गया है परन्तु अर्थ एक ही है।

एक और समानता शब्दों की यहाँ पर दिखाई जाती है—

वेद	अवेस्तन
असुरमेध, असुरमरुत्	आहुरमज्दा
अर्य्यमन्	एर्यमन
मित्र	मिथ्र
नाराशंस	नार्योसंह
वृत्रहन्	वृत्रघ्न
भग	बघ
वैवस्वत यम	विवह्वन्त यिम

इस तालिका मे स्पष्ट सिद्ध है कि वेद से ही ये शब्द अवेस्ता में गये है।

कुछ अन्य तथ्य—१—जन्दावस्ता के हरमजद यष्ट मे आहुरमज्दा ने अपने २० नामों की गणना की है। इन में प्रथम नाम 'अह्मि' है। यह वैदिक 'अस्मि'

का परिवर्त्तित रूप है। पिछला नाम 'अह्मि यद अह्मि' बतलाया गया है। यह संस्कृत 'अस्मि यद् अस्मि' के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

२—सर विलियम जोन्स का कथन है कि "जब मैंने जन्द भाषा के शब्दकोष का अनुशीलन किया तो यह ज्ञात करके कि उसके १० शब्दों में ६ या सात शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं, अकथनीय आश्चर्य हुआ। यहाँ तक कि उनकी कुछ एक विभक्तियाँ भी (संस्कृत) व्याकरण के नियमानुसार ही बनाई गई हैं, जैसे युष्मद् का षष्ठी बहुवचन 'युष्माकम्' है।[1]

३—डाक्टर हॉग का यह मत है कि "अवेस्ता" की भाषा का प्राचीन संस्कृत से जो आजकल वैदिक संस्कृत कही जाती है, इतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना यूनानी भाषा की विविध बोलियों (Aeolic, Conic, Ionic or attic) का एक दूसरे से। ब्राह्मणों के पवित्र मन्त्रों की भाषा और पारसियों की भाषा एक ही जाति के दो पृथक्-पृथक् भेदों की बोलियाँ हैं; जैसे आयोनियन, दोरियन, और आयोलियन[2] आदि।

४—मैक्समुलर की स्पष्टोक्ति यह है कि यूजिन बर्नफ के ग्रन्थों और बोप्प साहब के मूल्यवान् लेख से जो उन्होंने अपनी कम्परेटिव ग्रामर नामक पुस्तक में दिया है, यह बात स्पष्ट है कि जन्द भाषा अपने व्याकरण और शब्दकोष के विचार से किसी अन्य आर्य (Indo-European) भाषा की अपेक्षा संस्कृत से अधिक सामीप्य रखती[3] है।...जन्द भाषा और संस्कृत में भेद विशेषकर ऊष्म, अनुनासिक और विसर्ग का है।...गणना के शब्द भी दोनों में १०० तक एक से ही हैं। हजार का नाम 'सहस्र' केवल संस्कृत में ही पाया जाता है। जन्द के अतिरिक्त जिसमें वह 'हजार' हो जाता है अन्य किसी इण्डोयोरोपियन बोली में नहीं मिलता है।" यहाँ पर इन विद्वानों की सम्मति कितनी स्पष्ट है। इतना ही नहीं शब्दों का भण्डार पड़ा है जो वेद से ही इसमें गया है। आनर्दा यश्त में "नमस्ते आतर्श मजदा अहुरह्य" पद आये हैं, इनमें 'नमस्ते' पद ज्यों का त्यों पड़ा है।

एक विशेष बात यह है कि वैदिक साहित्य में "छन्द" पद अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। यह 'छन्द' गायत्री आदि छन्दों के अर्थ में भी है और वेद के अर्थ में भी।

1. Asiatic Researches II & III quoted by Professor Darmesteter in Zand Avesta. Part I, Intro. P. XX.
2. Haug's Essays. P. 69
3. Chips Vol. I, P. 82—83

इसी भाव को लेकर 'जन्द' का भी व्यवहार निश्चित किया गया है। जैसा पूर्व कहा गया है, यह एक प्राचीन व्याख्या है। जन्द छन्दः का ही अपभ्रंश है। इसी प्रकार त्रित, थ्रैतान और मंत्र क्रमशः त्रिथ, थ्रैतान और मन्थ्र बन गये हैं। इष्टि, अपांनपात्, देव और इन्द्र—ज्यों के त्यों देखे जाते है। देव और इन्द्र के अर्थों में जन्द में अन्तर पड़ गया है। सिरोजह, १।१६; १।२२; २।१६; यश्त ८।६, यश्त ८।८; में 'आर्य' का वर्णन आया है।

५—कम-से-कम जन्द भाषा संस्कृत की एक शाखा थी। यह कदाचित् उसके उतनी ही निकट थी जितनी प्राकृत अथवा अन्य प्रचलित भाषायें जो भारतवर्ष में दो सहस्र वर्ष पूर्व बोली जाती थीं।[1] डारमेस्टेटर फादर पोलों डी सेण्ट बारथे लेमी (Paulo de Saint Barthelemy) का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि 'वह इस परिणाम पर पहुँचे कि अति प्राचीनकाल में संस्कृत भाषा फारस और भारतवर्ष में बोली जाती थी। उससे ही जन्द भाषा का जन्म हुआ। डारमेस्टेटर पुनः कहते हैं कि '१८०८ ई० में जॉनलिडिन (John Lydon) जन्द को पाली भाषा के समान एक प्राकृत की शाखा समझते थे। एर्सकीन (Erskine) की दृष्टि में जन्द संस्कृत भाषा की शाखा थी जिसे पारसी धर्म के संस्थापक ने भारतवर्ष से लिया। परन्तु यह भाषा फारस में कभी नहीं बोली गई।" डारमेस्टेटर पुनः कहते है कि पीटर वोन बोहलन (Peter Von Bohlen) के अनुसार (जन्द भाषा) प्राकृत भाषा की शाखा है। जैसा कि जोन्स, लीडन और एर्सकीन का कथन है।[2]

६—जन्दावस्ता के अनुवाद-कर्त्ता पादरी एल० एच० मिल्स लिखते है कि "मिथ्र और उसके उन सहयोगियों की अनुपस्थिति जिनका वर्णन पिछली अवेस्ता में है हमें इस बात को स्वीकार करने की आज्ञा देते हैं कि गाथाओं का काल (जो जन्दावस्था के प्राचीनतम भाग है) ऋचाओं से बहुत पीछे का है[3]। वे फिर कहते हैं, "हमको इस परिवर्त्तन के लिए समय की आवश्यकता है और यह भी थोड़े समय की नहीं अतएव हम गाथाओं का समय, ऋचायें—जो प्राचीनतम है—से बहुत पीछे का रख सकते[4] हैं।

1. Asiatic Researches II 3 William Jones.
2. Zend Avesta Part I Introdiction PXXL.
3. Zend Avesta English Translation, Part III Intro P. XXXVI (S. B E Series)
4. Same book Page 37,

७—संस्कृत अ, आ, इ, ई, और उ, ऊ के उच्चारण में अवेस्ता में भी कोई भेद नहीं। इनका उच्चारण संस्कृत के ही समान उसमें भी होता है। अं अवेस्ता में एक अविस्पष्ट विशेष स्वर है। इसकी ध्वनि बहुधा "अ" और 'एं' से मिलती सी है। वैदिक "ऋ" अवेस्तामे मे 'अंर् अं' इस प्रकार अविस्पष्ट उच्चरित होता है। 'ए', 'ओ' का उच्चारण अवेस्ता मे दो प्रकार का है। यह ह्रस्व और दीर्घ दोनों उच्चरित होता है। दीर्घ उच्चारण संस्कृत के समान ही है। ह्रस्व का उच्चारण संकुचित-सा है। जैसा कि प्राकृत मे एव्वं, जोव्वण और पजाबी — में ऐंथे, ओंथे में यह ह्रस्व उच्चारण देखा जाता है। कई लोग इस आधार पर वेद की भाषा का और इसका भेद दिखलाते है। परन्तु यह सर्वथा भ्रम है। 'ए', 'ओ' का यह ह्रस्व उच्चारण भी अवेस्ता मे वैदिकों के संप्रदाय से ही आया है। 'ए' 'ओ' का ह्रस्वोच्चारण वैदिकों का एक संप्रदाय भी किया करता था। 'सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्—यह सात्यमुग्रिराणायनीय उच्चारण है। अष्टाध्यायी १।१।४८ के वार्त्तिक तीन पर महाभाष्य से यह स्पष्ट है। इस प्रकार इन सभी तर्कों और प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध है कि वेद अवेस्ता से बहुत-बहुत प्राचीन हैं और वैदिक शब्दों तथा संस्कृत भाषा से ही अवेस्ता की भाषा बनी है। अवेस्ता की भाषा से वेद की वाक् नहीं बनी है।

८—वेद से ही पारसी धर्म ने अपनी शिक्षायें, भाषा आदि की प्रेरणा ली— अवेस्ता को देखने से यह पता चलता है कि उसमें स्थान-स्थान पर वेद का नाम लिया गया है। पहले यह भली प्रकार दिखाया जा चुका है। यहाँ पर यह भली प्रकार दिखाया जावेगा कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से इस पारसी धर्म ने अपने मूल सिद्धान्त की प्रेरणा ली और अनेक परिवर्त्तन परिवर्धन कर अपने कलेवर का विस्तार किया। कुछ पंक्तियों में यह स्फुट किया जाता है।

हाग का कथन है कि 'गाथाओं में (जो जन्दावस्था का सबसे पुराना भाग है) एक प्राचीन ईश्वरीय ज्ञान की ओर संकेत किया गया है। तथा सोश्यन्त, अथर्व तथा अग्नि के पुरोहितों की बुद्धि की प्रशसा की गई है। वह अपनी मण्डली को अङ्गिरा की प्रतिष्ठा और सम्मान करने की ओर प्रेरित करता है, अर्थात् वैदिक मंत्रों के अङ्गिरा जो प्राचीन आर्य लोगों के पूर्वज थे और अन्य पिछले ब्राह्मण परिवारों की अपेक्षा जरदुश्त से पूर्ववर्त्ती पारसी धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। इन अङ्गिरावों का वर्णन अथर्वण अथवा अग्नि पुरोहितों के साथ प्रायः कई स्थलों पर किया

गया है और दोनों वैदिक साहित्य में अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं। यह वेद अथर्वाङ्गिरा अथवा अथर्वाङ्गिरावों का वेद कहलाता[1] है।"

डाक्टर हाग पुनः कहते हैं "स्वयं अपने ही पुस्तक में जरदुश्त अपने को आहुर-मज़्दा का प्रेरित किया मथ्रन अर्थात् मंत्रद्रष्टा दूत कहते हैं"।[2]

इसके अतिरिक्त 'होमयश्त' में सोम-यज्ञ करने वाले चार मनुष्यों की गणना की गई है जो जरदुश्त से पूर्व वैदिक कृत्य सोमेष्टि वा सोमयाग को किया करते थे। जरदुश्त के पिता पौरुषास्प[3] के नाम के अतिरिक्त शेष सब नामों के शब्द वैदिक साहित्य मे आते हैं।

"पहला पुरुष जिसने सोमयज्ञ रचा विवंह्वत था। उसके एक यम लड़का पैदा हुआ जो तेजोयुक्त सुशील और परम प्रतापी था तथा जो मनुष्यों में सूर्य को सबसे अधिक देख सकता था। दूसरा 'आथ्व्य' था जिससे थ्रैतान उत्पन्न हुआ और जिसने अजिदाहक सर्प को मार डाला। तीसरा थ्रित था, जिसके दो बेटे हुए। चौथा स्वयं जरथुश्त का पिता पौरुषास्प था। होम जरदुश्त से कहता है—हे पवित्र जरदुश्त! तू उसके घर शैतान के विरुद्ध लड़ने के लिए उत्पन्न हुआ था। तेरा अहुर पर पूरा विश्वास है और तू आर्यान् बीज अर्थात् आर्यदेश मे प्रसिद्ध है।[4] यहाँ पर देखने से ज्ञात है कि यहाँ पर कहा गया विवंह्वत और उसका पुत्र यम—वैदिक साहित्य में 'वैवस्वत यम" के रूप में प्रसिद्ध है। इसे राजा कहा गया है। इसका नाम यमखशैत यमक्षत्र है। यही फ़रदौसी के शाहनामे में जमशेद हो गया है। डाक्टर हाग का कहना[5] है कि यम, ख्शैत, जमशेद और यमराज एक ही नाम और पद है। यिम और यम एक ही है। 'ख्शैत्' क्षत्र का रूप है। फर्गर्द २.२ के अनुसार यम पहला नबी भी है। यह सबसे पहला मनुष्य कहा गया है। यह प्रथम मनुष्य है...यह धारणा भी वैदिक-साहित्य से ही ली गई है। आथ्व्य और थ्रैतान वैदिक

1. Haug's Essays, Page 294 (यद्यपि हाग के शब्दों में ये अंगिरा वेद के कर्ता कहे गये हैं परन्तु हम इन्हें द्रष्टा ही मानते हैं। वेदकर्ता नहीं। वेद किसी ऋषि की कृति नहीं।
2. Haug's Essays, P. 297
3. यह संस्कृत में पुरु+अश्व=पुर्वश्व है।
4. होमयश्त।
5. Haug's Essays, P. 278

साहित्य के आप्त्य और त्रैतान से मिलते-जुलते हैं। थ्रित त्रित का सूचक है। आथ्व्य आप्त्य का सूचक है। आथ्व्य थ्रित का ही आप्त्य त्रित है।

इसके अतिरिक्त डाक्टर हाग ने एक और भी तथ्य का उद्‌घाटन किया है। यह कहते हैं कि "जन्दावस्था के साम परिवार का (जिसमें महावीर रुस्तम पैदा हुए) थ्रित सबसे पहिला हकीम है जो अहरिमन द्वारा पैदा किए रोगों की चिकित्सा करता है। यह विचार भी वेदों में त्रित के सम्बन्ध में पाया जाता है। अथर्ववेद ६।११३।१ में कहा गया है कि यह मनुष्यों के रोगों को दूर करता है।········ जन्दावस्ता में उसके इस गुण का संकेत साम अर्थात् शान्तिदाता के नाम से किया गया है।[1]

यहाँ पर यह विशेष स्मरण रहे कि वेद में आए वैवस्वत यम, त्रित आदि किन्हीं व्यक्तियों के नाम नहीं है फिर भी इनके आधार पर ही जन्दावस्ता में ये नाम रखे गए हैं—यह सर्वथा स्पष्ट है।

जन्दावस्ता में अथर्ववेद की स्पष्ट और अचूक प्रतीक भी है। डाक्टर हाग ने भी उसे उद्धृत किया है। उस प्रतीक को पूरी गाथा के साथ यहाँ पर उद्धृत किया जाता है।

हओमो तेम् चित् करेसानीम् अपक्षथ्रेम्
निपाधयत्, योरओस्ते क्षयो वाम्य यो द्वत्
नोइत मे अपाम् आथ्व अइविशतिश वरेध्ये
दंघ्रद्व चरात् हो वीस्पे वरेध, नाम् दनात्
नी वीस्पे वरेधेनाम्ज नात् ॥ होमयश्त १/२४

इसकी संस्कृत छाया निम्न प्रकार है--

सोमः तचित् य कृशानिम् अप क्षत्र निपादयत्
यो अरुद्ध क्षत्रकाम्यया यो धवत् इत मे अपाम्
अथर्वा अभीष्टिः वृद्धये देशेष्वा चरात्
स विश्ववृद्धीना वनात् नि विश्ववृद्धीनां हनात्

भावार्थ—होम ने किसानी को राजसिंहासन से उतार दिया, उसकी अधिकार-लिप्सा इतनी बढ़ गई कि उसने कहा कि मेरे साम्राज्य की समृद्धि के लिए अथर्व लोग (अग्नि-पुरोहित) अपामृ अविष्टिश (पानी के समीप) का जाप न करने

---

1. Haug's Essays, P. 278

पावेंगे। वह सब समृद्धि-शालियों को नष्टभ्रष्ट करता तथा उनका नाश करके उन्हें पद दलित करता था।

डाक्टर हाग का कथन है कि वैदिक कृशानु ही यहाँ पर किरसानी मालूम पड़ता है। यद्यपि वेद में कृशानु सोम का विरोधी नहीं है परन्तु यहाँ पर इसे विरोधी दिखलाया गया है। यहाँ पर 'अपाम् अविष्टिश' प्रतीक पद वस्तुतः अथर्ववेदीय मंत्र "शन्नोदेवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये" से लिया गया स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः यह स्पष्ट ही "अभीष्टये आपः" की प्रतीक है। यह मन्त्र पैप्पलाद शाखा में प्रारम्भ मंत्र है। आंगिरसवेद अथर्ववेद है। अङ्गिरा का वर्णन और उसके ज्ञान का वर्णन जैसा पहले कहा गया है गाथा यश्त १८।१२ में आया है। अतः इस 'अभीष्टये आतः' प्रतीक से यह बात सुतराम सिद्ध है कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा को लेकर यह पारसी धर्म चला। अथर्व-संहिता तो अत्यन्त प्राचीन ठहरती ही हैं। यहाँ पर यह भी समझना चाहिए कि पाश्चात्य और उनके अनुयायी प्राच्य विद्वान् अथर्ववेद को सबमें नवीन कहते हैं। जरथुश्त की गाथा पैप्पलाद शाखा को लेकर अपने रूप में प्रचलित हुई। जब जन्द अवेस्ता इस शाखा से नवीन है तो अथर्व-संहिता की तो बात ही क्या। वह पैप्पलाद से भी अति प्राचीन—नहीं-नहीं—सृष्टि की आदि में परमात्मा से मिला ज्ञान है। परन्तु जब अवेस्ता अथर्व से बाद की सिद्ध होती है तो अन्य वेद तो इससे बहुत पूर्व के इन पाश्चात्यों की मानी दृष्टि को लिया जावे तब भी ठहरेंगे। अस्तु! यहाँ पर प्रस्तुत विषय स्पष्ट है कि अवेस्ता का संकलन पैप्पलाद शाखा के बाद उसके आधार को लेकर किया गया।

एक और प्रमाण—प्राध्यापक मैक्समुलर ने लिखा है कि "अब यह बात भौगोलिक साक्षी द्वारा भी सिद्ध हो सकती है कि फारिस में बसने से पूर्व पारसी लोग भारतवर्ष में रहते थे। जरदुश्त और उनके पूर्वजों का वैदिक काल में भारतवर्ष से जाना उसी प्रकार स्पष्ट रूप से सिद्ध हो सकता है जिस प्रकार मसीलिया निवासियों का यूनान से जाना।"[1] इस प्रमाण से भारतीय आर्यों और ईरान लोगों के सम्बन्ध का मार्ग बहुत स्पष्ट है।

'नामे जरदुश्त" एक पुस्तक है। यह जरदुश्त की ही रचना है—ऐसा माना जाता है। भले ही यह जन्द-अवेस्ता से पिछली हो परन्तु जरदुश्त की रचना बताई

1. Chips from a German Workshop, Vol. I. P. 235.

जाती है। इस पुस्तक में लिखा है कि व्यास जी फारिस को गए। यहाँ पर जरदुश्त से शास्त्रार्थ किया। ईश्वर जरदुश्त से कहता है "व्यास नामक एक बहुत बुद्धिमान् ब्राह्मण जिसके समान पृथिवी पर कोई न होगा, भारतवर्ष से आवेगा। वह तुमसे यह प्रश्न करना चाहेगा कि विश्व का रचयिता केवल ईश्वर क्यों नहीं ?"(६५-६६)

उससे कहना कि ईश्वर ने बिना किसी की सहायता के प्रथम मन या बुद्धि उत्पन्न की और इस बुद्धि द्वारा ही भौतिक संसार पैदा किया। (६७)

प्रथम उत्पन्न हुई बुद्धि की सहायता लेने के कारण परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व पर किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता। (६८)

दूसरा प्रश्न होगा कि अग्नि आकाश के नीचे, वायु अग्नि के नीचे, जल वायु के नीचे, और पृथिवी जल के नीचे क्यों है ?। (७१)

इसके आगे व्यास के उपर्युक्त प्रश्न का वह उत्तर है जिसके देने के लिए परमेश्वर जरदुश्त को शिक्षा देता है। पाँचवाँ सामान अपनी व्याख्या में लिखता है—"बलख में व्यास जी और गुस्तास्प की भेंट हुई। राजा ने समस्त बुद्धिमान् पुरुषों को निमंत्रित किया। जरदुश्त भी अपने उपासना-मन्दिर से बाहर आये और व्यासजी ने उनका मत स्वीकार किया।"

गुस्तास्प नाम इस राजा का बाद में पड़ा होगा। वास्तविक नाम विश्तास्प है जो संस्कृत विष्टाश्व से लिया गया है। यूनानी पुस्तकों में वह हिस्टास्पीज (Hystaspes) के नाम से प्रसिद्ध है। श्री डा० एस० ए० कापड़िया[1] एम० डी०, एल० आर०, सी० पी० के अनुसार विश्तास्प वा गुस्तास्प का समय अब से लगभग ३५०० वर्ष पुराना है। यहाँ पर यद्यपि यह बात ठीक नहीं जँचती कि व्यास जी ने जरदुश्ती मत स्वीकार किया फिर भी यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्व का है। इससे जहाँ भारतीय आर्यों और ईरानियों का सम्बन्ध सिद्ध होता है वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि यह घटना लगभग महाभारत काल की होगी। महाभारत का समय और आज से ३५०० वर्ष पूर्व का समय लगभग एक ही समय है। मन वा बुद्धि की कल्पना भी नासदीय-सूक्त (ऋग्वेद १०।१२९ सूक्त) में आये 'मानसो रेतः और सांख्यों के महत्तत्व का स्मरण दिलाती है। व्यास-कृत योगसूत्रों के भाष्य और वेदान्त के भी यह अनुकूल ही ज्ञात होती है। व्यास और उनके शिष्य शाखाओं के भी

1. Teaching of Zoroaster and the Philosophy of the Parsi Religion, Wisdom of the East series, Page 15-11

वर्त्ता एवं विभागवर्त्ती थे। अतः यह सिद्ध है कि पारसी धर्म जहाँ पैप्पलाद शाखा के आधार पर अपना अस्तित्व रखता है वहाँ महाभारत काल के व्यास की भी उस पर छाप है। ऐसी स्थिति में वह बहुत ही अत्यन्त बाद का ठहरता है। उसका किसी प्रकार का वेद पर प्रभाव अथवा उसका वेद का समकालिक होना आदि सर्वथा ही असंगत है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के आधार पर निर्धारित वेदकाल का वैदिक-एज प्रतिपादित सिद्धान्त स्वयं गिर जाता है।

ईरानी लोग भी भारत से ही ईरान गये—यह कहना कि ईरानी और भारतीय आर्य एक स्थान से दो दिशाओं में फैले, कुछ भारत में आकर बसे और कुछ ईरान से उधर दूसरी तरफ गये—आदि बातें सर्वथा ही निराधार हो जाती है जब यह सिद्ध कर दिया जावे कि ईराती लोग भी पहले भारत के ही निवासी थे और यहाँ से ही वे ईरान में जाकर बसे। पूर्व यह लिखा जा कुका है कि सृष्टि त्रिविष्टप में हुई और वहाँ से बाद में लोग भारत आये। भारत से ही ईरानियों के पूर्वज ईरान गए। आर्य किसी बाहर देश से भारत नहीं आये बल्कि भारत से ही अन्य देशों में फैले। मानव त्रिविष्टप (तिब्बत) में उत्पन्न हुआ इस बात को बतलाते समय यह भी दर्शाया जा चुका है कि मानसरोवर के उत्तर में यमपुर नाम की नगरी थी। यहाँ पर वैवस्वत यम राज्य किया करता था। यह ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ मंत्रों का द्रष्टा है। यह आयुर्वेद के कुछ विषयों का विशेषज्ञ था। इस वैवस्वत यम को पारसी धर्म के लोग विवंह्वतयिम कहकर वर्णन करते हैं और इसे स्वर्ग का राजा बताते है। वस्तुतः यही ईरान का राजा था और इसी से ईरानी लोगों की जाति का विस्तार हुआ। यहाँ इस प्रकरण में इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

अवेस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद के प्रथम फर्गर्द में जिन देशों की गणना की गई है उनमें १५वें का नाम 'हफ्ताहिंदु'—सप्तसिन्धु है। इस सप्तसिधु का वर्णन करने से यह स्पष्ट है कि अपने पुराने स्थान को यहाँ पर वे ईरानी आर्य स्मरण कर रहे हैं। यह स्मृति भी इस बात का प्रमाण है कि वे भारत से ही अन्यत्र को गए थे।

श्री बा० सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी पुस्तक "आर्यों का आदि देश" में लिखा है कि "कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि इस फर्गर्द में उन देशों का उल्लेख है जिनमें

ईरानी आर्यों ने अपने आदिम स्थान से चलकर यात्रा की। यह बात ठीक नहीं जँचती। यदि यह मान लिया जाय कि ऐय्यर्न वेइजो उनका मूलस्थान था तो रंघ (ईराक) उनका अन्तिम स्थान हुआ। पर उनका अन्तिम घर तो ईरान था, उसका जिक्र ही नही है। आदि में ऐय्यर्न वेइजो और अन्त में रंघ देने का एक कारण यह प्रतीत होता है कि उन लोगों की एक कथा है कि स्वर्ग से दो नदियाँ, वंगुही और रंघ निकली हैं, जिन्होंने सारी पृथिवी का वेष्ठन कर लिया था। इसलिए इस सूची में वंगुही के किनारे के एक नगर से आरंभ किया और रंघ के किनारे आकर समाप्त किया। फिर इन देशों में कोई क्रम नहीं है""यह विचित्र ढग से मारे-मारे फिरना हुआ। इन देशों को छोडने के कारण भी असाधारण है। जहाँ अंग्रमैन्यु ने गर्मी या सर्दी या कोई दुःखदायी जीव-जन्तु उत्पन्न कहँ दिया वहाँ से चले जाना तो समझ में आता है परन्तु अभिमान या मुर्दों का गाढ़ा जाना कैसे देश-त्याग का कारण हुआ, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। अस्तु। इस फर्गद से आर्यों के निवास के सम्बन्ध में विद्वानों को कुछ संकेत मिलता है।[1]

यहाँ पर श्री बाबू जी की सम्मति बहुत ही स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध है कि आर्यों का मूलस्थान ईरान इसमें वर्णित नहीं। साथ ही यह भी सिद्ध है कि इस फर्गद में दिए गए विवरण से विदेश से आर्यों का इस देश मे आना भी नही सिद्ध होता है। जो कारण देश छोड़ने के बताये जा रहे हैं वे भी ठीक नही हैं। परन्तु यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि श्री बाबू संपूर्णानन्द जी के अनुसार आर्य बाहर से भारत में नही आ। हफ्तहिन्दु=सप्तसिन्धु की स्मृति उसमें प्रमाण है।

भारतीय वाङ्मय में अदिति और दिति का वर्णन पाया जाता है। यह प्रसिद्ध है कि अदिति से आदित्य लोग और दिति से दैत्य लोग उत्पन्न हुये। वेद में आए अदिति पद को किसी का नाम नहीं कहा जा सकता है। वह सामान्य शब्द है। वेद के शब्दों से इतिहास निकालना वैदिक प्रक्रिया से सुतराम् अनभिज्ञता प्रकट करना है। इसी प्रकार 'दनु' पद भी प्रसिद्ध है। वृत्र को शतपथ-ब्राह्मण १।६।३।९ में दानव कहा गया है[2]। वृत्र का अपि और दानव भी नाम है। यह मेघ का वाचक है। साथ ही इसे असुर भी कहा जाता है। वृत्र नाम पर शतपथ-ब्राह्मण १।६।३।९ भाग

---

1. आर्यों का आदिदेश। पृष्ठ ५३
2. अथ (वृत्रः) यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायुश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद्दानवः इत्याहुः। श० १।६।३।९

कहता है कि वर्तमान होता हुआ उत्पन्न हुआ अतः वह वृत्र है। बिना पाद के उत्पन्न हुआ अतः वह 'अहि' है और उसको 'दनु' ने माता के रूप में और 'दनायू' ने पिता के रूप में पुत्र मान कर ग्रहण किया अतः वह 'दानव' है। यह वृत्र त्वष्टा का पुत्र है अतः 'त्वाष्ट्र' भी कहलाता है। त्वष्टा नाम सूर्य का है। इससे ज्ञात है कि वृत्र जहाँ अहि, दानव आदि होने से असुर की कोटि में है वहाँ त्वष्टा का पुत्र होने से देव-कोटि मे भी है। अतः यह ठीक है कि इस आलंकारिक वर्णन के आधार पर देव और असुरों का मूल भी एक ही बन जाता है। प्रजापति की सन्तानें ही देव हैं और उसी के सन्तानें असुर भी हैं। देव और असुर है एक स्रोत से परन्तु कर्मों और गुणों के अनुसार देव और असुर भेद बन गया। देव भी जब आसुर वृत्त पर चलने लगता है तब असुर ही बन जाता है। यह भेद भाषा के आसुरीकरण का भी होता है। व्यवहार और उपासना का भी होता है। देवभाषा के आसुरीकरण और व्यवहार एवं उपासना के आसुरी कर देने से देव-असुर और आर्य-म्लेच्छ आदि भेद बन जाते हैं। त्वष्टा पद और उसके व्यवहारों के आधार पर देवों से अथवा आर्यों से पृथक् हुए लोगों ने अपना व्यवहार आदि बनाया। पहले आर्यों के आदिस्थान त्रिविष्टप का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि धर्म का लोप होने से आर्यों से ही दूसरी जातियाँ बन गई। इसी आधार पर ईरानी लोगों की भी स्थिति हुई। आर्य धर्म इन्द्र को महत्व देता है। इन्द्र त्वाष्ट्र का विरोधी है। अतः इस अलंकार को लेकर इन्होंने अपनी पृथक् जाति बनानी प्रारम्भ की। परन्तु अपने को आर्य कहना नहीं छोड़ा। ये ईरान से अन्य दिशावों में भी फैले और अपने को आर्य ही कहते रहे। "ऐर्य्यन वेइज" पद भी "आर्याणां व्रजः" का अपभ्रंश ज्ञात होता है। अस्तु—जहाँ तक वेद में वृत्र आदि नामों का सम्बन्ध है वहाँ तक तो यह निश्चित है कि ये व्यक्ति-वाचक नाम नहीं। परन्तु शाखा और ब्राह्मण-ग्रंथों में मानव के दो विभाग के रूप में भी ये पाये जाते हैं। इनका इतिहास के रूप में वर्णन भी पाया जाता है। जरथुष्ट्र नाम 'जरत्-वाष्टर' का विकृत रूप ज्ञात होता है। यवन नाम दायोनीसियस (Dionysius) दानवासुर वा दानवेश का विकृत रूप है। कवि उशना दानवों से सम्बंध रखते थे। पारसी लोगों के धर्मग्रंथ अवेस्ता में कवि-उषा शब्द देखा जाता है। फिरदौसी के शाहनामे में यह कैऊ ऊस बन गया[1] है। अफरासियाव जो अवेस्ता में फ्रान-ह्रासयान (Fran-hrasyan) हो गया है, यह वस्तुतः वृषपर्वा का रूपान्तर है।

1. प्रो० भगवद्दत्तकृत भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, पृ० २२६

गौतम धर्मसूत्र ६।१७ पर मस्करीभाष्य के टीकाकार ने लिखा है कि पारसीक आदि म्लेच्छ[1] हैं। पह्लवीभाषा का भी संस्कृत से पर्याप्त सान्निकट्य रहा है। आर्यों से ही ये लोग गए और इनकी भाषायें भी सस्कृत भाषा से ही म्लेच्छित होकर गई। चरक चिकित्सास्थान ३०।१३६ में बाह्लीक, पह्लव, चीन, सुलोक, यवन और शक लोगों का वर्णन[2] है। सुलोक लोग ही सीरिया मे बसे थे। अहिदानव ही पारसियों की अबान यश्त में अजिदहाक मालूम पड़ता है। इसी प्रकार विश्वरूप जो वृत्र का भाई और त्वष्टा का ज्येष्ठ पुत्र है वह पारसी ग्रन्थों में विवरस्प के रूप में मिलता है। विश्वरूप के पिता त्वष्टा के तीन भ्राता थे। वे थे वरुत्री, शण्ड और मर्क। काठक शाखा २७।२२ में त्वष्टावरुत्री को असुरों का ब्रह्मा कहा गया है। यह समस्त पद है। पारसी वाङ्मय में यह विकृत रूप में 'ख्रुखतास्प' के प्रकार मे पाया जाता है। काठक शाखा २७।२२[3] में लिखा है कि बृहस्पति देवों का पुरोहित था और शण्ड और मर्क असुरों के। शण्ड और मर्क के असुर पुरोहित होने का वर्णन मैत्रायणी शाखा ४।६।३ में भी पाया जाता है। पारसी धर्म की पुस्तक अवेस्ता में इन शण्ड और मर्क का वर्णन है। ऋग्वेद १।३३।१२ में 'इलीबिश' पद मिलता है। यह मेघ का अर्थ देता है क्योंकि इला=जल के बिल में शयन करने वाला है। यह इस प्रकार मेघ होने से असुर भी है। इसी आधार पर यहूदी और अरबी ग्रन्थो में यह इब्लीस (शैतान) बन गया है। इन ऊपर के प्रमाणों के आधार पर प्रकारान्तर से भी यह सिद्ध है कि पारसी धर्म की पुस्तक अवेस्ता आदि में जो ये वर्णन मिलते हैं—ये भी वैदिक धर्म से ही गये और आसुर-वंश-वृक्ष का ही फैलाव ईरान आदि में हुआ। किसी भी अवस्था में ये आर्यों वा वेदों से पूर्व के नहीं ठहरते और न समकालिक या इनसे पृथक् भिन्न जाति वा भिन्न धर्ममूल वाले ही ठहरते है। आर्यों से पृथक् हुई आसुर शाखा से ही इनका उद्गम सिद्ध होता है।

देव और असुर पूजा—देव और असुर पूजा का भेद खड़ा करके भी अनेक कल्पनायें वैदिक एज आदि के लेखकों ने जो कर रखी हैं वे भी उटपटांग हैं। प्राकृतिक देवों की उपासना का वेद मे कहीं पर भी विधान नहीं है। वैदिक देवता क्या हैं—

1. म्लेच्छाः पारसीकादय.। गौतम धर्मसूत्र मस्करीभाष्य ६।१७
2. बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः सुलोका यवनाः शका.। चरक चिकि० ३०।१३६
3. बृहस्पतिर्देवानां षण्डा मर्का असुराणाम्॥ काठक २७।२२

इस प्रक्रिया को जो नहीं समझता है वही ऐसी उल्टी बातें कर सकता है। वेद में एक परमात्मा की ही उपासना का वर्णन है अन्य प्राकृतिक देवों की उपासना का नहीं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण और गरुत्मान् आदि एक ही परमेश्वर के नाम[1] हैं। देव-पूजक आर्यों से पूर्व भी ईरान में असुर पूजक लोग मौजूद थे—यह कल्पना भी कल्पनान्तर की भित्ति पर आधारित है। इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण नहीं है। भाषा-विज्ञान का सहारा गलत है—यह पूर्व ही सिद्ध किया जा चुका है। जब भाषा-विज्ञान की भित्ति ही नहीं ठहर पाती तो फिर उसके आधार पर की गई अन्य कल्पनायें किस प्रकार ठहर सकती है। असुर-पूजक जाति देव-पूजकों से पूर्व रही हो—यह ठीक नहीं। देव जिस प्रकार देव-गुणों के न्यून वा क्षीण हो जाने पर असुर हो जाते हैं वैसे ही देव पूजक ही बुद्धि-दोष और मिथ्याविश्वासों से असुर-पूजक भी हो सकते हैं। यह भेद कोई ऐसा प्राकृतिक भेद नहीं कि जिसको लाँघा न जा सके। पहले दिखलाया जा चुका है कि अवेस्ता में भी वे ही देवता वर्णित है जो वैदिक हैं। परन्तु वास्तविक आधार से कुछ यदि कहीं पर उल्टा वा विपरीत हो गया तो वह बुद्धि-दोष आदि कारणों से हुआ। भारत में आर्यों से पूर्व आदिवासी और द्राविडों का अस्तित्व दिखलाना और इसी प्रकार ईरान आदि में आसुरी सभ्यता को आर्यों से पूर्व दिखाना कोई अर्थ नहीं रखता है। इसका खण्डन पूर्व किया जा चुका है। पृथिवी पर आर्यों से पूर्व कोई मानव-जाति थी ही नहीं।

ऋत का वर्णन भी वेद में विकास-क्रम से नहीं आया। देव और परमदेव के साथ ही ऋत का भी वर्णन है। जिन्हे देव कहा जाता है। इनमे बहुत से भौतिक पदार्थ है जो सृष्टि के अन्तराल में कार्य कर रहे हैं। जिस नियम पर ये कार्य कर रहे हैं वह ऋत (Laws eternal) हैं जो सृष्टि में विद्यमान है। ऋग्वेद १०।१९०।१ मंत्र में ऋत के इस वास्तविक रूप का वर्णन है। ऋत का रक्षक होने से परमेश्वर को वेदों में 'ऋतस्य गोपाः[2] (Upholder of laws eternal) कहा गया है। इन्द्र को असुर कहा जाना असुर पूजकों और देव, पूजकों की संधि का परिणाम बताना वेद के आन्तरिक मर्म के समझने से अपनी अनभिज्ञता का प्रकटीकरण करना है। माया जादू नहीं है जो इन्द्र के साथ जुड़ी है। वेद में माया प्रज्ञा वा बुद्धि के अर्थ में है।

1. देखें ऋग्वेद १।१६४।४६

2. ऋग्वेद ९।७३।८

पाँच सहस्र वर्ष पूर्व विद्यमान महर्षि यास्क माया को प्रज्ञा नाम में (निघण्टु ३।११) बतलाते हैं। उनके अनुसार वेद में माया का अर्थ प्रज्ञा है। परन्तु आप वेद को तीन सहस्र वर्ष पुराना मानकर माया का अर्थ जादू कर रहे हैं। यह कितनी विचित्र वैचित्री है। इस इन्द्र के साथ ही माया का वर्णन वेद में नहीं है। ऋग्वेद (१।१४४।१) में अग्नि के साथ माया का वर्णन है; (१।१६०।३) में वन्हि के साथ माया का वर्णन है। ऋग्वेद ५।६३।३ में मित्रावरुण के साथ माया का सम्बन्ध है। ८।४१।८ में वरुण के साथ माया का उल्लेख है। ऋग्वेद ६।७३।५ में साम, ० ८५।१८ में सोम और अर्क; के साथ भी माया का सबन्ध माना गया है। क्या यह सब भी सन्धि के फलस्वरुप है? अतः ऐसी अनर्गल बातों का अनुमान निकालना ठीक नहीं। माया के अर्थ को समझने के लिए ऋग्वेद ६।७३।६ स्थल को भी देखना चाहिए। वहाँ पर लिखा है कि 'सृष्टि[1] के शाश्वत नियम (ऋतका) का सूत्र संसार में फैला हुआ है और वह वरुण=वरणीय,परमेश्वर की माया से=प्रज्ञा चातुरी से लोगों की जिह्वा के अग्रभाग में रख दिया गया है कि वाणी उसी ऋत के आधार पर ही बोले"। यह माया जादू का अर्थ देने वाली यहाँ पर नहीं है। साथ ही यहाँ पर इसका सम्बन्ध वरुण के साथ दिखलाया जा रहा है। अतः वेद के शब्दों को वेद के ढंग पर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उनसे उल्टे अटकलपच्चू अनुमान लगाने की चेष्टा करना ठीक नहीं।

असुर शब्द का अर्थ—इस पद को लेकर ही विविध कल्पनायें की गई हैं। अतः यहाँ पर इसका अर्थ दिखा देना समुचित प्रतीत होता है। निरुक्त वेदांग के कर्त्ता यास्क का समय आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व का है। उस समय तक वेद के असुर शब्द की व्याख्या किस प्रकार होती आई है उसका भी उल्लेख यहाँ पर किया जाता है। यास्क ने निरुक्त ३।७ पर असुर पद को "स्थानों में असुरत", उत्तम स्थानों से प्रक्षिप्त; असु=प्राणवाले; असुष्ठु भाव वाले, अर्थों में दिखलाया है। इससे यह प्रकट है कि असुर पद अ+सु+रम धातु से, असु क्षेपणार्थक धातु से, असु=प्राण+मतुप् और अ+सु=दुष्ट भाव आदि प्रकार से बनता है। इस प्रकार क्रमशः अर्थ भी चपल, स्थान से च्युत, प्राणवाला, और असुष्ठु स्वभाव वाला मनुष्य होगा। निरुक्त १०।३४ पर पुनः यास्क असुर का प्रज्ञावान्, प्राणवान्, और वसुवान् अर्थ

---

1. ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया। ६।७३।६।

करते हैं। यह अर्थ—असु=प्रज्ञा+र, असु+प्राण+र; और वसु के वकार का लोप करके असु=धन+र— प्रकारों से बनता है। असु का प्राण अर्थ प्रसिद्ध है। 'असु' पद निघण्टु ३।९ में प्रज्ञा अर्थ में पठित है। इसी प्रकार असुर पद निघण्टु १।१० में मेघ नाम में पठित है। इसके अतिरिक्त न सुरा अस्यास्तीति असुरः अर्थात् विना सुरावाला भी असुर है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में असुर पद उत्तम और उससे भिन्न दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। उसके धात्वर्थ ही इन दोनों प्रकार के प्रयोगों पर प्रकाश डालते हैं। जब असु के प्राण, प्रज्ञा आदि अनेक अर्थ हैं तो उनसे युक्त में प्रवृत्त असुर पद भी उन्हीं के अनुरूप उनसे युक्त अर्थों वाला होगा। अस् क्षेपणे धातु और अ+सु, तथा नञ् समास पूर्वक अ+सु+रम् धातु, तथा अ+सुरा—आदि प्रकारों से सुसम्पन्न करने पर तदनुरूप अन्य अर्थों वाला होगा। इस प्रकार असुर पद के वेद में भिन्न-भिन्न अर्थ सहजतया शब्द के स्वरूप से ही हैं। वह देवार्थक और अदेवार्थक दोनों ही प्रकार का है। इसका इस प्रकार के अर्थ वाला होना किसी प्रकार की दो जातियों की संधि के कारण अथवा परस्पर की सौदेबाजी से नहीं हुआ है। 'वृत्र' पद का वेद में मेघ और धन दोनों ही अर्थ है। अक्षर का व्यापक परमेश्वर, अविनाशी भगवान्, और जल तीनों ही अर्थ हैं। जब व्यापक अर्थ होगा तब यह 'अश्' व्याप्त्यर्थक धातु से संपन्न, जब अविनाशी अर्थ होगा तब नञ्+क्षर धातु से संपन्न, और जब जल अर्थ होगा तब 'अश्' भक्षणार्थक धातु से सम्पन्न—होगा। इसी प्रकार इन्द्र शब्द के वेद में अनेकार्थ हैं और यह शब्द लगभग १३ प्रकार से निष्पन्न होता है। परन्तु इससे यह अनुमान लगा लिया जावे कि यह अर्थ किसी सन्धि, सुलह वा सौदेबाजी अथवा बाहर से लाने से हुये हैं—नितराम् दोषपूर्ण है। यह वस्तुतः वेदवाणी के प्रति उस व्यक्ति की कोरी अनभिज्ञता का प्रकटीकरण करता है जो इस प्रकार का अनुमान लगाता है।

असुर पद वेदों में अनेकों देवों के साथ लगा हुआ है। केवल इन्द्र के साथ ही यह लगा हो—ऐसा कहना ठीक नहीं। ऋग्वेद १।२४।१४; १।१७४।१; २।२७।१०; २।२८।७; ४।२।५; ८।९०।६; १०।९९।१२ और १०।१३२।४ में क्रमशः वरुण, इन्द्र, वरुण, वरुण, अग्नि, इन्द्र, हरि, इन्द्र, वरुण, के साथ संबोधनान्त लगा हुआ है।' इसी प्रकार ऋग्वेद १।३५।७; १।३५।१०, १।५४।३; ५।१५।१; ५।२७।१, ५।५१।११; ५।८३।६; ७।३०।३; ७।५६।२४; ८।४२।१; ९।७३।१; ९।७४।७; १०।१२।६; १०।७४।२; में क्रमशः सविता, सविता, इन्द्र, अग्नि, अग्नि, मेघ, पूषा, मेघ, मरुत्, वरुण,

पवमान, सोम, अग्नि और इन्द्र को असुर कहा गया है। ऋग्वेद १।१३१।१ में कहा गया है कि इन्द्र के लिए द्युलोक को असुर ने बनाया, २।१।६ में कहा गया है कि यह अग्नि ही रुद्र और असुर तथा द्युलोक का तेज है। ऋग्वेद ३।३।४ में वैश्वानर अग्नि को असुर कहा गया है। ऋग्वेद ३-५५।१-२२ मंत्रों के देवता विश्वेदेव है। इन सभी के कार्यों को बताते हुए इनका एक मात्र असुरत्व प्रकट किया गया है। ऋग्वेद १०।५५।४ में इन्द्र के असुरत्व का वर्णन है। यह असुरत्व क्या है?—प्रज्ञा-वत्व—ऐसा यास्क का विचार है। अर्थात् इन देवों के जो महान् कार्य हैं वे ही इनके असुरत्व=प्रज्ञावत्व कहे गए हैं। ऋग्वेद १०।९९।२ में असुरत्व का अर्थ बल है। ऋग्वेद १०।५४।४ में (चत्वारि ते असुर्याणी नामादाम्यानि महिषस्य सन्ति) इन्द्र के चार असुर्य=असुरसबंधी नाम कहे गये है। उन चारों नामों=कर्मों का वर्णन १०।५५। १-५ मंत्रों में पाया जाता है। प्रथम कर्म मेघ के जलों को जमाकर पृथिवी और द्युलोक का उत्तम्भन। दूसरा भूत, भव्य का उत्पन्न करना और जल का प्रकट करना और पंचतत्वों का विभाग करना है। तीसरा आसुर कर्म द्यावा-पृथिवी का तेज से पूरा करना, ऋतुवों के अनुसार पंच देवों, ४९ मरुतों का चलाना, तथा ३४ देवो के सरूप, ज्योति और विविध कर्म से होने वाले व्यवहारों का जानना। चौथा असुरकर्म सूर्य के व्यवहार का चलाना और उषा का प्रकाश करना। इनमे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं मिलती जिससे असुर अर्थ की विपरीत कल्पना की जावे। यहाँ पर तो सृष्टि के संचालन-सम्बन्धी कार्य को ही इन्द्र का आसुर कर्म कहा गया है। फिर इन्द्र को असुर कहने से इन्द्र का देवत्वविपरीत कोई कार्य देखा नही जाता है। ऋग्वेद ५।४२।११ में रुद्र को असुर कहा गया है। इस प्रकार के विवेचन से यह परिणाम सहजतया निकल आता है कि असुर और देव के विचार को लेकर जो वेद के काल का निर्णय किया जाता है, सुतराम् अनुचित और व्यर्थ है। असुरपद के वेद में विभिन्न अर्थ हैं और उन्हीं के अनुसार उनका प्रयोग विविधार्थों में पाया जाता है। इसके आधार पर किसी ऐतिहासिक अटकलबाजी को खड़ा करना समुचित और प्रशस्त नहीं। जब सभी देव असुर हैं तो फिर इन्द्र को असुर कहना ईरानी लोगों और आर्यों की सन्धि के कारण प्रारम्भ हुआ कोई अर्थ नही रखता। यह कोरी कल्पना का प्रासाद खड़ा किया गया है जो तर्क के बल को नही सहन कर सकता है।

रसा, सरस्वती और वाह्लीक—रसा, सरस्वती, और वाह्लीक शब्दों को आर्य लोग ईरान से लाये और दो नदियों तथा एक प्रान्त के नाम के रूप में प्रयुक्त

किया—यह कथन भी बे-सिर-पैर का है। 'रस' पद जल के अर्थ में वेद में प्रयुक्त है। इसीलिए निघण्टु १।१२ मे वह उदक नाम में पठित है। निघण्टु २।७ में अन्न अर्थ में भी इसका पाठ है। शत-पथ ३।३।३।१८ में (रसो वाऽऽपः) रस का अर्थ जल है—ऐसा स्वीकार किया गया है। जब रस शब्द जो पुलिंग है वह वेद का ही है तो उसका स्त्रीलिंग रूप 'रसा' पद ईरान से लाने की आवश्यकता ही क्या पड़ी। क्या 'रस' का ज्ञान रखने वाले 'रसा' पद को नही निष्पन्न कर सकते थे। 'रसा' पद नदी-सामान्य का वाचक है –किसी नदी विशेष के नाम (Proper name) का वाचक नहीं। निरुक्त ११।२२ पर यास्क कहते है कि रसा नदी है। शब्द करती हुई बहती है अत. यह रसा है। रस शब्दार्थक धातु से इसकी निष्पन्नता है। यह कोई नाम नहीं बल्कि नदी का समानार्थक शब्द है। ऋग्वेद १०।१०८।१ में रसा का यही अर्थ है। इसी प्रकार ऋग्वेद ५।५३।६ मे रसा का पृथिवी अर्थ है। ऋग्वेद १०।७५।६ ने जो नदियों के प्रकार-वर्णन में 'रसा' पद आया है वह किसी विशेष नदी का वाचक नही अन्यथा १०।१०८।१ में सरमा के वर्णन में "रसा" नदी सामान्य अर्थ में क्यों माना जाता। १०।७५ सूक्त मे तो नदियों का पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक मे होना वर्णित है। यदि 'रसा' नाम ईरान मे लेकर किसी नदी का यहां रखा गया होता तो फिर पृथिवी पर रहता। शेष लोकों में भी रसा कहाँ से पहुँच जाती। अतः यह निश्चित है कि "रसा' पद वेद का है और किसी नदी-विशेष का नाम नही। वह नदी-सामान्य अर्थ का देने वाला है और ईरान से नहीं आया है।

सरस्वती शब्द के विषय में भी यहाँ पर विचार किया जाता है। 'सरः' पद वेद में वाणी (निघण्टु १।११) के अर्थ में आया है। यह वेद में जल अर्थ में भी प्रयुक्त है (घिण्टु १।१२)। इसी प्रकार सरस्वती का अर्थ वाणी वा माध्यामिका वाक् भी है और सरस्वती का अर्थ नदी-सामान्य भी है। यह दोनों प्रकार का प्रयोग वेदों में पाया जाता है। शतपथ का समय पाश्चात्य ढंग और पौरस्त्य ढंग से निकालने पर जैसा पूर्व प्रकरणों में दिखलाया जा चुका है बहुत प्राचीन है। उसमें भी सरस्वती वाणी और नदी दोनों अर्थों में है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि सरस्वती शब्द ईरान से लाकर नदी नाम रख दिया गया है—व्यर्थ का तुक मारने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वेद से सरस्वती और रसा आदि पद ईरान आदि की भाषाओं में गये—यह तो हो सकता है। ईरान से यह यहां लाकर प्रयुक्त किये गये नितरां प्रमाणशून्य है।

बह्लीक पद अथर्व ५।२२।५,७,९ मंत्रों में आया है। यहाँ पर ज्वर के स्थानों का वर्णन है। महावृषा=अधिक वर्षा वाले और मूजवान्=घास फूस वाले प्रदेशों में ज्वर उत्पन्न होता है। बह्लीक भी इसी प्रकार के स्थानों का नाम है। यह कोई स्थान-विशेष नहीं—बल्कि स्थान-सामान्य है। यह व्यक्तिवाचक (Proper noun) नहीं है। 'बल्ह' धातु का अर्थ हिंसा, परिभाषण और आच्छादन है। इसी से 'बह्लीक' पद बना है। इसका अर्थ वह सामान्य स्थान है जहा पर धूप न मिलती हो अथवा बहुत से हिंसक कृमि, कीट, मशक, दंश आदि रहते हों। ऐसे प्रदेशों में ज्वर का होना स्वाभाविक है। यह कोई ऐसा प्रदेश वेद के अनुसार नही जो स्थानवाची व्यक्तिगत नाम हो। यह तो ऐसे सभी स्थानों के लिए प्रयुक्त होता है। इसको किसी स्थान-विशेष का नाम बताना सर्वथा ही अनुचित और अनभिज्ञतापूर्ण है। किसी स्थान का नाम रखने में यह शब्द वेद से लिया गया है न कि ईरान से लाकर रखा गया है। केवल कल्पना से कोई कार्य नही चल सकता है। उसके लिए प्रमाण की भी आवश्यकता है।

विदेशी भाषा के शब्द—श्री प्राणनाथ जी विद्यालंकार का विचार है कि वेदों में कई ऐसे पद हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। बहुत से अन्य विद्वानों के भी ऐसे विचार है। इसका निराकरण यहाँ पर किया जाता है। इन लोगों के अनुसार ये पद ईराक की प्रसिद्ध नदियों और पहाड़ों के हैं। 'जर्भरी,' 'तुर्फरी' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इनका यह कथन सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है कि इन शब्दों का अर्थ नहीं लगता। निरुक्त में कौत्स के नाम से ऐसा पूर्वपक्ष उठाकर यही बात कहलाई गई है। परन्तु यास्क ने उत्तर में बतलाया कि सबका अर्थ है और स्पष्ट अर्थ है। जैमिनि ने मीमांसा में भी पूर्वपक्ष उठा कर इसका समाधान किया है। परन्तु इन समाधानों के होते हुये भी अपनी रट लगाते रहना कुछ अर्थ नही रखता है। यास्क ने निरुक्त परिशिष्ट १३ अध्याय तीसरे खण्ड में इन शब्दों का अर्थ दे दिया है। जर्भरी का अर्थ पालक और तुर्फरी का अर्थ हिंसक किया है। ये द्विवचन है और 'अश्विनौ' के विशेषण हैं। नदी और पहाड़ों के नाम नही। जर्भरी भृञ् भरणे का यङ् लुङन्त प्रयोग है और तुर्फरी तृफ हिंसायाम् का वैसा ही प्रयोग है। ये दोनों कृदन्त प्रयोग हैं। ऋग्वेद १०।१०६।६ में ये पद आये हैं और इन्हीं के साथ जेमना, मदेरू, नैतोशो और पर्फरी—पद भी विद्यमान हैं। इन्हे भी किसी देश के नदी पहाड़ों से टकरा देना चाहिए था। क्या सारा भूगोल

जर्भेरी और तुर्फरी तक ही समाप्त हो गया। 'पर्फरी' के लिए तो मस्तिष्क लगाना था। ऐसी व्यर्थ की कल्पनायें कब तक चलती रहेंगी ?

वैदिक एज के कर्ता तथा कई अन्य इतिहासज्ञ कहते हैं कि वेद में चाल्डियन भाषा के शब्द हैं। यहाँ पर विचार किया जाता है और एक तालिका प्रथम ही दे दी जाती है :—

संस्कृत		चाल्डियन		अर्थ
सिनीवालि	—	सिनवुल्वुल	—	अमावस्या
अप्सु	—	अब्जु (जु अब)	—	पानी
यह्व	—	यह्वे	—	महान्
ऋतु	—	इतु	—	मौसम
परसु	—	पिलक्कु, बलगु	—	शस्त्र
अलिगी विलगी	—	विलगी	—	सर्पदेव
तैमात	—	तिआमत	—	देवता
उरुगुला	—	उरुगुल	—	देवता
ताबुव	—	तबु	—	सर्प

इन शब्दों के अर्थों में थोड़ा अन्तर कई में है। साथ ही शब्द यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि वेद से चाल्डियन भाषा में गए होंगे। चाल्डियन भाषा से वेद में आए हों यह अनुमान सर्वथा ही गलत है। इन शब्दों की संस्कृत में धातुवें (Roots) हैं परन्तु यह भी बतलाना चाहिए कि चाल्डियन में इनके मूल क्या है ? अलिगी, विलगी आदि का पहले भी भाषा-विज्ञान के प्रकरण में समाधान कर दिया है। बाइबिल में एक तथ्य की तरफ संकेत किया गया है जिससे इस पक्ष का समाधान स्वयं हो जाता है। लिखा है कि पश्चिम में आने वालों की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही से आए हैं[1]। इस प्रकार यह प्रकट है कि ये शब्द वेदों से ही उन देशों में गए। उन देशों से वेद में नहीं आए।

वेदों में इराक वासियों का इतिहास है—यह भी कथन ऊटपटांग ही है। वेद में किसी व्यक्ति का इतिहास है ही नहीं[2]। कुछ दिन पूर्व श्री प्राणनाथ जी विद्यालंकार वेदों को सुमेरियन डाकूमेण्ट (प्रमाणपत्र) कहते थे। परन्तु यह ज्ञात हो कि तथ्य उसके विपरीत है। सुमेरु के लोगों पर भारत के राजाओं का राज्य

1. And the whole was of one language, and of one speech. And it came to pass as they journeyed from the East—Genesis, chapter XI.
2. देखें मेरी पुस्तक—वैदिक-इतिहास-विमर्श

वह्लीक पद अथर्व ५।२२।५,७,६ मंत्रों में आया है। यहाँ पर ज्वर के स्थानों का वर्णन है। महावृषा=अधिक वर्षा वाले और मूजवान्=घास फूस वाले प्रदेशों में ज्वर उत्पन्न होता है। वह्लीक भी इसी प्रकार के स्थानों का नाम है। यह कोई स्थान-विशेष नहीं—बल्कि स्थान-सामान्य है। यह व्यक्तिवाचक (Proper noun) नहीं है। 'बल्ह' धातु का अर्थ हिंसा, परिभाषण और आच्छादन है। इसी से 'वह्लीक' पद बना है। इसका अर्थ वह सामान्य स्थान है जहा पर धूप न मिलती हो अथवा बहुत से हिंसक कृमि, कीट, मशक, दश आदि रहते हो। ऐसे प्रदेशों में ज्वर का होना स्वाभाविक है। यह कोई ऐसा प्रदेश वेद के अनुसार नहीं जो स्थानवाची व्यक्तिगत नाम हो। यह तो ऐसे सभी स्थानों के लिए प्रयुक्त होता है। इसको किसी स्थान-विशेष का नाम बताना सर्वथा ही अनुचित और अनभिज्ञतापूर्ण है। किसी स्थान का नाम रखने में यह शब्द वेद से लिया गया है न कि ईरान से लाकर रखा गया है। केवल कल्पना से कोई कार्य नही चल सकता है। उसके लिए प्रमाण की भी आवश्यकता है।

विदेशी भाषा के शब्द—श्री प्राणनाथ जी विद्यालंकार का विचार है कि वेदों में कई ऐसे पद हैं जिनका कुछ ठीक अर्थ नही लगता। बहुत से अन्य विद्वानों के भी ऐसे विचार हैं। इसका निराकरण यहाँ पर किया जाता है। इन लोगों के अनुसार ये पद ईराक की प्रसिद्ध नदियों और पहाड़ों के हैं। 'जर्भरी,' 'तुर्फरी' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इनका यह कथन सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है कि इन शब्दों का अर्थ नहीं लगता। निरुक्त में कौत्स के नाम से ऐसा पूर्वपक्ष उठाकर यही बात कहलाई गई है। परन्तु यास्क ने उत्तर में बतलाया कि सबका अर्थ है और स्पष्ट अर्थ है। जैमिनि ने मीमांसा मे भी पूर्वपक्ष उठा कर इसका समाधान किया है। परन्तु इन समाधानों के होते हुये भी अपनी रट लगाते रहना कुछ अर्थ नही रखता है। यास्क ने निरुक्त परिशिष्ट १३ अध्याय तीसरे खण्ड में इन शब्दों का अर्थ दे दिया है। जर्भरी का अर्थ पालक और तुर्फरी का अर्थ हिंसक किया है। ये द्विवचन हैं और 'अश्विनौ' के विशेषण हैं। नदी और पहाड़ों के नाम नहीं। जर्भरी भृञ् भरणे का यङ् लुङन्त प्रयोग है और तुर्फरी तृफ हिंसायाम् का वैसा ही प्रयोग है। ये दोनों कृदन्त प्रयोग हैं। ऋग्वेद १०।१०६।६ में ये पद आये हैं और इन्हीं के साथ जेमना, मदेरू, नैतोशो और पर्फरी—पद भी विद्यमान है। इन्हें भी किसी देश के नदी पहाड़ों से टकरा देना चाहिए था। क्या सारा भूगोल

जर्भरी और तुर्फरी तक ही समाप्त हो गया। 'पर्फरी' के लिए तो मस्तिष्क लगाना था। ऐसी व्यर्थ की कल्पनायें कब तक चलती रहेंगी ?

वैदिक एज के कर्त्ता तथा कई ग्रन्थ इतिहासज्ञ कहते हैं कि वेद में चाल्डियन भाषा के शब्द हैं। यहां पर विचार किया जाता है और एक तालिका प्रथम ही दे दी जाती है :—

संस्कृत		चाल्डियन		अर्थ
सिनीवालि	—	सिनवुब्बुल	—	अमावस्या
अप्सु	—	अब्जु (जु अव)	—	पानी
यह्व	—	यहवे	—	महान्
ऋतु	—	इतु	—	मौसम
परसु	—	पिलक्कु, बलगु	—	शस्त्र
अलिगी विलगी	—	विलगी	—	सर्पदेव
तैमात	—	तिआमत	—	देवता
उरुगुला	—	उरुगुल	—	देवता
तावुव	—	तपु	—	सर्प

इन शब्दों के अर्थों में थोड़ा अन्तर कई में हैं। साथ ही शब्द यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि वेद से चाल्डियन भाषा में गए होंगे। चाल्डियन भाषा से वेद में आए हों यह अनुमान सर्वथा ही गलत है। इन शब्दों की संस्कृत में धातुवें (Roots) हैं परन्तु यह भी बतलाना चाहिए कि चाल्डियन में इनके मूल क्या हैं ? आलिगी, विलगी आदि का पहले भी भाषा-विज्ञान के प्रकरण में समाधान कर दिया है। बाइबिल में एक तथ्य की तरफ संकेत किया गया है जिससे इस पक्ष का समाधान स्वयं हो जाता है। लिखा है कि पश्चिम में आने वालों की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही से आए हैं[1]। इस प्रकार यह प्रकट है कि ये शब्द वेदों से ही उन देशों में गए। उन देशों से वेद में नहीं आए।

वेदों में इराक वासियों का इतिहास है—यह भी कथन ऊटपटांग ही है। वेद में किसी व्यक्ति का इतिहास है ही नहीं[2]। कुछ दिन पूर्व श्री प्राणनाथ जी विद्यालंकार वेदों को सुमेरियन डाकूमेण्ट (प्रमाणपत्र) कहते थे। परन्तु यह ज्ञात हो कि तथ्य उसके विपरीत है। सुमेर के लोगों पर भारत के राजावों का राज्य

1. And the whole was of one language, and of one speech. And it came to pass as they journeyed from the East—Genesis, chapter XI.
2. देखें मेरी पुस्तक—वैदिक-इतिहास-विमर्श

था। वेद में तो राजावों का वर्णन आ ही नहीं सकता। हाँ! इन राजावों के वहाँ पर राज्य करते हुए वहाँ के साहित्य पर इनकी छाप का होना ठीक है। सुमेर देश के मृत्तिका की मुद्रावों पर लिखे अनेक राजावों के नाम मिले हैं। उनमें कुछ एक यहाँ पर दिखाए जाते हैं :—

Issaku —	इक्ष्वाकु
Shar— itiash—	शर्यात्
Shur—Sin —	शूरसेन
Shar-ar—gun—	सहस्राजु न
Shar—gar —	सगर
Purash—Sin —	पुरुषसेन, परशुसेन
Man —	मनु

इन नामों का कितना विगड़ा रूप सुमेरियन मे ऊपर देखा जा रहा है। अतः संस्कृत भाषा के शब्द जो भारतीय राजावों के नाम के रूप मे प्रयुक्त थे वेही उस भाषा में म्लेच्छित हो गए। इस प्रकार इस प्रकरण को यहाँ पर समाप्त किया जाता है इस निश्चय पर पहुँचते हुए कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वैदिक सस्कृत और लौकिक संस्कृत को म्लेच्छित करके ही ईरान की भाषा बनी। अवेस्ता के शब्द वा किसी दूसरे देश की भाषा के शब्द वेद में नहीं आए है बल्कि वेद के शब्द इन भाषावों वा देशों में गए हैं। जिनको ईरानी कहा जाता है—ये भी भारत के आर्यों की ही शाखा हैं। भारत से जाकर ही धर्म के उपदेश न मिलने से ये जातियाँ जो पहले क्षत्रिय थी इन रूपों में परिणत हो गईं। आर्य लोग ईरान से आए हों अथवा बाहर से यहाँ आए हों—यह सर्वथा ही भ्रान्त धारणा है। पूर्व इसका पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है।

अध्याय ८

मोहेन्जो–दारो तथा हरप्पा

पहले यथास्थान यह दिखलाया जा चुका है कि म्लेच्छ और असुर जातियां आदि किस प्रकार धर्म से भ्रष्ट होकर अस्तित्व में आईं। आर्यों से पूर्व संसार में कोई भी मानव-जाति नहीं थी और उपजातियों की अथवा आदि मूलवासियों आदि की जो कल्पना की गई है वह सर्वथा ही निराधार और युक्ति तथा प्रमाण से हीन है।

मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की खोदाइयों से जो सामग्री प्राप्त हुई है उसको लेकर बड़ा बखेड़ा किया जाता है। वैदिक एज में भी इसका एक प्रकरण ही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के नाम से इस पर इस पुस्तक में विचार किया गया है। कोई ठोस प्रमाण तो दिया नहीं जाता फिर भी कहा जाता है कि यह वैदिक सभ्यता से पूर्व की है। कई लोग कहते हैं कि द्राविड भाषा और उसकी सभ्यता के प्रमाण इसमें मिलते हैं। जो जैसा चाहता है वैसी कल्पना कर लेता है। मैंने अपनी पुस्तक दर्शनतत्त्व-विवेक[1] में इस पर पर्याप्त विचार किया है। मोहेन्जो-दारो के विषय में अभी तक निश्चित मत कोई नहीं। केवल अटकलबाजियां चल रही हैं। अभी तक उसकी मुद्रावों की भाषा पढ़ी नहीं जा सकी है। यहां पर इस विषय में सर्वप्रथम श्री बा० सम्पूर्णानन्द[2] जी का विचार प्रस्तुत किया जाता है। "इतना ही कहना पर्याप्त है कि मोहेन्जो-दारो की कला बड़े ऊँचे कोटि की है। इस विषय के विशेषज्ञों का कहना है कि यह चीजें ४५०० से ५५०० वर्ष पुरानी है।" पृ० २१८। "इस प्रकार मौर्य काल और उसके बाद की कला का पितृत्व खोजने हमको ईरान जाने की आवश्यकता नहीं है, वह भारत में ही मिल जाते है।" पृ०२१६।

"मोहेन्जो-दारो में जिस सभ्यता का परिचय मिलता है वह उसी ढंग की है जैसी कि सुमेर की सभ्यता थी। मकानों की बनावट का ढंग वही है, मूर्तियां वैसी ही हैं, मुहरों पर तथा दूसरी जगह उसी प्रकार के अक्षर खुदे हैं, दोनों जगहों की

---

1. यह पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है।
2. आर्यों का आदिदेश, पृ० २१७।

भाषा एक ही है। और कई व्यक्तियों के नाम भी दोनों जगहों में मिलते हैं । ……,
मूर्तियों के आकार में यह लोग तूरानी, अथवा मंगोल उपजाति की शाखा के प्रतीत होते हैं। इनकी भाषा का ठीक-ठीक स्वरूप क्या था यह नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह द्राविड थी। परन्तु कुछ दूसरे विद्वान् उसे संस्कृत से मिलती-जुलती मानते हैं।" पृ० २२०।

डाक्टर वेडेल के मत का उल्लेख करने के बाद उक्त बाबू जी पुनः लिखते हैं। "इतने संकेत ही पर्याप्त हैं। इतना और कह देना आवश्यक है कि वेडेल का यह मत विशेषज्ञों में सर्वमान्य नहीं है। कई लोग इन मुहरों पर खुदे नामों को दूसरे प्रकार से पढ़ते हैं। उदाहरण के लिए पहली ही तालिका को लीजिए—

वेडेल के अनुसार	दूसरे विशेषज्ञों के अनुसार
उरु अश्	उर निना
मद्गल	अकुग्गल
वि अदानदि	इअसतुम
एने तपि	एनलि तजि

………·…वैदिक सभ्यता और मोहेन्जो-दारो की सभ्यता का क्या सम्बन्ध है यह भी अनिश्चित है।" पृ० २२५।

"इससे यह कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता प्राचीन है और मोहेन्जो-दारो काल से कम-से-कम चार पांच हजार वर्ष पुरानी है।" पृ० २२५।

पुनः "पर अभी तक जो सामग्री मिली है वह अपर्याप्त है। जो खुदे हुए लेख मिले हैं उनका क्या अर्थ है, इस सम्बन्ध में सब विद्वानों का मत एक नहीं है। अतः उनके सहारे अटकल लगाना भ्रामक होगा।" पृ० २२६।

यहां पर उपर्युक्त वर्णनों में कुछ बातें अवश्य ही स्पष्ट हो जाती हैं :—

१—मोहेन्जो-दारो की सभ्यता ४००० से ४५०० वर्ष पुरानी है।

२—वैदिक सभ्यता मोहेन्जो-दारो की सभ्यता से कम-से-कम चार-पांच हजार वर्ष प्राचीन है। (यह उनके अपने विचार से)।

३—जो खुदे लेख मिले हैं उनका क्या अर्थ है इस विषय में विद्वानों का मत एक नहीं है—अतः उनके सहारे अटकल लगाना भ्रामक होगा।

श्री बाबू सम्पूर्णानन्द के अनुसार वेदों का समय १८००० वर्ष पुराना है। मोहेन्जो-दारो की सभ्यता ४००० से ४५०० वर्ष पुरानी है अतः वैदिक सभ्यता का उससे प्राचीन होना उनके अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के अनुसार ठीक ही है। यद्यपि यह उनका अपना विचार है। हमारे विचार से यह संगत नही है फिर भी वैदिक एज के विचारों का इससे पूर्णतया खण्डन हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

महाभारत-काल आज से पांच सहस्र वर्ष से कुछ पुराना है। ऐसी स्थिति में मोहेन्जो-दारो की सभ्यता महाभारत से कुछ शताब्दी पीछे की अथवा बहुत खींच-तान किया जावे तो आस-पास की ठहरेगी। दोनों अवस्थाओं में वैदिक एज की मान्यता का खण्डन हो जाता है।

यदि उक्त बाबू जी की तीसरी बात को माना जावे तो फिर सब कुछ सफाचट ही है और कहना पड़ेगा कि मोहेन्जो-दारो की सामग्री के आधार पर कोई ऐतिहासिक परिणाम निकालना और वेदों के विषय में निकालना सर्वथा ही भ्रान्त होगा। ऐसी स्थिति में वैदिक एज की बनाई धारणा सर्वथा ही भ्रान्त ठहरती है।

अस्तु! एक बात यहां पर और विचारणीय है और वह यह है कि मनुस्मृति[1] के अनुसार जैसा पूर्व भी लिखा जा चुका है ब्राह्मणों का उपदेश न मिलने और वैदिक क्रियाओं का उनमें लोप हो जाने से आर्यों की क्षत्रिय जातियां ही धर्मच्युत होकर, पौण्ड्रक, चौण्ड्, द्राविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश—के रूप में परिवर्तित हो गईं। ये म्लेच्छवाक् और कई इनमें संस्कार शेष से आर्यवाक् भी रहीं—परन्तु दस्यु हो गईं। इस प्रकार इन असुर एवं म्लेच्छ जातियों का अक्काद, सुमेर, ईरान, चाल्डिया, बेबलन, मेसोपोटामिया आदि में विस्तार हुआ। इनका व्यवहार परस्पर भारतीय आर्यों से चलता रहा। इनकी भाषायें आसुरी हो चुकी थी। किसी समय में ये बाहर से लौट कर पुनः भारत में आ कर बसीं। अनेकों परिवर्तन होते रहे। शक, हूण, यवन आदि भी समय-समय पर इस देश में आए और यहां के निवासी हो गए।

---

1. मनु १०।४३-४५

पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि दिति और दनु के वंश का विस्तार भी बहुत लम्बा-चौड़ा हुआ। दैत्य और दानव भी इस देश में रहे। परन्तु ये आर्यों से पूर्व नहीं बल्कि आर्यों में से ही निकल कर गए, बढ़े और आते-जाते, रहते-रहाते रहे। इन्हीं की सन्तानों का एक भाग बाहर से आकर सिन्ध प्रदेश में भी बस गया। यही मोहेन्जो-दारो आदि के निवासी हुए और उन्हीं का यह सब अवशिष्ट प्रपंच है।

श्री पं० भगवद्दत्त जी ने एक और ही विचार मोहेन्जो-दारो के विषय में प्रकट किया है। उनका कथन है कि मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की संस्कृतियां[1] आसुर सस्कृतियां है। विस्तार और विवरण के विषय में मतभेद किसी का होना स्वाभाविक है—परन्तु भारतीय वाङ्मय का पक्षपात छोड़ कर अध्ययन करने वालों को किसी सीमा तक इसी निर्णय पर पहुंचना पड़ेगा। जैसा पहले और ऊपर की पंक्तियों में भी लिख चुका हूं कि म्लेच्छ आदि जातियां धर्मभ्रष्ट होकर बनी और संसार में फैली। दानवासुर (*Dionysus*) और दनु तथा दिति की बात पहले कही जा चुकी है। जैकोलियट ने बाइबिल इन इण्डिया (Bible in India) में हरक्यूल्स से लेकर मेसोपोटामिया और जोरास्टर तथा स्टारा तक समस्त नामों को संस्कृत मूल[2] से सिद्ध किया है। इस आधार को लेकर विचार करने पर उक्त पंडित जी का निकाला परिणाम जो उन्होंने हरक्यूल्स और स्कंडेनेविया आदि नामों के सम्बन्ध में दिया है—कल्पना की बात नहीं रह जाते। मनुस्मृति, बौधायन धर्मसूत्र, बौधायन श्रौत और गह्यसूत्रों, महाभारत और अभिधान-चिन्तामणि कोष के अनुसार यह सिद्ध है कि भारत के उत्तर-पश्चिम में म्लेच्छ रहते थे। शान्तिपर्व १८६।१८ के अनुसार इन्हीं की प्रेत, पिशाच और राक्षस संज्ञा भी थी। वर्तमान युग के महान् आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी मनु के—म्लेच्छदेशस्त्वतः परः पर लिखते हुए लगभग इसी प्रकार के मिलते-जुलते विचार लिखे हैं। यह भी वर्णन महाभारत के सभापर्व २७।२३,२५ में मिलता है कि म्लेच्छ और असुरों ने संग्राम में भाग लिया। सभापर्व २८।४४ में इन्हें 'म्लेच्छयोनिज' नाम से भी कहा गया है। वाहीकों का भी वर्णन पश्चाद्वर्ती संस्कृत साहित्य में मिलता है। ये लोग ज्ञात होता है कि पंजाब के आस-पास रहते थे। साहित्यदर्पण में इन्हें इनकी बुद्धि-मान्द्य की दृष्टि से 'गौर्वाहीकः' वाहीक बैल वा गौ कहा गया है। परन्तु इतना ज्ञात रहना चाहिए

---

1. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास और उनका ट्रैक्ट मोहेन्जो-दारो एण्ड हरप्पा—An Asura Culture.
2. Page 25-28.

कि आर्यों से पृथक् होने के बाद भी इनमें बहुत लम्बे काल तक आर्यों की सारी परम्परायें नष्ट नहीं हुई थी। ये म्लेच्छवाक् होते हुए भी संस्कृत बोलते थे और कुछ व्यवहारों को भी वैसा ही वर्तते थे। अग्नि के ६ नामों का रुद्र नाम से वर्णन करते हुये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है 'शर्व' नाम पूर्व के लोग प्रयुक्त करते हैं और 'भव' नाम वाहीक लोग बोलते हैं। वस्तुतः पशुपति रुद्र यह अग्नि[1] ही है। शतपथ-ब्राह्मण जिस अवस्था का वर्णन कर रहा है उस अवस्था में ये वाहीक लोग आर्य ही थे। ये बाद में म्लेच्छवाक् और धर्मभ्रष्ट कालान्तर से हो गये। ये म्लेच्छ, असुर वा दानव जो भी कहिये भारत के उत्तर-पश्चिम देशों में रहते थे और मध्य एशिया के साथ भी अपना सम्बन्ध रखते थे।

मैगस्थनीज के लेखों के आधार पर भी कुछ संकेत इन असुरों की सभ्यता का मिलता है। वह कहता है कि बहुत पुराने काल में जब लोग ग्रामों में रहते थे दानवासुर (Dionysus) पश्चिम से आया और बड़ी फौजें लाया। उसने समस्त भारत पर लूटपाट[2] की। इसी आधार पर वे विशेष जाति के लोग नाइसेयन्स (Nyssaians) कहे जाते हैं और इनका नगर नाइसा (Nyssa) था जिसको दानवासुर ने बसाया था। ये आगे चल कर दानवासुर (Dionysus) के आक्सीड्रकाई वंशज कहे जाते हैं[3]। ये नाइसोई भारतीय जाति के नहीं हैं बल्कि उनके वंशज हैं जो दानवासुर (Dionysus) के साथ भारत में[4] आये। उन आक्सीड्रकाइस लोगों की कबरें सादी होती हैं और मुर्दे पर नीचे से ढेर बने होते हैं[5]। महाभाष्य में एक नैश जनपद का वर्णन मिलता है। नैश और निशाचर का अर्थ समान ही है। यह 'नैइस' पद भी इस नैश का ही रूपान्तर ज्ञात होता है। इसी प्रकार आक्सीड्रकाई क्षुद्रकाः का भ्रष्टरूप है। हरप्पा नगरी रावी के किनारे पर थी। यह इन क्षुद्रकों के निवास की जगह थी।

ज्ञात होता है कि 'दर' पद संस्कृत के पुराने साहित्य में विशेष जनों के अर्थ में प्रयुक्त होता था। पुराण जो बहुत नवीन काल के (वायुपुराण) है—इनमें इस शब्द क।

---

1. शतपथ १।७।३।८
2. Fragment 1, 38
3. Fragment 1, 38
4. Fragment 46. 8
5. Fragment 27

प्रयोग पहले के किसी ग्रन्थ से आया होगा। महाभारत सभापर्व ४८।३ में 'प्रदराः दीर्घवेणवः' शब्दों का प्रयोग इस दिशा में विचार करने का अवसर प्रदान करता है। पूर्व उद्धृत मानव धर्मशास्त्र के श्लोक में भी दरदाः में दर पद पड़ा ही है। अब भी पुराने स्थानों के लिये 'दरी' पद का प्रयोग देखा जाता है। बारहदरी तो बहुत प्रसिद्ध शब्द उर्दू भाषा का है। बहुधा यह विशेष पुराने खंडहरातों और मकानों के लिये ही प्रयुक्त होता है। पंजाबी में भी यह 'दरी' शब्द इस उर्दू से ही लिया गया होगा। अस्तु ! जो भी हो इतना तो कहना पड़ेगा कि 'दर' पद का विशेष अर्थ है। वह अर्थ है लोग या जन।

"बाह्यतो दराः" जो वायुपुराण का प्रयोग है वह 'प्रदराः दरा दरदाः' आदि आधारों पर लिया गया होगा। मैं पुराणों को कपोल-कल्पित और अनर्गल मानता हूँ। परन्तु अन्यत्र मूल मिलने से ही यहां पर विचार कर रहा हूँ। बाहर से आये लोग बाह्यतो दर और जो अपने यहां से इधर-उधर बस गए होंगे वे 'अन्तर्दराः' कहलाते रहे होंगे। मोहेन्जो-दारो में जो दारो' पद पड़ा है वह इस 'दरा' का ही बिगड़ा हुआ रूप मालूम पड़ता है। सिन्धी भाषा में स्यात् इस 'दराः' का दारो बन गया है।

यह भी कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं कि म्लेच्छ लोग नगरों में ही रहते थे। वे जंगलों में भी रहा करते थे। महाभारत वनपर्व के देखने से यह ज्ञात होता है कि म्लेच्छ लोग जगलों में भी रहते थे। इसलिए आसुर सभ्यता नगर की ही सभ्यता है —यह कोई सिद्धान्तभूत बात नहीं।

म्लेच्छों की एक सील के ऊपर एक मनुष्य की आकृति पाई जाती है। इसमें उसके वसन पर सींग लगे हुए है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। नाटक आदि में ऐसे परिधान अब भी लोग पहन लेते है किसी विशेष कार्य को दिखलाने के लिए। यह प्रथा कुछ पिशाच जातियों में थी। महाभारत सभापर्व ६८।२६ में इन्हें 'लोमशाः शृङ्गिणो नराः' कहा गया है। इन्हें दीर्घकेश नर भी कहा गया है। भरत नाट्य शास्त्र में लिखा है कि पिशाच 'जाति का भाग अदा करने वाले को 'लम्ब केश' दिखलाया जाना चाहिये। यह प्रथा कुछ सीमा तक बैबिलोनिया के लोगों में भी पाई जाती थी।

'शृङ्गिणः' का अर्थ करते हुये मोनियर विलियम्स ने लिखा है कि ये लोग सींगों का परिधान शिर पर रखते थे। ये शिव के पूजक थे। ये बैल को चाहते थे। शृङ्गी

मछली का भी नाम है। विष्णु के शरीर को आधा नर और आधा मछली का ये लोग रखते हैं। अतः मत्स्यावतार जो पुराणों में वर्णित है उसके ही रूपान्तर इनकी मूर्तियां हैं। इससे पौराणिक छाप भी है। यह शृङ्ग धारण करने के प्रकार और शृङ्गों के भेद तो हैं परन्तु इनका भी प्रचलन किसी वैदिक प्रक्रिया का ही बिगड़ा रूप है। कला के कार्यों में ये लोग शिर पर शृङ्ग धारण करते हैं। परन्तु वैदिक यज्ञों में ऋत्विज् लोग मृगशृङ्ग धारण करते थे। शरीर में खुजली आदि के समय इन मृगशृङ्गों का प्रयोग होता था। ऋग्वेद ७।१८।७ मंत्रों में ऋत्विजों का वर्णन है और वहां पर 'विषाणिनः' पद भी पड़ा हुआ है। ये किसी व्यक्ति या उपजाति के सूचक नहीं हैं। यहां पर केवल विषाणधारी ऋत्विज् अभिप्रेत है। यह प्रथा बाद में भ्रष्ट होकर कहां-कहां किस रूप में गई कहा नहीं जा सकता है। परन्तु मोहेन्जो-दारो की सभ्यता को इन आधारों के होते हुये वेद से पूर्व की सिद्ध करना केवल साहस-मात्र है। यह तो आकर पौराणिक काल की बन बैठेगी।

इनकी वर्णमाला अभी तक ठीक पढ़ी नहीं जा सकी। केवल कल्पना को लेकर उड़ान भरी जा रही है। यह पहले दिखलाया जा चुका है। इस आसुरी भाषा वा लिपि को लोग जानते न रहे हों-ऐसी बात नहीं। बौद्धग्रन्थ ललित-विस्तर-माला में ब्राह्मी, खरोष्ठी और आसुरी लिपि का वर्णन है। यावनी भाषा का भी वर्णन किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में मिलता है।

अतः विस्तर में न जाते हुये यह कहा जा सकता है कि मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की सभ्यता आसुरी सभ्यता है और भारत के लोगों को वह परिज्ञात थी। ऐसी स्थिति में उसका समय जो ४००० वर्ष ईसा से पूर्व का कूता जाता है—वह भी इस बात का प्रमाण है कि यदि इस काल को दुर्जनतोषन्याय से स्वीकार भी कर लिया जावे तो यह महाभारत काल के आसपास का ही समय ठहरेगा। पौराणिक धारणा से आगे उसका जाना सम्भव नहीं है। महाभारत का काल पूर्व सिद्ध करके बतलाया जा चुका है कि ईसा से लगभग ३१०२ वर्ष पूर्व का है। महाभारत का काल ज्योतिष के आधार पर निर्णीत है जबकि मोहेन्जो-दारो का समय पुरातत्व की अटकल-बाजियों पर आधारित है। पुरातत्व की कोई भी वस्तु अपना निश्चित समय किसी भी अवस्था में बतला ही नहीं सकती है। साथ ही विकासवाद का पुट उसकी थोड़ी-बहुत उपादेयता को भी समाप्त कर देता है। अतः महाभारत काल के आस-पास की ही यह सभ्यता यदि सिद्ध हो जावे तब भी वेद से प्राचीन न होकर अर्वाचीन

ही, नही नही, अति ही अर्वाचीन ठहरेगी। यहां पर दो विचारधाराओं को दिखला कर यह बतला दिया गया कि मोहेन्जो-दारो और हरप्पा की सभ्यता के आधार पर वेद का काल निर्धारित करना ठीक नही। यदि यह दुस्साहस किया ही जावे तो यह सभ्यतायें वेद से प्राचीन अथवा समकालिक नही हो सकती हैं।

आगे इस दिशा में की जाने वाली खोजें, हो सकता है, आनुमानिक कल्पनावों का भेदन कर वास्तविक रूप सामने ला दे। अतः पूर्व से ही इन पर बड़े-बड़े आधार खड़े करना ठीक नही जँचता है। कुछ विद्वानों ने तो इस सभ्यता को द्राविड़ सभ्यता ही लिख डाला। पुस्तकें छप गईं। परन्तु वास्तविकता अभी खोज का विषय बनी हुई है। मैने अपनी पुस्तक दर्शन-तत्व-विवेक में इस पर विचार किया है जो कुछ काल बाद समय पर प्रकाश में आवेगा।

अध्याय ६

वेद की अन्तःस्थिति की खोज

युगों के विषय में—वेद के काल के विषय मे पूर्व के सम्बद्ध प्रकरण में पर्याप्त लिखा जा चुका है। इस प्रकरण में वेद की कुछ आन्तरिक बातों पर विचार किया जावेगा। वैदिक एज आदि में वेद के कुछ आन्तरिक विषयों पर आक्षेप किये गए है। उनका उत्तर भी यहां इस प्रकरण में दिया जावेगा। मुख्य विषय को उठाने से पूर्व एक विचार युगों के विषय में प्रस्तुत किया जाता है। लोग यह आक्षेप करते है कि कलियुग, द्वापर, त्रेता और कृतयुग की इतनी लम्बी वर्ष संख्या ठीक नहीं। बहुधा लोगों का आक्षेप इस विषय पर हुआ करता है। कई लोग उनकी इस चोट को न सहारकर अपना मार्ग भी बदल बैठे है। परन्तु यहां पर यह कहना आवश्यक है कि युगों की यह संख्या ज्योतिष के सिद्धान्तों के आधार पर है और पूर्ण वैज्ञानिक है। जिनकी दुनियां कुछ सहस्र वर्षों की ही परिधि में चक्कर काटती है उनके लिए यह समय अवश्य बड़ा प्रतीत होता है। जहां ससार की आयु चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की मानी गई हो उसके हिसाब से ये युग ठीक ही हैं। अथर्ववेद का एक मंत्र पूर्व भी वेद के काल का निर्णय करते समय प्रस्तुत किया गया है। यहां भी प्रस्तुत किया जाता है। अथर्ववेद ८।२।२१ का यह मंत्र सृष्टि के एक कल्प की वर्ष-संख्या ४३२०००००० वर्ष बताता है। इतना ही समय प्रलय का भी है। अथर्व १०।७।३ में संसार को एक सहस्र चतुर्युगियों के खम्भों पर खड़ा बतलाया गया है। यजुर्वेद ३०।१८ मे कृत, त्रेता, द्वापर और आस्कन्द-कलि के नाम भी बतला दिये गए हैं। इनकी वर्ष-संख्या मनुस्मृति और सूर्य-सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थों में समान ही दी गई है। सूर्य-सिद्धान्त अध्याय १। श्लोक २९में वतलाया गया है कि एक महायुग अर्थात् चतुर्युगी में सूर्य, बुधशुक के ४३२०००० भगण होते है। यही वस्तुतः चतुर्युगी की भी वर्ष संख्या है। सूर्यसिद्धान्त ३।९मे यह बतलाया गया है कि क्रान्तिवृत्त अपने मार्ग में पूर्व को २७ अंश हटकर फिर जहां से हटा उसी स्थान पर लौटकर आ जाता है। फिर वहां से २७ अंश पश्चिम को हटकर वही पर आ जाता है। एक

महायुग (चतुर्युगी) में ये भगण ६०० होते हैं। इस प्रकार इनका एक कल्प में छः लाख वार चक्कर होता है। इसका दशवां भाग कलियुग है अर्थात् एक कलियुग में यह ६० भगण होता है। इस प्रकार कलियुग की वर्ष संख्या चार लाख बत्तीस हजार वर्ष की होती है। तथा प्रत्येक कलियुग के प्रारम्भ मे सभी ग्रह एक युति में होते हैं। इससे भी कलियुग की सख्या वैज्ञानिक ही सिद्ध होती है। शेष युगों के वर्ष द्विगुण, त्रिगुण और चतुर्गुण करने से बनते हैं।

श्री बाबू संपूर्णानन्द जी ने भी युगों की वर्ष सख्या को वैज्ञानिक ही माना है। वे कहते हैं कि यों तो सब ग्रह जहाँ पर एक समय होते है ठीक उन्ही जगहों पर फिर नहीं आते फिर भी ४३२००० वर्षों मे घूम फिर कर प्रायः उन्ही जगहों पर आ जाते है। बहुत थोड़ा अन्तर रहता है। स्यात् इसीलिए ४३२००० वर्ष को काल का एक बड़ा मानदण्ड माना गया[1] है।

प्रसिद्ध इतिहासकार माननीय एलफिन्स्टन महोदय (भूतपूर्व गवर्नर बम्बई) का कथन है कि "जो समय ब्रह्मा का एक दिन नियत किया गया है वह ज्योतिष विद्या के नियमो पर आश्रित है। नोडिज और अम्पायजर की सर्वागगति जो हिन्दुवों की ज्योतिष गणनानुसार चार अरब बत्तीस करोड वर्ष में समाप्त होती है, ब्रह्मा का एक दिन है।" नोडिज सूर्य-वृत्त के वे अंश वा स्थान हैं जहां पर किसी ग्रहगति की परिधि का कटाव होता है। अम्पायजर नक्षत्रों के उन दो स्थानों को कहते है जो आदि काल में अत्यन्त निकट एवं अति दूर समझे जाते थे और जो अब सूर्य के अति समीप एवं अति दूर समझे जाते हैं—अर्थात् शीर्षतल एवं पदतल। इस प्रकार यह युगों की संख्या वैज्ञानिक ही है। इसमे किसी प्रकार के सन्देह को अवकाश नहीं रह जाता है।

चारों वेदों के काल में भेद नहीं—एक धारणा यह प्रस्तुत की जाती है कि वेदों के विविध भाग भिन्न-भिन्न समयों मे बने। साथ ही चारों संहितायें भी एक काल की नहीं है। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि वेद नित्य ईश्वरीय ज्ञान है। इनका कर्त्ता कोई ऋषि नहीं। ऋषि लोग तो मंत्रार्थद्रष्टा है। ऋषि वेद मन्त्रों के कर्त्ता नही—यह मैं विस्तार से वैदिक-इतिहास-विमर्श पुस्तक मे लिख चुका हूं। यहाँ

1. आर्यों का आदि देश पृष्ठ १०२
2. तारीख हिन्दुस्तान बम्बई, छापा अलीगढ पृष्ठ २५१

लिखने से विस्तार बहुत हो जावेगा। वैदिक एज पृष्ठ ४०१ पर पुस्तक ६ में बाद की संहितावों का समय (The Age of the Later Samhitas) इस नाम से शीर्षक दिया गया है। यह इस बात के लिए पुष्ट प्रमाण है कि वैदिक एज के कर्त्ता संहितावों का भिन्न-भिन्न समय मानते हैं। यहाँ पर इसका निराकरण किया जाता है। ऋग्वेद ५।६२।३० में यजुषा' पद आया है जो यजुः मंत्रों के लिए है। ऋग्वेद १।१६४।३६ में 'ऋचः' से ऋक् का वर्णन है। ऋग्वेद १।१६४।४५ में 'चत्वारि वाक्' से चारों वेदों का भी ग्रहण है। ऋग्वेद ४।५८।३ में 'चत्वारिशृंगा' से चार वेदों का ग्रहण महाभारत काल तथा उसके बाद तक होता चला आया है। ऋग्वेद २।४३।१-२ मंत्रों में 'सामगा' 'साम गायति' का वर्णन है। ऋग्वेद ५।४४।१४-१५ में सामानि और ऋचावों का वर्णन है। ऋग्वेद १।१०८।२ में सामभिः से साम मंत्रों का ग्रहण है। ऋग्वेद १०।९०।९ मे ऋग्, यजुः, साम और छन्दांसि से अथर्ववेद का ग्रहण है। यह मंत्र ऋक् यजुः और अथर्व में भी है। अथर्व में छन्दांसि की जगह छन्दः है। अथर्व वेद १०।७।२० में ऋक्, यजुः साम, और अथर्व चारों का ही वर्णन है। इस प्रकार जब चारों वेदों का वर्णन ऋग्वेद में ही मिल जाता है तो फिर उन्हें पश्चात् का मानने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। समस्त वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में वेद से चार वेदों का ही ग्रहण होता है। साथ ही इनका समान काल माना जाता है। किसी का प्रादुर्भाव आगे पीछे नही माना जाता है। अतः चारों वेदों को भिन्न-भिन्न काल में बना कहना अतथ्यभूत है।

वालखिल्य सूक्त—वैदिक एज पृष्ठ २२९ पर लिखा है कि आठवां मंडल बाद में परिवारों से सम्बन्ध रखने वाले दो से सात मण्डलों के अन्त में जोड़ा गया। यह अष्टम मंडल किसी समय अन्तिम मण्डल था। नहीं तो वालखिल्य सूक्तों को इस में ही क्यों घुसेड़ा गया। १०वें मण्डल के बाद में क्यों नहीं[1] ? यहाँ पर लेखक ने जिन

1. This peculiarity of the eighth Mandala, together with the fact that most of the hymns in Pragatha metre are found in it, does suggest—but by no means proves—that the eighth Mandala was subjoined at a later date to the Kernel constituted by the family—Mandalas. But there is positive reason to believe that there was a time when the eighth Mandala was actually considered to be the last in the Samhita, for why else should the Valkhilya hymns be thrust into the eighth Mandala and not added after the tenth ?

—Vedic Age, 229

शब्दों में अपना विचार प्रकट किया है वे स्वयं ही सन्देह को प्रकट करते हैं । वह स्वयं लिखता है कि परामर्श देते है परन्तु सिद्ध नहीं करते (does suggest--but by no means proves) है । जब यह प्रश्न सिद्ध हां नहीं है तो फिर इस पर इतना बल देने की क्या आवश्यकता थी । परन्तु लग जावे तो तीर नही तो तुक्का, इस न्याय का अनुसरण कर उसने इन पंक्तियों को लिख ही दिया। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि ऋग्वेद अष्टम मण्डल के ४९वें सूक्त से ५९ वें सूक्त तक अर्थात् ११ सूक्त बालखिल्य सूक्त माने जाते हैं। खिल का अर्थ बाद को मिलाना लगाकर इन सूक्तों को परिशिष्ट कहकर लोग यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि ये सूक्त बाद में बालखिल्य ऋषियों द्वारा मिलाये गए। इनके प्रारम्भ में अथ बाल-खिल्यम् और अन्त में इति-बालखिल्यम्' छापने वालों ने भी पर्याप्त सन्देह उत्पन्न कर दिया है। ऐसा छापना सर्वथा ही ठीक नहीं।

ऐतरेय ब्राह्मण की छठी पंजिका के चतुर्थ अध्याय में वज्र ण बाल-खिल्याभिर्वाचः कूटेन" पद पड़े है। इसकी व्याख्या सायण ने इस स्थल पर भाष्य करते हुए गलत की है। उसने लिखा है कि बालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनके सम्बन्ध के आठ सूक्त हैं। वे बालखिल्य नाम के ग्रन्थ में कहे जाते[1] है। सायण की इस गलती को प्रमाण मानकर लोगो ने तरह-तरह की कल्पनायें कर डाली हैं। जैसे सायण की बात बिना सिर पैर की है वैसे ही उस पर कल्पना का नया प्रासाद खड़ा करने वालों की बात को भी समझना चाहिए। जिस स्थल पर सायण यह भाष्य कर रहा है वहाँ पर इसका कोई प्रसंग नहीं है। प्रसंग से बालखिल्य सूक्तों का ऋग्वेदीयसूक्त होना ही सिद्ध होता है। पंडित रघुनन्दन शर्मा आदि जिन लोगों ने इसी वाक्य को लेकर अन्यथा विचार कर लिया वह प्रकरण के अर्थ को बिना लगाए हुए किया। इस प्रकरण मे दोबार ऐतरेय का (वज्र ण बालखिल्याभिर्वाचिः कूटेन) वाक्य आया है। एक बार 'वजे बालखिल्यासूपाप्तो वाच: कूटे' वाक्य आया है। एक बार "वाचः कूटेन" इतना ही वाक्यांश आया है। इससे यहाँ स्पष्ट है कि यह पूर्वोक्त ऐतरेय वाक्य किसी विशेष भाव को बतलाना चाहता है। सायण ने अपनी कल्पना से दूसरा ही एक रास्ता निकाला जो सर्वथा ही असम्बद्ध था।

1. बालखिल्यनामकाः केचन महर्षय. । तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते। सायण-भाष्यम् ।

ऐतरेय में यहां पर अहीन भाग का वर्णन है। इसमें किस दिन कौन से मंत्रों से किस प्रकार पाठ और कृत्य करें—इन सब बातों का वर्णन है। प्रातः सवन में नाभाक तृच् पढ़े जाते हैं। ये मैत्रावरुण "यः ककुभो निधारयः" ऋ ८।४१।४-६, ब्राह्मणाच्छंसी "पूर्वीष्ट इन्द्रोपमातयः" ८।४०।६-११, और अच्छावाक् "ता हि मध्यं भराणा" ८।४०।३-५—ये तृच् हैं। तीसरे सवन में वालखिल्य अज से और "वाचः कूट" एक पद द्वारा बल को खोदकर गायों को पालते हैं। बालखिल्य सूक्त छः है। उनको तीन बारी से पढ़ते हैं। पहले यह पद करके, फिर आधी-आधी ऋचा करके और फिर ऋचा क्रम से। जब पद करके ये मन्त्र पढ़े जाते हैं तो हर प्रणव में एक पद रखे जाते हैं। इस प्रकार के एक पद पांच हैं। चार दशाह से लिए गए हैं और एक महाव्रत से। इत्यादि···जब छः बालखिल्यों को पहली बार पढ़ता है तो प्राण और वाणी का विहार करता है। जब दूसरी बार पढ़ता है तब आंख और मन को मिला देता है, जब तीसरी बार पढ़ता है तो कानों और आत्मा को मिला देता है। इस प्रकार यहाँ पर यह ज्ञात हुआ कि वाल्यखिल्य मंत्रों के पढ़ने का प्रकार यहाँ पर बतलाया गया है। इनमें न यह सिद्ध होता है कि बालखिल्य सूक्त बाद में घुसेड़ दिए गए और न यही सिद्ध होता है कि ये कोई अलग बालखिल्य ऋषियों के द्वारा संगृहीत किए गए एवं रचित कोई संग्रह थे। सायण की कल्पना यहां पर बिना वास्तविकता की है।

"वालखिल्याभिः" का अर्थ यहाँ पर बालखिल्यों द्वारा देखी गई अथवा बालखिल्य सम्बन्धिनी ऋचाओं से युक्त या परिलक्षित है। अज के साथ इसका सम्बन्ध है। 'वाचः कूट' अलग पद है। इसका अर्थ पूर्वोक्त कहे गए पद है जो दशाह और महाव्रत से लिए गए हैं।

यहाँ पर यदि 'बालखिल्यों' को मंत्रद्रष्टा ऋषि माना जावे तो फिर उनके द्वारा दृष्ट ये सूक्त ठहरते हैं। परन्तु जब बालखिल्य का अर्थ अन्य स्वीकार किया जावेगा तब उस सम्बन्धी सूक्त या ऋचायें बालखिल्य कहलावेंगी। ऐतरेय के इसी स्थल पर प्राणों को बालखिल्य कहा गया है।[1] कौषीतकी और गोपथ ब्राह्मण में भी प्राणों को बालखिल्य कहा गया है। पुनः ऐतरेय ५।१५ में कहा गया है अथ वैश्वदेव

1. प्राणा वालखिल्याः। ऐतरेय ६।२६, कौषीतकी ३०।८
प्राणा वै वालखिल्याः। ऐ० ६।२८, गोपथ उत्तर १६।८

शस्त्र के सहचर सूक्तों को यजमान पढ़ता है। वे सूक्त है—नाभानेदिष्ठ, वालखिल्य, वृषाकपि और एवया मरुत्त। यदि इनमें से कोई छूट जाय तो यजमान को क्षति होगी। यदि नाभानेदिष्ठ छूट जावे तो यजमान को वीर्य की क्षति होगी। वालखिल्य छूट जाय तो प्राणों की क्षति, वृषाकपि छूट जाय तो आत्मा की तथा एवया मरुत छूट जाय तो प्रतिष्ठा की। नाभानेदिष्ठ से यजमान वीर्य धारण कराता है। वालखिल्य से आकृति धारण कराता है। कक्षीवान् के सुपुत्र सुकीर्त्ति ने इस सूक्त के द्वारा गर्भ को बच्चा उत्पन्न करने योग्य बनाया। ऐतरेय ५-१५। यह पर सूक्तों का वर्णन द्रष्टा ऋषियों के नाम से किया गया है। परन्तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये दैवतपद या यौगिक अर्थ वाले पद भी हैं। नाभानेदिष्ठ सूक्त से वीर्य का धारण बताया गया है। ऐतरेय ६।२७[1], गोपथ उत्त० ६-८ में रेत को नाभानेदिष्ठ कहा गया है। ऐतरेय ५।१५ में भी। ताण्ड्य २०।६।२[2] मे रेत को नाभानेदिष्ठीय कहा गया है। अतः नाभानेदिष्ठ का अर्थ ही जब रेत है तो उस सूक्त से वीर्य का धारण कराना ठीक है। वालखिल्य का अर्थ प्राण है अतः उससे आकृति का धारण कराना भी ठीक ही है। ऐतरेय ६।२६, गोपथ उत्तरार्ध ६।८ में आत्मा को वृषा-कपि कहा गया है[3] अतः उस सम्बन्धी सूक्त का आत्मा से सम्बन्ध मानना समुचित और सुसंगत ही है। ऐतरेय ब्राह्मण ६।३० में प्रतिष्ठा को एवयामरुत कहा गया[4] है अतः प्रतिष्ठा की संगति भी ठीक ही है। इस ऐतरेय ब्राह्मण की प्रक्रिया का पूरा स्पष्टीकरण हो गया। यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया कि नाभानेदिष्ठ आदि शब्दों का जो यौगिक और दैवत अर्थ बनता है उसी का सम्बन्ध यज्ञ में उस सूक्त से घटाया गया है। इसी प्रकार वालखिल्य का भी यौगिक अर्थ प्राण है—इस में भी सन्देह नहीं रह जाता है। वालखिल्य सूक्त के साथ प्राण का सम्बन्ध यज्ञ प्रक्रिया मे दिखलाया ही गया है। ऐतरेय ब्राह्मण ६।२८[5] में प्रगाथों को और ऐतरेय ६।२६[6]में वालखिल्य ऋचावों को ऐन्द्रय(इन्द्र सम्बन्धी)कहा गया है। इसी प्रकार ताण्ड्य

1. रेतो वै नाभानेदिष्ठ। ऐ ६।२७ गो० उ० ६।८
2. रेतो हि नाभानेदिष्ठीयम्। ता० २०।६।२
3. आत्मा वै वृषाकपिः। ऐ० ६।२६। गो० उ० ६।८
4. प्रतिष्ठा वा एवया मरुत्। ऐत० ६।३०, गो० उ० ६।८,६।
5. प्रगाथा वै वालखिल्याः। ऐ ६।२८
6. ऐन्द्र्यो वालखिल्या (ऋचः) ऐ० ६।२६

२०।६।२ में पशुवों को वालखिल्य कहा गया[1] है। इन प्रमाणों से यह ज्ञात हो जाता है कि वालखिल्य का अर्थ प्राण है, पशु है और इन्द्र देवता से इसका सम्बन्ध है तथा ये प्रगाथ हैं। अतः वालखिल्य सूक्त इनका नाम इसलिये है कि इनमें प्रगाथ है। प्राण, इन्द्र और पशु आदि का वर्णन है तथा यज्ञ में प्राण और पशु आदि की रक्षा के लिए इन सूक्तों का विनियोग किया जाता है। वालखिल्य नाम के ऋषियों ने इनका साक्षात् किया (बनाया वा रचा नहीं) अतः इनको वालखिल्य कहा जाता है। परन्तु मुख्याभिधान इन सूक्तों का वालखिल्य के यौगिक अर्थ और विनियोग के आधार पर है।

ऋग्वेद के वालखिल्य सूक्तों को देखने पर भी ४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, सूक्तों का देवता इन्द्र है, ५५ और ५६ में दान स्तुति है और पशुवों आदि का इनमें वर्णन है। ५७ सूक्त का अश्विनी, ५८ के विश्वेदेव और ५६ वें सूक्त के इन्द्र तथा वरुण देवता हैं। यद्यपि वर्तमान में इन सूक्तों के द्रष्टा ऋषि क्रमशः प्रष्कण्व काण्व, श्रुष्टिगु काण्व, आयुकाण्व, मेध्यकाण्व, मातरिश्वा काण्व, कृश काण्व, पृषध्र काण्व, मेध्यकाण्व, और सुपर्णकाण्व हैं परन्तु यज्ञ के विनियोग के द्रष्टा वालखिल्य लोग हैं। विषय प्राण, इन्द्र, पशु आदि है और यज्ञ में इन्हीं के आधार पर विनियोग है अतः इसी को लेकर इन सूक्तों की प्रसिद्धि भी वालखिल्य नाम से पड़ गई।

प्राण क्यों वालखिल्य कहे जाते हैं इस पर कौपीतकी ३०।८ पर और शतपथ ८।३।४।१ पर एक उत्तम वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है। अब (१४) वालखिल्य सम्बन्धिनी इष्टकावों को रचता है। प्राण ही वालखिल्य है। इष्टकावों का वालखिल्य नाम इसलिए है कि उनका चयन कर यजमान प्राणों को धारण करता है। जो सब फसलों से सम्पन्न दो क्षेत्रों से न छुआ हुआ असस्य क्षेत्र है उसे खिल कहा जाता है। ये प्राण भी शरीर में वाल मात्र व्यवधान से असंभिन्न हैं अतः ये वालखिल्य हैं। इस वर्णन से यह सिद्ध है कि इष्टकावों का नाम भी याज्ञिकों ने वालखिल्य रखा था। यज्ञ में इन सूक्तों का प्राणों के धारण रक्षण आदि कार्यों में अधिक उपयोग होने से इसी याज्ञिक अर्थ के अनुसार इन सूक्तों को वालखिल्य कहा जाता है, न कि किसी के द्वारा परिशिष्ट के रूप में जोड़ देने से ये वालखिल्य हैं।

1. पशवो वालखिल्याः। ता २०।६।२

जब ईंटें भी वालखिल्य हैं और प्राण आदि भी वालखिल्य हैं, तो इन सम्बन्धी ऋचाओं का वालखिल्य होना क्या बुरी बात हो गई। क्या कोई कह सकता है कि ईंटें वालखिल्यों के द्वारा बनाई गई थी इसलिए वालखिल्य कहलाईं ?। यदि नहीं तो फिर वालखिल्य सूक्तों के लिए ऐसी कल्पना करना किस प्रकार सगत कहा जा सकता है। खिल का अर्थ भी यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया है। अत खिल का अर्थ जो परिशिष्ट (Suppliment) किया गया है वह भी ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त इन ब्राह्मण ग्रन्थों से इन सूक्तो की प्राचीनता उतनी ही पुरानी ज्ञात होती है जितनी अन्य सूक्तों की। अतः वालखिल्य सूक्तो को परिशिष्ट वा बाद का मिश्रण कहना वा किसी ऋषि-विशेष का संग्रह कहना सर्वथा ही अनर्गल है।

क्या दशम मण्डल बाद में रचा गया—मैकडानल आदि का विचार था कि ऋग्वेद का दशम मण्डल बाद को बना और जोड़ा गया, ९ मण्डल तक ही पहले ऋग्वेद था। वैदिक एज भी किसी से पीछे क्यों रहे अतः उसमे भी लिखा है कि बहुधा अथर्व के प्रकार का ऋग्वेद का दशम मण्डल बाद में जोड़ा गया।[1] पुनः लिखा है कि 'दशममण्डल प्रथम ९ मण्डलों की अपेक्षा मूल में पश्चात् काल का है। भाषा की साक्षी से यह पूर्णतः निश्चित है।[2]

पाश्चात्य विचारकोने पूर्व से ही एक निश्चित धारणा बना ली है अतः उस लकीर को बराबर पीटते रहते हैं। यही बात वैदिक एज के लेखक ने भी की है। वेद के आन्तरिक रहस्य का ज्ञान तो किसी को है नहीं—अपनी तुक मार रहे हैं। दशम मण्डल और अन्य मण्टलो में कोई भी ऐसा भाषा-भेद नहीं पाया जाता है जो यह सिद्ध कर सके कि दशम मण्डल पश्चात् का है। वैदिकों की परम्परा में ऋग्वेद का दूसरा नाम दाशतयी है। यास्क ने १२।४० 'दाशतयीषु' शब्द का प्रयोग किया है। यह साक्षात् प्रमाण है कि ऋग्वेद मे १० मण्डल सर्वदा ही रहे। अन्यथा दाशतयी नाम का अन्य कोई कारण नहीं। 'त्वाय' से अन्त होने वाला पद केवल दशम मण्डल में ही पाया जाता है यह भी वैदिक एज के कर्त्ताओं का कथन मात्र है। ऋग्वेद ८।१००।

1. The tenth Mandala is manifestly a later addition often Atharvanic in character. Vedic Age. P. 228
2. That the tenth Mandala is later in origin than the first nine is however perfectly certain from the evidence of the language. Vedic Age P 229.

८ में 'गत्वाय' पद आया है जो 'त्वाय' से अन्त हुआ है। 'कृणु' और 'कृधि' प्रयोग भी पहले मण्डलों में पाये जाते है। 'कुरु' का प्रयोग पाया जाना यह नही सिद्ध करता कि यह प्राकृतिक क्रिया-भाग है। प्राकृत का यह प्रयोग है–इसका कोई प्रमाण नही। कृञ् धातु का ही वेद मे कृणु, कृधि प्रयोग भी है और उसी का कुरु भी प्रयोग है। 'पृत्सु' पद का प्रयोग न होने से कुछ बिगड़ता नहीं। "पृतना" पद को भी व्याकरण के नियमानुसार अष्टाध्यायी ६।१।१६२ सूत्र पर पढ़े गए वार्तिक के अनुसार 'पृत्' आदेश हो जाता है। 'पृत्सु' भी निघण्टु में संग्राम नाम में है और पृतना भी (निघण्टु २।१७)। 'पृतनाः' निघण्टु २।३ में मनुष्य नाम में भी पठित है। 'पृतनाः' पद ऋग्वेद १०।२६।८; १०।१०४।१० और १०।१२८।१ में आया है। 'पृतनासु' १०।२६।८; १०। ८३।४ और १०।८७।१६ में पठित है। ऐसी स्थिति में यदि 'पृत्सु' पद का प्रयोग न भी आया तो कोई हानि नहीं। निघण्टु २।३ में 'चर्षणयः' मनुष्य नाम में पठित है। ऋग्वेद १०।६।५; १०।६३।६; १०।१०३।१; १०।१२६।६; १०।१३४।१ और १०।१८०।३ में 'चर्षणीनाम्' पद आया है। १०।८६।१ में चर्षणीधृत पद भी आया है। यदि 'विचर्षणि, प्रयोग नहीं है तो इससे कोई परिणामान्तर निकालने का अवकाश नहीं रह जाता है। ऋग्वेद १०।११११।१ में 'गिर्वणस्युः' पद पढ़ा गया है अतः किसी-न-किसी रूप में उसका प्रयोग विद्यमान ही है। 'गिर्वणस्युः' भी तो गिर्वणस् से ही बना है। शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं और अनेक अर्थों के लिए अनेकों शब्द होते हैं। किसी का प्रयोग किसी का न प्रयोग अन्यथा कल्पना को स्थान नहीं देता है। 'सीम्' का एक ही बार प्रयोग १०वें मंडल में होने से कौनसी युक्ति उसे नवीन सिद्ध करने की निकल आई। अथर्ववेद २०।२२।६; २०।३५।११, २०।७८।२, और २०।६२।३ में सीम् का प्रयोग पाया जाता है। फिर यह कहना कि यह अथर्ववेद को अज्ञात है—सर्वथा भ्रम पैदा करना है। आज्य, काल और लोहित का इस मण्डल में प्रथम प्रयोग होना इसकी नवीनता का कोई हेतु नहीं। क्योंकि सर्पिः, और समय आदि शब्दों के प्रयोग इनके लिए क्रमशः प्रथम मण्डलों में आ चुके हैं। कल संख्याने धातु से काल शब्द बनता है। पूर्व मण्डलों में 'कलयः', 'कला', कलि आदि प्रयोग इस धातु के आ चुके हैं। ऋग्वेद मे यजुः, साम और अथर्व वेदों का वर्णन है, यह पूर्व दिखलाया जा चुका है। अथर्ववेद में काल का वर्णन अनेकों बार आया है। इसी प्रकार लोहित शब्द का भी अनेकों बार प्रयोग अथर्ववेद में आया है। फिर यह बात तो बनती नहीं कि १०वें मण्डल के समय में काल और

लोहित आदि का प्रयोग नहीं है। यह भी नहीं कि ये बाद में गढ़े गये हों। निरुक्त ३।१।५ पर 'लोहित-वामसः' शब्द वाले अथर्व १।१७।१ मंत्र का उद्धरण भी दिया गया है। निघण्टु २।१४ मे 'कालयति' को गत्यर्थक भी इसी आधार पर बताया गया है। इसी प्रकार 'लभ्' का प्रयोग भी अथर्व और यजु में पर्याप्त पाया जाता है। "रोहित' भी तो लोहित अर्थ में प्रयुक्त होता है।

रही बात 'विजय' पद की—वह भी कोई प्रयोजन इन पूर्व-पक्षियों का सिद्ध नही कर सकती है। "विजय" शब्द विपूर्वक 'जय्' धातु से बना है। 'विजयन्ते' क्रिया ऋग्वेद २।१२।९ मंत्र मे पडी हुई है। फिर 'विजय' पद का यदि पहले मण्डलों में प्रयोग नहीं तो दशम मण्डल में उसके प्रयोग से नवीनता की क्या बात आ गई। जय धातु के क्रिया-प्रयोग ऋग्वेद में पचासो स्थलों पर आये है। ऋग्वेद १०।१२८।२ में 'उरुलोक', पद आया है। परन्तु 'लोक' पद न 'उलोक' और न उरुलोक का रूप है। ये सर्वथा पृथक्-पृथक् है। ऋग्वेद ३।३७।११ में 'लोक.' पद आया है। लोकम्, लोकाः, लोके, आदि रूप १०वें मण्डल के अतिरिक्त प्रचुर मात्रा में अन्य मण्डलों में आये है। 'मोघ' शब्द ऋग्वेद ७।१०४।१४ और १५ मंत्रो में भी आया है। दशम मंडल में ही विसर्ग शब्द नही आया है बल्कि ऋग्वेद ७।१०३।६ में भी विसर्ग शब्द है। साथ ही इसी की मूल धातु के रूप 'विसर्जने' पद ५।५६।३ और ८।७२।११ में आया है। 'गुपित' पद १०म मण्डल के ८५, १०६ सूक्त मे आया है। यह 'गोप' का नही बल्कि यह और गोप दोनों ही 'गुप्' धातु के प्रयोग हैं। ऋग्वेद ७।१०३।९ में गुप धातु का प्रयोग 'जुगुपुं.' रूप आया है। गोपा पद तो विविध रूपों में अनेकों बार आया है। पदसूची इसके लिए प्रमाण है। 'सर्व' पद भी "सर्वः" के रूप में ऋग्वेद १।४१।२, ७।४१।५ मे आया है। अन्य पदों का पूर्वभाग बनकर तो अनेकों बार प्रयुक्त हुआ है। 'सर्वा' और सर्वा.' के रूप में १० वें मण्डल की अपेक्षा अन्य मण्डलों में इसका प्रयोग अधिक है। 'सर्वान्' प्रयोग प्रथम, सप्तम और अष्टम मण्डल में ही है। 'सर्वाभ्यः प्रयोग केवल २।४१।१२ में है। 'सर्वासाम्' प्रयोग १।१२७।८ और १।१६१।१३ में है। 'सर्वे' प्रयोग १।१६१।३, ७, ६।७५।१९, और ७।५५।५ में भी है। 'सर्वम् का प्रयोग प्रथम, द्वितीय, तृतीय, सप्तम, अष्टम और नवम मण्डलों में पाया जाता है जो दशम मण्डल मे अधिक है। 'सर्वदा' का प्रथम, पचम और अष्टम मण्डल मे प्रयोग है।

इसी प्रकार 'भगवन्त.' का प्रयोग १।१६४।४०; ७।४१।४, ५ में पाया जाता

है जो १० वें मंडल में हैं ही नही। भगवती भी उसी का स्त्रीलिंग रूप है जो १।१६४। ४० में प्रयुक्त है। भगवान् का प्रयोग १०।६०।१२ में तो है ही परन्तु ७।४१।५ में भी है। 'प्राणः' पद का प्रयोग ऋग्वेद १।६६।१, ३।५३।२१ में ही है। 'प्राणनम्' पद का १।४८।१० मे प्रयोग है। अतः यह कहना कि इसका दशम मण्डल में ही अधिक प्रयोग है, ठीक नही। हृद् और हृदय शब्द एकार्थक हैं। अतः हृद् का प्रयोग अन्य मण्डलों में अधिक है। हृदय पद ६।५३।८ में आया है। 'हृदयविधः' पद १।२४।८ में प्रयुक्त है। 'हृदयस्य' ७।३३।९ और 'हृदया' ६।५३।५, ७ में तथा हृदये' १।१२२।९, ६।९।६, में प्रयोग किये गये हैं।

ऋग्वेद १०।६१।१६ में 'अदुहत्' प्रयोग पाया जाता है। परन्तु ऋग्वेद १।४८।१३ में 'अदूक्षत, और ४।५२।५, ७।८३।३, ८।५।३ और ८।४३।५ में अदूक्षत, का प्रयोग देखा जाता है। स्वरों का अन्तर अवश्य है। इसी प्रकार अधुक्षत् प्रयोग ८।७२।१६, १।३३।१०, और 'अधुक्षन्' प्रयोग २।३६।१, ८।२८।३ और ८।६५। ८ में आये हैं। 'अधुक्षत्' प्रयोग स्वरभेद से ९।२।३ और ९।११०।८ में प्रयुक्त है। 'दुधुक्षन्' प्रयोग जहाँ १०।६१।१० और १०।७४।४ में मिलता है वहाँ यह ज्ञात रहे कि यह ७।१८।४ में भी पाया जाता है। 'वक्षि' प्रयोग १।१४१।१८, २।१।१०, ४।३।६ और ६।१८।१० में विद्यमान है जबकि १० म मण्डल में धक्षतः प्रयोग १०।९।७ में पाया जाता है। इसी प्रकार 'धक्षत्' प्रयोग भी १० वें मण्डल में नहीं है परन्तु अन्य मण्डलों में पाया जाता है। धुक्षत और धुक्षन् आदि भी प्रयोग पाये जाते हैं। इन आधारों को लेकर दशम मण्डल को नवीन कहना साहसमात्र है जबकि उन अन्य मण्डलों में भी ये प्रयोग पाए जाते हैं जिन्हें ये लोग प्राचीन स्वीकार करते हैं।

छर्दि और छदि आदि—वैदिक एज पृष्ठ ३३७ पर छन्दो-रचना के आधार पर जो भाषा का और उच्चारण का भेद बतलाने का प्रयत्न किया गया है वह भी सर्वथा अनुचित है। किसी भी काल में 'पावक' को 'पवाक' नही उच्चारित किया गया। स्वरों का जो प्रकार वेद में पाया जाता है वह शब्द के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। अतः यह कहना कि 'पावक' का पहले 'पवाक' उच्चारण होता था और इस तथ्य को परम्परा की संहिता में दबाने का प्रयत्न किया गया है, ठीक नहीं। इसी प्रकार 'छर्दिः' पद ऋग्वेद में बिना 'र' के पहले था और बहुत सम्भवतः बाद को मिलाने वा संस्कृत करने वालों ने कई स्थलों पर 'छर्दिः' रूप में परिवर्तित कर दिया। परन्तु इतना वर्णन करने पर ऐसा करने के कारणों को लेखक निश्चित नही कर सक।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि 'छदिः' और छर्दिः' दोनों ही शब्द वेदों में गृह अर्थ में पाए जाते है। कोई एक दूसरे का अपभ्रष्ट नही—वल्कि स्वतन्त्र है। निघण्टु में ३।४ छदिः, और छर्दिः—दोनों ही गृहनाम में पठित हैं। ऋग्वेद १०म मण्डल को वैदिक एज के कर्त्ता और दूसरे लोग पश्चात् का बना बताते है। इन पंक्तियों में इसी पर विचार किया जा रहा है। परन्तु इस दशम मण्डल में छदि पद का प्रयोग केवल एक बार अर्थात् १०।८५।१० मे हुआ है। 'छर्दिः' पद का प्रयोग १०।३५।१२ में है और साथ-ही-साथ १।४८।१५, १।११४।५, ४।५३।१, ६।१५।३, ६।४६।६, तथा ४।४६।१२, ६।६७।२, ७।७४।५, ८।५।१२, ८।९।१, १५, ८।१८।२१, ८।२७।४, ८।२७।२०, ८।६७।६; ८।७१।१४ तथा ८।८५।५ में है। 'छर्दिःपो प्रयोग ८।९।११ और छर्दिपः' का ६।६७।११ में है। देखने से यह स्पष्ट है कि 'छदिः' की अपेक्षा छर्दिः का प्रयोग कई गुना अधिक है और जहाँ दशम मण्डल मे 'छदि' का प्रयोग है वहाँ उसी मण्डल में छर्दिः का भी प्रयोग है। फिर यह कहना कि कुछ स्थलों पर 'छदिः' को छर्दिः बना दिया गया होगा—यह कितनी बडी अनौचित्ती है। वेदों में 'छन्दः' की दृष्टि से यदि यह संभावना आपने सोचली है तो और भी बड़ी अनभिज्ञता है। वेदों में अक्षर छन्द है मात्रा छन्द नहीं। अतः जो कल्पना की जा रही है वह किसी भी प्रकार खड़ी नहीं हो सकती।

यह कहना कि 'प्राकृत' बोली का भी कुछ-कुछ रूप अति पुरानी सस्कृत में छिपा था—सर्वथा ही गलत है। 'ह' 'ध' के लिए 'हि' 'धि' के लिए, 'ह', 'भ के लिए, 'ह' 'घ' के लिए, 'अर्ह' 'अर्घ' के लिए और 'दह' धघ् आदि के लिए आना प्राकृत रूप का सूचक है—सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण है। यह वैदिक ही रूप है जो सब जगह व्यापक हो रहा है। प्राकृत में भी सस्कृत से ही ये वस्तुवें आईं—प्राकृत से संस्कृत मे नही गई। प्राकृत भाषा का संस्कृत अथवा वेदवाणी से पूर्व का होना किसी प्रमाण से भी सिद्ध नही है। सप्तम मण्डल मे यदि 'तुम्' और 'तवै' का प्रयोग आपके कथनानुसार नहीं भी हुआ है तो इससे अन्यथा कल्पना करने का अवसर नही रह जाता है। 'तुम्' अर्थात् 'तुमुन्' के अर्थ में वेद मे 'से', 'सेन', असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, और तवेन् प्रत्यय होते है। इनमें से किसी का भी प्रयोग कहीं पर वेद में मिल सकता है। 'तुए', और 'तवै का न होगा तो अन्यों का होगा। इसमें भाषा-विज्ञान की कौनसी युक्ति मिल जाती है जो नवीनता और प्राचीनता का निर्णय दे सके।

ऋग्वेद ६।६७।१ में 'यमतुः' और ६।७२।२ में 'स्कम्भथु." प्रयोगों में अभ्यास को जो द्वित्व नहीं हुआ है वह बहुवचन प्रयोग का अनुकरण नहीं है बल्कि वैदिक अभ्यास द्वित्व वाला भी होता है और बिना द्वित्व वाला भी। यहाँ बिना द्वित्व वाला प्रयोग है। यदि यह माना जावे कि इन धातुवों से वेद में ऐसा ही प्रयोग बनता है तब भी कोई हानि नही। इसी ७२ वें सूक्त में विविदथुः, पप्रथुः, दधथुः जगृभथु., और विव्यथुः प्रयोग है जिन में द्वित्व किया गया है। ऐसी स्थिति में यह कथन करने का क्या अवसर मिल गया कि ये "यमतुः" और 'स्कम्भथुः' बहुवचन के अनुकरण के कारण अभ्यास के द्वित्व होने से रह गए है।

व्याकरण की रचना वेद मे हुई है न कि व्याकरण से वेद की। व्याकरण के नियमों और अपवादों का जब तक परिज्ञान नही है तब तक उसे भाषाविज्ञान से सिद्ध करने अथवा उससे एक नई कल्पना निकाल लेने से कुछ भी बनने का नहीं। यही बात 'तक्षथु.' (ऋग्वेद १०।३६।४) में भी घटती है। ऋग्वेद १०।५।६ में बहुवचन में ततक्षुः। प्रयोग भी है। १।२०।२, ४।३४।६ में भी ततक्षु प्रयोग है। फिर तीसरे वचन के अनुकरण का प्रश्न ही क्या उठता हैं। यहां पर तो तीसरे वचन में ही अभ्यास को द्वित्व पाया जा रहा है। ऋग्वेद २।१६।८ में 'तक्षुः' निमा के आधार पर ये प्रयोग नहीं बने है।

'इन्द्र' को इन्दर कोई अनभिज्ञ ही पढता होगा। ऐसा उच्चारण शुद्ध उच्चारण तो कहा नही जा सकता। थिग्स को कई लोग थिंगस उच्चारण कर देते है परन्तु यह उच्चारण का मान-दण्ड नहीं बनाया जा सकता है। ज्योतिष पद द्युत् धातु से बनता है। परन्तु इसमें कोई प्राकृतपना नही है। 'उष्ट्राणाम्' सदा णकार के साथ ही उच्चारित होता रहा है। यह कभी 'उष्टानाम्' रहा हो यह कहना गलत है। इसी प्रकार 'नीदा' का निज्दा, दूर्लभ का दुज़्दम और षोडश का षष दश कहना भी ठीक नहीं। ये केवल कल्पना की बातें हैं। वेद से पूर्व इनका यह रूप रहा हो। इस बात को कोई विज्ञ व्यक्ति सोच भी नहीं सकता है। 'सूरिः' और 'सूर.' दोनों प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। सूर शब्द भी पाया जाता है। कहीं पर 'सूरि' का 'सूरेः' बन गया है पष्ठी विभक्ति में और कही पर वैदिक प्रयोग 'सूरः' का षष्ठी मे भी सूरः ही है। 'धृष्णवे धीयते धना' (ऋग्वेद १/८१/३) को देकर इण्डो-यूरोपियन भाषा की नई कल्पना नही खड़ी की जा सकती है। 'धना' पद धनम, धने, धनानि किसी के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। यहां पर यह 'धनम्' के स्थान में 'धना' नहीं हुआ है—

इसका क्या प्रमाण है ?। इस प्रकार वेद की अन्तःसाक्षियों के आधार पर भी यह दिखला दिया गया कि वैदिक एज आदि ने जो आक्षेप भाषा की दृष्टि से किये है वे भी निराधार और निर्मूल एवं सर्वथा ही भ्रान्त है। भाषा के आधार पर यह नही बतलाया जा सकता है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल बाद का मिलाया हुआ है। भाषा का भेद दिखला सकना भी असम्भव है। कल्पनावो की उडान मे उडना और बात है भाषा के वास्तविक भेद को सिद्ध कर सकना और बात है।

ऋग्वेद के सूक्तों का क्रम-निर्धारण—ऋग्वेद मे १० मडल हैं और १०२८ सूक्त है। इन सूक्तों की रचना विभिन्न-विभिन्न कालो में नहीं—वल्कि एक ही काल में हुई। मन्त्र तो सभी संहितारूप में परमात्मा की प्रेरणा से चार ऋषियो पर प्रकट हुए। परन्तु मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने सूक्तनिवन्धन का जो कार्य किया वह एक समय में ही किया और बहुत ही वैज्ञानिक ढंग पर किया। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि मन्त्र की रचना किसी ऋषि ने नहीं की है। सूक्त, अनुवाक और अध्याय आदि का निवन्धन ऋषियो द्वारा किया गया। अभी जनवरी १९६४ मे प्राच्यविद्या के विद्वानों का एक सम्मेलन भारत की राजधानी देहली में हुआ। इसमे संसार के विभिन्न भागों से विद्वान् सम्मिलित हुए थे। इसी अवसर पर श्री डा० हरी रामचन्द्र दिवेकर एम. ए. डी लिट् साहित्याचार्य, लश्कर ग्वालियर, द्वारा एक लघुकाय पुस्तिका (Chronology of Rigvedic Hymns) लिखित एवं प्रकाशित की गई। इसमे भी कुछ प्रचलित पाश्चात्य विचारो का ही दृढीकरण किया गया है अतः उस पर भी यहाँ पर कुछ विचार किया जाता है।

लेखक की अपनी कल्पना—अपनी कल्पना की उड़ान में इस पुस्तिका का लेखक तथ्यों की कोई भी चिन्ता नहीं कर रहा है। वह विकासवाद का और भाषा-विज्ञान का ही सहारा लेकर चल रहा है। परन्तु इन दोनो का पहले सम्बद्ध प्रकरणों में निराकरण किया जा चुका है। वह कहता है कि अधिक सूक्त यज्ञ से ही सम्बन्ध रखते[1] हैं। परन्तु यह सर्वथा ही त्रुटिपूर्ण बात है। वेद का अर्थ अधियज्ञ, अधिदैव और अध्यात्मप्रक्रिया में होता है। प्रत्येक वेद मन्त्र के इन तीनों प्रक्रियावों में अर्थ होते हैं। मन्त्रों का जवसे मानव पर प्रकाश हुआ तवसे ही ये तीनों अर्थ मन्त्रों के

1. A majority of these hymns postulate for its composition some form of sacrifice. P. 3

किए[1] जाते रहे। इनके क्रम का कोई पूर्वापर काल नहीं रहा है। मन्त्रों में ही इनके अर्थों के प्रकरण का ज्ञान हो जाता है। महा वैदिक आचार्य यास्क ने इन प्रकरणों पर पूरा प्रकाश अपने ग्रन्थों में डाला है। उसको न जानकर अपनी पृथक् कल्पना करना व्यर्थ में ही वेदज्ञ होने का अभिमान करना है। यास्क तो स्वयं कहता है—"अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" अर्थात् वेद वाणी का अर्थ ही उसका पुष्प और फल है। यज्ञ, दैवत उसके पुष्प फल है, देवता और अध्यात्म भी। इस प्रकार यज्ञ, दैवत और अध्यात्म वाणी के पुष्पफल हैं। यास्क यह अपनी तरफ से नहीं कह रहा है। ऋग्वेद १०।७१।५ मन्त्र में आये "वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्[2]" वाक्य की व्याख्या करते हुए वह कह रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्र ही बतला रहा है कि वेदवाणी के त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ होते हैं। यास्कीय निरुक्त के दैवत-काण्ड और परिशिष्ट में इस पर अधिक पल्लवन किया गया है। उसको न समझकर अपनी गप्प मारना कोई मूल्य नहीं रखता। यज्ञ की कल्पना में ही मन्त्रों की रचना हुई इसका कोई भी प्रमाण वेद से नहीं मिलता है। यदि इस बात को ब्राह्मण और कल्प आदि से पुष्ट किया जाता है तो उन्हीं आधारों से यह त्रिविध प्रक्रिया भी सिद्ध है।

लेखक का कहना है कि 'इदन्नमम[3] की कल्पना, और जब पुनः सन्देह हुआ, कि यह जिनको दिया गया है उन देवों को मिलता भी था नहीं तो अग्नि साधन की कल्पना और सन्देह को और अधिक दूर करने के लिए 'अमुकाय स्वाहा'; 'अमुकाय इदन्नमम' आदि की कल्पनायें हुई। परन्तु वह यह कभी भी नहीं बतला सकेगा कि वैदिक यज्ञ कभी भी किसी भी काल में बिना अग्नि के होते रहे हों। 'इदन्नमम' किसी भी वेद में नहीं आया है। यह वेद का वाक्य नहीं। ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थों का वाक्य है। कल्प और ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के बहुत बाद के है। फिर इन वाक्यों के आधार पर यह किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि वेद मन्त्र इस आधार पर ऋषियों ने बनाये। पहले वेद मन्त्र, पुनः उस आधार पर कर्मकाण्ड में 'इदन्नमम' की कल्पना हुई न कि 'इदन्नमम' को आधार मानकर वेद मन्त्रों की। यही स्थिति 'अमुकाय स्वाहा' की भी। एक बात और भी जानने की है कि यज्ञ-प्रक्रिया में देवता के नाम से जहाँ आहुति दी जाती है वहीं पर यह 'अमुकाय स्वाहा' और 'इदन्नमम'

1. देखें निरुक्त यास्ककृत।
2. निरुक्त १।१९, देखें मेरी पुस्तक 'वैदिकज्योति' का देवताप्रकरण।
3. लेखक की पुस्तिका पृष्ठ ३।४।

का नियम है। ऐसी आहुतियाँ प्रत्येक यज्ञ में थोड़ी हैं। मन्त्रों द्वारा होने वाली आहुतियाँ और कर्म अधिक हैं। इनमें न तो चतुर्थी विभक्ति लगती है और न इदन्नमम' ही बोला जाता है। फिर इन आधारों पर एक वाद खड़े करने का प्रयत्न करना समुचित नहीं। यह ठीक है कि यजुर्वेद में यज्ञ-प्रक्रिया में 'आध्वर्यव कर्म' का वर्णन है। परन्तु उसका गद्य भाग पहले बना हो और बाद में कवितामय भाग बना हो—इस विचार के लिए कोई आधार नहीं मिलता है। यजुर्वेद के भी मन्त्रों में छन्द का होना पाया जाता है। ऋग्वेद में (१०।७१।११) ऋग्वेद से होतृकर्म करने वाले होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा—चारों ही ऋत्विजों का एक साथ ही वर्णन है। इनमें चारों वेदों का भी साथ ही होना पाया जाता है नहीं तो यज्ञ की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती है। अतः यजु के गद्य भाग पहले थे और काव्यकरण बाद में प्रारम्भ हुआ होगा—यह परिणाम निकालना भी गलत है। मीमांसाविज्ञान, कल्प और ब्राह्मण आदि का ज्ञान रखने वाला कोई भी विज्ञ इन और 'इदन्नमम' आदि के आधारों पर ऐसी उल्टी कल्पना नहीं कर सकेगा कि वेदों के मन्त्र यज्ञ (Sacrifice) के लिए रचे गये। यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर ही देवता हुआ करते[1] हैं। फिर 'अमुकाय स्वाहा" से विविध देवताओं के लिए यज्ञ की कल्पना और यज्ञार्थ ही मन्त्र की रचना है यह कल्पना अपने आप सारहीन ठहर जाती है। यज्ञ में 'यजति' क्रिया का क्या अर्थ है, देवता से क्या तात्पर्य है—आदि विषयों को जानने वाला व्यक्ति कभी भी इसका अर्थ सेक्रीफाइस नहीं करेगा। न उल्टी कल्पना ही करेगा।

गायत्री की छन्दोमयी रचना—यजुर्वेद के गद्य भाग को इस प्रकार पूर्ववर्ती बताने के बाद अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४ पर लेखक महाशय लिखते हैं कि "वैदिक विकास की दूसरी अवस्था यह छन्दोमयी स्वाभाविक रचना की है। महाराज त्रिशंकु के राज्यकाल में, महाभारत से ६४ पीढ़ी पूर्व पौराणिक परम्परा के अनुसार—'तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य, धीमहि धियो। यो नः प्रचोदयात्' छान्दस रचना ऋषि विश्वामित्र के मुख से स्वयं निकल पड़ी। यह विश्वामित्र गाथी हैं। ये गाथिन् अर्थात् गाथा में निपुण के वंशज हैं।...यह ही काव्यमय रचना का प्रारम्भ था।... यह ही ब्राह्मणों के वेदारंभ के समय में सर्वप्रथम पढ़ाया जाता था और पढ़ाया जाता

1. मन्त्रेश्वरावेव याजदैवते भवत इति निश्चयः ऋ० भा० भू० पृ० ७१, ८म संस्करण

है। इसके बाद दूसरों ने भी छन्दों की रचना की।"[1] यहाँ लेखक इस प्रकार गायत्री मंत्र से प्रारम्भ करके समस्त ऋग्वेद (होतृवेद) की रचना दिखलाना चाहता है। बाद में यज्ञ में गायन के आधार पर उद्गातृवेद (सामा) की रचना दिखावेगा और इस प्रकार क्रम निर्धारित करेगा। परन्तु यहाँ पर बतला देना आवश्यक है कि यह उसकी मन.प्रसूति भी सर्वथा निरर्थक है। आजकल ऐसे अनर्गल प्रयत्न इसलिए होते रहते हैं कि इन प्रयत्नों के कर्त्ताओं को आसानी से पूर्व प्राच्यविद्याविशारदों में स्थान मिल जावे। दर्शन आदि क्षेत्रों में परिश्रम करना पड़ता है। इस विषय में भाषा-विज्ञान और विकासवाद के आधार हीं पर्याप्त है। अस्तु।

गायत्री छन्द के रचयिता विश्वामित्र नहीं। ये आदि मंत्रकर्त्ता भी नहीं। कोई भी ऋषि मंत्रकर्त्ता नहीं। क्योंकि मंत्र ऋषियों की कृति[2] नहीं। गायत्री मंत्र ऋग्वेद ३।६२।१० स्थल पर है। इस सूक्त में १-१५ मंत्रों तक का ऋषि विश्वामित्र है। १६-१८ तक का ऋषि जमदग्नि वा विश्वामित्र है। यजुर्वेद ३६।३ में भूर्भुवः स्वः" के साथ यह मंत्र आया है। इसका भी ऋषि विश्वामित्र है। यजु ३।३५ स्थल पर इस मंत्र का ऋषि विश्वामित्र है। यजुर्वेद २२।६ पर भी इस मंत्र का ऋषि विश्वामित्र है। ३०।२ पर इस मंत्र का ऋषि नारायण है। सामवेद २।६।३।१०।१ पर भी यह मंत्र है। यहाँ पर इसका ऋषि विश्वामित्र है। यहाँ पर इनमें से कहीं भी यह भाव नहीं निकलता कि गाथी के सुत विश्वामित्र द्वारा गायत्री मन्त्र बना। यहाँ विश्वामित्र नाम तो है परन्तु गाथी विश्वामित्र नहीं। दूसरी बात यह है कि जमदग्नि और नारायण भी ऋषि इस मंत्र के पाए जाते हैं। फिर यह छन्द विश्वामित्र के मुख से निकला, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। सर्वानुक्रमणी में यह अवश्य लिखा है कि कुशिक पुत्र गाथी और गाथी के पुत्र विश्वामित्र ने तृतीय मण्डल के मंत्रों का साक्षात् किया (उन्हें रचा नहीं)

गायत्री विश्वामित्र के मुख से निकल पड़ी इसका वैदिक परम्परा में कोई

1. The second stage of the Vedic evolution, I believe, is mark'd by the spontaneous birth of such a metrical formula in the circumstances which are stated below. In the reign of King Trishanku...... .... rhythmetic sentence Tat Savitur...... spontaneously came out of the sage Vishwamitra's mouth .... This was the beginnig of the art of Verification. —Page 4, 5.

2. देखें मेरी पुस्तक 'वैदिक-इतिहास-विमर्श"

प्रमाणिक वर्णन नहीं मिलता है। दैवत ब्राह्मण ३।२ में लिखा है कि गायत्रोमुखा-दुदपतदिति ह ब्राह्मणम् अर्थात् वेदराशि को शब्दायमान करने वाले प्रजापति के मुख से यह आई, अतः इसका नाम गायत्री है। निरुक्त में भी यही प्रमाण इस विषय में मिलता है। फिर विश्वामित्र के मुख से यह छन्द स्वच्छन्दता से निकल पड़ा—यह कहना सुष्ठु और युक्तियुक्त नही। जहाँ तक गायत्री आदि छन्दों का सम्बन्ध है—इनकी उत्पत्ति प्रजापति=परमेश्वर से ही ऋग्वेद १०।१३० सूक्त मे मानी गई है।

वेदारम्भ के समय मे गायत्री मंत्र का जो उपदेश होता है उससे इस तथ्य पर कोई प्रकाश नही पड़ता है। चूंकि यह गायत्री है और विश्वामित्र के मुख से निकली है—इस दृष्टि से तो वेदारम्भ में इसका उच्चारण कराया नहीं जाता है। गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध १।२ में आया है कि वेद और छन्द सवितृ के वरेण्य हैं। वेदारम्भ में वेद का आरम्भ होता है इसीलिए यह मंत्र आचार्य द्वारा पढ़ाया जाता है। सवितुर्वरेण्यम् से वेद अभिप्रेत हैं अतः इस मन्त्र का प्रकरण के अनुसार आचार्य द्वारा उपदेश है।

यहाँ पर यह कहना समुचित है कि वेद-मंत्रों को किसी ऋषि ने नहीं बनाया है। ऋषि तो केवल मंत्रद्रष्टा है। महाराज त्रिशंकु के समय में विद्यमान विश्वामित्र की तो बात ही क्या ?—गायत्री मन्त्र ब्रह्मा और मनु के समय में भी विद्यमान था।

सूक्तों का कालक्रमिक अनुबन्ध—इस पूर्व कथित लघु पुस्तिका में श्री दिवेकर जी ने मंत्रों की रचना के क्रम को सात क्रमों में बांटा है। उनके अनुसार सात क्रम निम्न प्रकार हैं।—

१. विश्वामित्र युग—६४ पीढ़ी महाभारत पूर्व
२. भरद्वाज युग —६०-४५ ,,
३. कण्व युग —४५-३७ ,,
४. अत्रि युग —३७-३२ ,,
५. वसिष्ठ युग —३२-२८ ,,
६. वामदेव युग —२८-२० ,,
७. शौनक युग —

इस तालिका को देने के बाद वह पुनः कहता है कि विश्वामित्र[1] के पूर्व कोई सूक्त नहीं बने थे और न कोई सूक्त शौनक युग के बाद बने। महाभारत कालिक वेदव्यास के द्वारा संहितावों के वर्गीकरण के बाद कोई परिवर्धन नहीं हुआ।

यहां पर इस अनिष्टकारी धारणा पर विचार किया जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्मा देवों में प्रथम था। उसने उपनिषद् की ब्रह्मविद्या को अथर्वा को पढ़ाया। यहां पर जो क्रम दिया गया है वह क्रमिक नहीं बल्कि उसकी एक शृंखला के मध्य में अन्य कई युग व्यतीत हो गए हैं[2]। इस उपनिषद् से निम्न तालिका बनती है :—

ब्रह्मा
अथर्वा
अंगिरः
भारद्वाज सत्यवाह
अंगिरस्
शौनक

यह शौनक बहुत ही प्राचीन है। जब ब्रह्मा के समय में यह उपनिषद् संबन्धी ज्ञान मौजूद था और इसमें वर्णित वेद भी उपस्थित थे तो फिर विश्वामित्र से मंत्र रचना प्रारम्भ हुई, इसका कोई तात्पर्य नहीं रह जाता। यदि इन्हीं कड़ियों के बीच में लेखक की तालिका को भी मान लिया जावे तब भी वेदमन्त्रों की विद्यमानता विश्वामित्र से अत्यधिक पूर्व की बन जाती है। इस उपनिषद् में यह भी लिखा है कि वेद मन्त्रों में जिन कर्मों को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने देखा उनका त्रेतायुग में बहुत विस्तार था।

यहां पर एक बात और भी विचारणीय है जो प्रस्तुत की जाती है। ऋक्-सर्वानुक्रमणी के अनुसार निम्न बातें मिलती हैं—

१. जो आंगिरस शौनहोत्र होकर भार्गव शौनक हुआ उस गृत्समद ने दूसरे मण्डल को देखा।

२. स्वैर्वीरथि कुशिक ने इन्द्र के तुल्य पुत्र की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन किया। उनके इन्द्र ही गाथी नामके पुत्र उत्पन्न हुए। गाथी के पुत्र विश्वामित्र ने तृतीय मण्डल को देखा।

---

1. As there exists no hymn belonging to an age before Vishwamitra there is also no hymn composed after the Saunaka Age. No addition was made after classification of Vedic Samhitas by Krishna Dvaipayan....... ...etc. —Page II.
2. देखें मेरी पुस्तक दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश। इससे सम्बद्ध विषय

३. गौतम वामदेव ने चतुर्थ मण्डल को देखा। वार्हस्पत्य भारद्वाज ने छठे मण्डल को देखा। सातवें मण्डल को वसिष्ठ ने देखा।

यहाँ पर तीसरे क्रम में सर्वानुक्रमणीकार ने लिखा है कि गाथी के पुत्र विश्वामित्र ने तृतीय मण्डल को देखा। उसने यह नहीं लिखा है कि बनाया। अतः यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ के अनुसार विश्वामित्र तृतीय मण्डल का द्रष्टा है। परन्तु गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग ६।१ में लिखा है कि विश्वामित्र[1] ने जिन सपात सूक्तों को देखा था उन्हीं को वामदेव ने देखा। आजकल इन सपात सूक्तों का ऋषि भी विश्वामित्र नहीं, वामदव है। ये सम्पात ऋचायें—एवा त्वामिन्द्र ऋ ४।१६।१-११; यन्न इन्द्र जुजुषे यच्च वष्टि''' ऋ४।२२।१-११; और कथा महामवृधत् कस्य होतुः''' ऋ० ४।२३।१-११—है। इस प्रमाण से यह सिद्ध है कि इनका ऋषि पहले विश्वामित्र था और अब विश्वामित्र का इन पर नाम भी नहीं है और इनका ऋषि वामदेव है। सर्वानुक्रमणी का प्रमाण विश्वामित्र को तृतीय मण्डल का द्रष्टा बताता है— इस चतुर्थ मण्डल का नहीं। वह गौतम वामदेव को चतुर्थ मण्डल का द्रष्टा बताता है।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र सपात ऋचावों का भी द्रष्टा है और बाद का द्रष्टा वामदेव है। वामदेव सपात ऋचावों का द्रष्टा है और सर्वानुक्रमणी के अनुसार चतुर्थ मण्डल का भी द्रष्टा है। वर्तमान में वह संपातों का ऋषि है। विश्वामित्र का नाम तक भी नहीं। अब यदि दिवेकर जी की कल्पना को मान लिया जावे तो कई कठिनाइयाँ आ पड़ती है। उनके अनुसार विश्वामित्र-युग महाभारत से ६४-६० पीढ़ी पूर्व है। वामदेव युग २८-२० पीढ़ी है। चूँकि वामदेव इन सपातो का ऋषि है अतः ये वामदेवयुग के ठहरेंगे। परन्तु विश्वामित्र ने इन्हें पूर्व ही देखा था अतः ये विश्वामित्र युग के ठहरेंगे। श्री दिवेकर जी ही निश्चित रूप से बतावें कि ये किस युग के माने जावें। यदि विश्वामित्र युगीय सपातों को माना जावे तो ये वामदेव-युग की रचना नहीं रह जाते क्योंकि वामदेव से पूर्व ही नहीं बहुत पूर्व विद्यमान थे ; फिर वामदेव ने इन्हें रचा यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता है। यदि ये वामदेव-युग के हैं और दिवेकर जी के अनुसार वामदेव इनका कर्ता है तो फिर ये विश्वामित्र के युग में किस प्रकार विद्यमान थे। ऐसी है समस्यायें जिनका कोई भी समाधान दिवेकर जी की कल्पना नहीं दे सकती है।

1. तान् वा एतान् सपातान विश्वामित्रः प्रथममपश्यत् ''''''
विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत। गो० उ० ६।१

इतने पर ही बात समाप्त नहीं हो जाती है। गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग ६।१ पर आगे यह भी लिखा है कि विश्वामित्र ने सोचा कि जिन संपात ऋचाओं को मैंने देखा था उनका साक्षात्कार वामदेव ने भी कर लिया तो अब मैं उन संपात ऋचाओं के समान दूसरी संपात ऋचाओं का साक्षात्कार करूँ। अतः उन्होंने "सद्यो-जातः ऋ० ३।४८।१-५, उदु ब्रह्माण्यैरत ऋ० ७।२३ १-६, तथा अभितष्टेव० ऋ० ३।३८।१-१०—सम्पात ऋचाओं का साक्षात् किया। गोपथ ब्राह्मणकार लिखता है कि इन ऋचाओं के द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र है। 'सद्यो ह्जातः। ३।४८।१-५ का ऋषि वर्तमान में विश्वामित्र अंकित है परन्तु ७२।२३।१-६ का ऋषि वर्तमान में वसिष्ठ और ३।३८।१-१० का ऋषि प्रजापति है। यहाँ पर यह कैसी विचित्रता है कि विश्वामित्र स्वय कह रहा है कि जिन संपातों का दर्शन मैंने किया है उनका वामदेवने कर लिया अतः अब दूसरी संपात ऋचाओं का मैं दर्शन करूँ और इन पूर्वोक्त ऋचाओं के अर्थ का उसने साक्षात्कार किया। इससे यह ज्ञात होता है कि विश्वामित्र के ही काल में वामदेव मौजूद था। अतः विश्वामित्र युग और वामदेव युग की जो कल्पना श्री दिवेकर जी ने की है.वह सर्वथा ही निराधार हो जाती है। इसके अतिरिक्त जब विश्वामित्र सर्वानुक्रमणी के अनुसार तृतीय मण्डल का द्रष्टा है (और श्री दिवेकर जी कर्त्ता कहेंगे) तो फिर सप्तम मण्डल जो वसिष्ठ के द्वारा दृष्ट है उस मंडल के मंत्र का ७।२३।१-६ का द्रष्टा कैसे हो गया। यदि होना ठीक है तो विश्वामित्र युग और वसिष्ठ युग की कल्पना कैसे खड़ी रह सकेगी। इसी प्रकार विश्वामित्र के द्वारा दृष्ट मण्डल के ३।३८।१-१० का द्रष्टा प्रजापति कैसे हो गया। इस प्रकार इन बातों का विचार करने पर यह भव्य भवन अपने आप गिर जाता है कि ऋषि लोग मंत्र-कर्त्ता हैं और इन्होंने ही मंत्रों को बनाया।

आगे उसी स्थल पर ब्राह्मणकार ने ऋग्वेद ३।३४।१-११ (इन्द्रः पूर्भिदा-तिरत्); ऋग्वेद ६।२२।१-११ तथा ७।१६। १-११ (यस्तिग्मशृंगः) सूक्तों का वसिष्ठ ऋषि लिखा है। संप्रति इनमें ३।३४।१-११ विश्वामित्र, ६।२२।१-११ के बार्हस्पत्य भरद्वाज और ७।१६।१-११ के वसिष्ठ ऋषि लिखे गए हैं। पुनः ऋग्वेद ३।३६।१-६ (इमामूषु); ३।३० ।१-२२ (इच्छन्ति त्वा सोम्याः), ३।३१। १-२२ (शासद्वह्निः) का भरद्वाज ऋषि गोपथ ने माना है। परन्तु वर्तमान जो लेख है उससे इन सूक्तों का ऋषि विश्वामित्र है। इन दोनों प्रमाणों से यह सर्वथा ही प्रकट और सिद्ध हो

जाता है कि न ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता हैं और न मन्त्रों की भिन्न-भिन्न समयों में रचना ही हुई है। श्री दिवेकर जी की सारी योजना धराशायी हो जाती है।

शौनक युग सबसे बाद का है। यह उक्त लेखक के अनुसार महाभारत से २० पीढ़ी पूर्व से महाभारत तक का काल है। यह लेखक और पाश्चात्य विचारधारा के लोग यह भी मानते है कि ऋग्वेद का दशम मण्डल ही सबसे बाद का है। ऐसी स्थिति में इनकी विचारधारा के अनुसार (अपनी के अनुसार नहीं) यह परिणाम निकाला जा सकता है कि दशम मण्डल ही इस युग का होगा क्योंकि वही इनकी दृष्टि मे सबसे बाद का है। दुर्जनतोष-न्याय से यह मान कर चलते हुए भी श्री दिवेकर जी की प्रक्रिया ठीक नहीं उतरती। दशम मण्डल के ५५वें सूक्त का ऋषि वामदेव का पुत्र बृहदुक्थ है। वही ५६वें सूक्त का भी ऋषि है। ११वें सूक्त का ऋषि विश्वामित्र का पुत्र अष्टक है। १२२वें सूक्त का ऋषि वसिष्ठ का पुत्र चित्रमहा है। १२६वें सूक्त के ऋषि सौभरि का पुत्र कुशिक और भरद्वाज की पुत्री रात्रि हैं। १५०वें और १८२ सूक्तों के क्रमशः वसिष्ठ पुत्र मृळीक और भरद्वाज के पुत्र ग्रास है १६७वें सूक्त के ऋषि विश्वामित्र और जमदग्नि है। तथा १८१ वें सूक्त के ऋषि प्रथ वसिष्ठ हैं। श्री दिवेकर जी के युगों की तालिका से इन का समन्वय नहीं बैठता है। जब इन सूक्तों के ऋषि ही इतने प्राचीन है तो फिर दशम मण्डल नवीन कैसे है।

दशम मण्डल के ६१वे और ६२वे सूक्त का ऋषि मनु का पुत्र नाभानेदिष्ठ है। ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४, तैत्तिरीय शाखा ३।१।६, मैत्रायणी शाखा १।५।८ में यह उल्लेख है कि मनु ने इन सूक्तों को नाभानेदिष्ठ को उसके गुरुकुल से लौटने पर दाय भाग मे दिया। इससे यह सिद्ध है कि मनु के समय में ये सूक्त विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में ये विश्वामित्र युगों आदि से भी प्राचीन ठहरेंगे। फिर यह कहना कि दशम मण्डल नवीन है—यह ठीक नही। इस प्रकार विचार करने के उपरान्त यह परिणाम निकलता है कि यह जो एक नवीन पद्धति वेदमन्त्रों के काल के विषय में निकाली गई है—इसका भी कोई आधार नही। वामदेव का वर्णन सांख्य दर्शन मे मिलता[1] है। सांख्य दर्शन कपिल ऋषि की रचना है। यह कृतयुग के काल के व्यक्ति है। इससे वामदेव की अति प्राचीनता सिद्ध है परन्तु श्री दिवेकर जी ने २० पीढ़ी पूर्व से महाभारत तक के समय का बनाया है। इस प्रकार के अनेक विरोध

1. सांख्य ४।२० तथा १।१५७

हैं जिनका कोई समाधान नहीं बन सकता है। श्री दिवेकर जी की कल्पनायें किसी पुष्ट आधार पर नहीं हैं। उन्हें इतना तो समझना चाहिए था कि दशम मण्डल के जिस सूक्त को वे स्वयं समझ के बाहर समझ रहे हैं और उसकी उपमाओं को हास्यास्पद कह रहे हैं उसी सूक्त के कठिनतम मंत्र का अर्थ महाभारत-कालिक यास्क ने अपने निरुक्त में कर दिया है। इसी मन्त्र के शब्दों को लेकर सन्देह भी उठाया गया है और यास्क ने उसका भी उत्तर दे दिया है। वेद में हीनोपमायें भी प्रयुक्त हैं। उनको न जानकर हास्यास्पद कहना अनभिज्ञता का सूचक है।

अन्त में श्री लेखक महोदय अपनी प्रतिज्ञाओं को सिद्ध करने में एक विचित्र युक्ति देते हैं। वे कहते है कि यह प्रायोजन उन्होंने ५ से अधिक दशतियों पर्यन्त दृढ़ और गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त लिखा है। परन्तु उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि तर्क और विद्या की दुनियाँ में ऐसी उक्तियों का कोई विशेष मूल्य नहीं होता है।

ब्रह्मा
|
वसिष्ठ
|
शक्ति
|
पराशर
|
कृष्णद्वैपायन

यह एक वंश-परम्परा है जो ब्रह्मा से लेकर व्यास तक की है। ब्रह्मा के समय मे चारों ही वेद मौजूद थे। फिर वसिष्ठ युग में मंत्रों की रचना मानना कहाँ तक ठीक हो सकता है।

श्री महाशय मैकडॉनल अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि दशम मण्डल में मन्यु और श्रद्धा जैसे अमूर्त विचारों की अधिकता, विश्वेदेवों की प्रधानता का होना और उषा देवी का मान कम होना दिखाई पड़ना—प्रकट करते हैं कि यह मण्डल नवीन[1] है। यद्यपि मैकडॉनल का तर्क कोई तर्क नहीं है फिर भी यहाँ पर यह दिखला दिया जाता है कि उनकी धारणा प्रामाणिक नहीं है। अन्य मण्डलों की

1. Mac Donell's Sanskrit Literature Page 4[illegible]-45

है कि कोई भी बात इसमें ऐसी नहीं है जो अथर्ववेद की यहाँ पर ही समाप्ति की सूचना देती हो। फिर भी उससे इस प्रकार की बात निकालना या तो अनभिज्ञता को सूचित करता है या केवल हठ और कल्पना को।

अथर्व १६।६८।१ में भी इसी प्रकार के भाव एक मंत्र मे निबद्ध हैं। क्या वहाँ पर ही अथर्ववेद की समाप्ति स्वीकार कर ली जावे ?। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—व्यापक[1] और अव्यापक तत्वों के रहस्य को बुद्धि से खोजता हूँ और उनसे वेद अर्थात् ज्ञान को लेकर कर्मो को करता हूँ। इसी प्रकार उस पूर्व मंत्र का भी भाव है। इनसे किसी प्रकार की समाप्ति की सूचना नही मिलती है। पदपाठ का न होना भी कोई हेतु नहीं है।

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का ब्राह्मण है। इसका समय महाभारत का समय है। यह समय आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व का है। पहले इस पर प्रसंगतः विचार किया जा चुका है। ऐतरेय ब्राह्मण की छठो कण्डिका में इन अथर्ववेदीय २०वें काण्ड के सूक्तों का वर्णन मिलता है। षडह के छठें दिन ३२ वीं कण्डिका में रैभी मंत्रों अर्थात् अथर्ववेद २०।१२७।४ का पढना लिखा है। पुनः परिक्षिति २०।१२७।७-१० का पढ़ना लिखा गया है। परिक्षित का अर्थ अग्नि, संवत्सर बतलाया गया है। पुनः अथर्व २०।१२७।११-१४ 'कारव्या' मन्त्रों का पाठ कहा गया है। देवों ने जो कल्याणकर्म किया वह कारव्या के द्वारा किया, अतः यह 'कारव्या' हैं। ये यजमान के लिए कल्याण के दाता हैं। पुनः 'दिशां क्लृप्ती' २०।१२८।१-५ मंत्रों, प्रतिष्ठा के लिए होता जलकल्प (२०।१२८।६-११) मंत्रों, इन्द्रगाथा (अथर्व २०।१२८।२-१६) मंत्रों को पढ़ता है। ३३वीं कण्डिका में ब्राह्मणाच्छंसी ऐतशप्रलाप पढ़ता है। इसका द्रष्टाऋषि ऐतश है जो 'अग्नेरायुः अर्थात् अग्नि के जीवन मंत्रों का द्रष्टा है। ये मन्त्र अथर्व २०।१२६।१ में हैं। ऐतश-प्रलाप जीवन है, ऐतशप्रलाप का अर्थ छन्दों का रस है। ऐतश-प्रलाप के और भी अर्थ यहाँ पर दिये गये हैं। पुनः वह प्रवह्लिका मंत्रों (अथर्व २०।१३३।१-६), आजिज्ञासेन्या मन्त्रों (२०।१३४।१-४), प्रतिराध मंत्रों (२०।१३५।१-३), अतिवाद मन्त्रों (२०।१३५।४) तथा देवनीथ (२०।१३५।१-१७) मंत्रों को पढ़ता है। इसी प्रकार कण्डिका को समाप्त करते हुये—

1. अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया।
   ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥

अथर्व १६।६८।१

अथर्व २०।१३५।७; २०।१३५।८; २०।१३७।३; २०।१३६।१-१० मंत्रों का भी विनियोग बतलाया गया है। जब इतने प्राचीन समय में ये मंत्र विद्यमान थे तो इन्हें नवीन कहना केवल दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। यहाँ पर २०वें काण्ड में अथर्व-वेद में जो 'परिक्षित' पद आया है वह ऐतरेय के अनुसार सम्वत्सर का अर्थ देने वाला है। कुरु पद का अर्थ निघण्टु में ऋत्विक् है। अतः ऋत्विक्कर्म करने वाला वा तत्सम्बन्धी पदार्थ भी कौरव्य कहा जाता है। १६वें काण्ड के अन्तिम मंत्र का वर्णन अपनी युक्ति के लिए वैदिक एज के लेखक ने किया है। परन्तु वहाँ पर मंत्र में तो वेद का परमात्मा से प्रकट होना बतलाया गया है। यदि वह इस बात को भी स्वीकार कर ले तो वेद के ईश्वरीय मान लेने पर यह सारा झगड़ा ही समाप्त हो जावे। लेखक महोदय अपने कार्य के लिए मंत्र का हवाला देते हैं तो फिर मंत्र में वर्णित विषय को भी मानना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक एज की ये सारी कल्पनायें निराधार हैं।

यजुर्वेद—वैदिक एज के लेखक का कहना है कि "यह[1] बहुधा समझा जाता है कि कृष्ण यजुर्वेद जो सर्वथा ब्राह्मण और मंत्रों से मिश्रित है शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन है। इस शुक्ल यजुर्वेद में मंत्र और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् हैं और स्यात् ऋग्वेद के प्रकार के अनुरूप ऐसा किया गया है।" कृष्ण यजुर्वेद शुक्ल की अपेक्षा प्राचीन है—यह भी गलत है। यदि कोई कहे—जैसा कि श्री दिवेकर जी मानते हैं कि पहले गद्यमयी रचना थी और बाद में छन्दोमयी हुई तो यह सर्वथा ही निराधार है क्योंकि अपने को स्कालर कहने वाले सभी ऋग्वेद को सर्वप्राचीन मानते हैं, परन्तु उसमें कहीं पर भी गद्य भाग है ही नहीं और सबसे नवीन अथर्ववेद को ये लोग बतलाते हैं, उसमें भी कहीं पर गद्यमयी रचना नहीं है। फिर यह गद्यमयी रचना जब प्राचीन में भी नहीं और नवीन में भी नहीं तो किस प्रकार इस आधार पर कृष्ण यजुर्वेद को प्राचीन कहा जा सकता है। यह कहना भी त्रुटिमय है कि शुक्ल यजुर्वेद में ब्राह्मण और संहिता पृथक्-पृथक् है। शुक्ल यजुर्वेद में ब्राह्मण है ही

---

1. It is generally assumed there-fore that the Black Yajurveda, with Mantra and Brahmana mixed up throughout is older than the white Yajurveda in which the Brahmana was separated from the Samhita perhaps in imitation of the Rigvedic model.

Vedic Age P.312

नहीं तो फिर पृथक अथवा मिश्रित होने का क्या प्रश्न उठता है। कृष्ण-यजुर्वेद-अभिधान जिनके लिए वर्ता जाता है वे सभी शाखायें हैं। उनमें ब्राह्मण और मंत्र-दोनों का होना अथवा न होना कोई तात्पर्य नहीं रखता है। वे तो हैं ही मानुष। कृष्ण-शुक्ल भेद का कारण कर्मकाण्ड को दृष्टि में लेकर मालूम पड़ता है। दर्श और पौर्णमास को आधार लेकर यह भेद खड़ा किया गया होगा। किसी को आगे किसी को पीछे करके यह बात खड़ी की गई होगी। शुक्ल-यजुर्वेद में ब्राह्मण नहीं है। यजुः सर्वानुक्रमणी को आधार मानकर लोगों ने ऐसा भेद खड़ा कर रखा है। परन्तु इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता ही सशयास्पद है। जब यह ग्रन्थ ही प्रामाणिक नहीं तो फिर इसमें कही गई बातों की क्या प्रामाणिकता हो सकती है।

सर्वानुक्रमणी के अनुसार यजुर्वेद का समस्त चौबीसवां अध्याय और पच्चीसवें-अध्याय में 'शादं दद्भिः, पर्यन्त भाग ब्राह्मण भाग माना गया है। परन्तु शबर स्वामी-आदि मीमांसकों ने इन्हें मंत्र ही माना है। किसी ने भी इन्हें ब्राह्मण नहीं माना है। मीमांसा सूत्र २।१।३१ के भाष्य में शबरस्वामी लिखते[1] हैं कि यह प्रायिक लक्षण है। अनभिधायक भी मंत्र कहे जाते हैं—'जैसे' वसन्ताय कपिञ्जला-नालभते।' इसी प्रकार सर्वानुक्रमणी में १९वें अध्याय के १२-३१ पर्यन्त को ब्राह्मण भाग कहा गया है परन्तु शिक्षा वेदाङ्ग में उपलब्ध वासिष्ठी शिक्षा में इन सबका उद्धरण देकर इन्हें ऋक् और यजुः कहा गया है और यह मीमांसा के लक्षण के समान लक्षण पर आधारित है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के प्रारम्भ से लेकर पच्चीसवें अध्याय की नवम कण्डिका पर्यन्त (अश्वस्तूपरो···शादं दद्भिः) ब्राह्मण भाग है जबकि वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार इन सबको यजुः माना गया है। इसी प्रकार ३०वें अध्याय की ५वीं कण्डिका (ब्रह्मणे ब्राह्मणम्) से लेकर अध्याय के अन्त तक समस्त भाग ब्राह्मण है। परन्तु वासिष्ठी शिक्षा[2] के अनुसार यह समस्त भाग यजुः है। वासिष्ठी शिक्षा से स्वर के प्रकार आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार शुक्लयजुर्वेद में ब्राह्मण का होना ही नहीं पाया जाता है। एक प्रमाण श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि ने अपने लेखों में बृहदारण्यक के पुरातन भाष्यकार द्विवेदगङ्ग का दिया है। उसके अनुसार शुद्ध यजुः शुक्ल-यजुर्वेद के मंत्र हैं जो ब्राह्मणों से अमिश्रित हैं और जो ब्राह्मण-मिश्रित हैं वे कृष्ण हैं। इस प्रमाण से यह सिद्ध है कि

---

1. तच्चोदकेषु मंत्राख्या (मी० २।१।३१) प्रायिकमिदं लक्षणम्। अनभिधायका अपि मंत्रा इत्युच्यन्ते। यथा वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते। शाबरभाष्य।
2. यह ग्रन्थ अन्य शिक्षाग्रन्थों के साथ मेसर्स ब्रजभूषणदास एण्ड कं० बनारस से सन् १८८९ में छपा है।

शुक्ल यजुर्वेद अर्थात् यजुर्वेद संहिता में ब्राह्मण भाग नहीं है। जो लोग उसमें ब्राह्मण भाग की कल्पना करते हैं गलती करते हैं। वैदिक एज का लेखक पृष्ठ ४१६-४१७ पर लिखता है कि पाणिनि को इस यजुर्वेद का परिज्ञान नहीं था। परन्तु यह सर्वथा ही भ्रम है। मैंने अपनी पुस्तक दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश में इस पर विचार किया है जो वेद विषय में लिखा गया है। पाणिनि ने ब्राह्मण का प्रयोग १ वार, संहिता का प्रयोग ३ वार, छन्दोब्राह्मण का प्रयोग १ वार, ऋक् का प्रयोग एक वार किया है और ६।१। ११७ में 'यजुः' पद का प्रयोग है। पाणिनि के अष्टक में 'यजुष्युरः ६।१।११७, यजुष्येकेषाम् ८।३।१०४ में यजुः का प्रयोग पाया जाता ही है। पुनः "देवसुम्नयोर्यजुषि काठके" प्रयोग करने से सुतराम् यजुः और काठक आदि का भेद सिद्ध हो जाता है। अतः यह भी कथन सारहीन और तथ्यहीन है कि पाणिनि को यजुः का परिज्ञान नहीं था।

यह भी एक-विचारणीय बात है कि यदि पाणिनि के सूत्रों में ऐसी कोई बात न होती तो उन सूत्रों का भाष्यकार पतंजलि अपनी तरफ से कैसे ऐसी चीजों को अपने भाष्य में स्थान दे देता। भाष्यकार ने पाणिनि को जितना समझा था ये लेखक लोग उसका सहस्रांश भी क्या, किंचिन्मात्र भी नहीं समझते हैं। महाभाष्यकार ने इन शाखावों को जिनमें कृष्ण यजुर्वेद का सारा ही समुदाय आ जाता है मानुष और अनित्य छन्द वाली माना है जब कि संहितावों के छन्द को नित्य माना है। जब पाणिनि संहितावों के छन्दों को नित्य मानता है[1] तो पाणिनि का हवाला देने वालों को भी यह मानना चाहिए था। यह स्वीकार कर लेने पर सारी अनर्गल योजना ही समाप्त हो जाती।

सामवेद—सामवेद के विषय में भी वैदिक एज के लेखकों का मत दे देना आवश्यक है। वैदिक एज ने सामवेद का लगभग वही रूप स्वीकार किया है जो श्री पं० सातवलेकर जी मानते हैं। उसी प्रकार मन्त्रों की संख्या भी स्वीकार की गई है। इस पुस्तक में लिखा गया है कि "गाने के रूप में प्रयुक्त किए जाने वाले मन्त्र इस वेद (सामवेद) में सर्वथा ऋग्वेद से लिए गए हैं। कौथुम संस्करण में दी गई संख्या

1. देखें मेरी पुस्तक 'वैदिक-इतिहास-विमर्श' और 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश।'

के अनुसार सामवेद में १६०३ मन्त्र हैं और उनमें भी इस वेद के अपने ९९ मंत्र ही हैं। इनमें पुनरुक्त मंत्रों का परिगणन नहीं किया गया है।[1]

यहां पर यह जानना आवश्यक है कि आर्यों की वैदिक परम्परा में किसी भी शास्त्र में वेदों में पुनरुक्ति स्वीकार नहीं की गई है। जो मंत्र कई बार आ जाते हैं उनका भी अर्थ-भेद है। इसीलिए ऋषि और देवता का भी कभी-कभी इनमें अन्तर देखा जाता है। सामवेद में जितने मन्त्र ऋग्वेद के देखे जाते हैं उनमें बहुधा पाठों में अन्तर है। पाठो के अन्तर से अर्थान्तर होना ठीक ही है। अगर ये ऋग्वेद के ही मन्त्र होते तो इनका पृथक् भाष्य करने की आवश्यकता ही क्या थी। केवल पं० सातवलेकर जी के ९९ मन्त्रों का भाष्य कर दिया जाता। परन्तु भरत स्वामी आदि भाष्यकारों ने भी सभी मंत्रों का भाष्य किया है। वैदिक एज के लेखक अपने तर्क को अथर्ववेद के मंत्रों को बाद का सिद्ध करने के हेतु प्रमाणित करने के लिए पद-पाठ का हवाला देते हैं। परन्तु उन्हें मालूम होना चाहिए कि सामवेद का पदपाठ केवल ९९ मंत्रों का ही नहीं है। यदि शेष ऋग्वेद मंत्र थे तो पृथक् पद पाठ देने की आवश्यकता नहीं थी। सामवेद की एक सहस्र शाखायें मानी जाती हैं तो क्या इतना बड़ा विस्तार इन ९९ मन्त्रों का ही था। शतपथ ब्राह्मण १०।४।२। २३-२५ में साम का परिमाण ४००० बृहती छन्दों के परिमाण का माना गया है। क्या ९९ मंत्रों में इतने बृहती छन्द बनाये जा सकते हैं। जिसमें पाद-व्यवस्था हो वह ऋक् है। जितने भी गान के मन्त्र होंगे उनमें पादव्यवस्था होनी ही चाहिए। इसीलिए साम के प्रत्येक मन्त्र "ऋच्यमूढ" हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे ऋग्वेद के ही मंत्र हैं, पृथक् नहीं।

महाभारत कालिक यास्क ने निरुक्त ४।१।४ में एक मंत्र का उद्धरण दिया है। यह मन्त्र ऋग्वेद ५।३९।१ और साम ३।११।४।४ में समान रूप में पाया जाता है। इनमें "मेहनास्ति" पद पड़े हैं। सामवेद उत्तरार्चिक में इस मंत्र का पाठ म+इह+नास्ति है। ऋग्वेद के पद-पाठकार शाकल्य ने 'मेहना' को एक पद माना है और

1. The text used as musical notes in the Veda are moreover almost wholly drawn from the Rik-Samhita. According to the figures given in the Aundh Edition of the Samveda, of the 1603 Verses (not counting the repetitions) of this Veda only 99 (again not counting the repetitions) are not found in Rik-Samhita. —Page 230

सामवेद पदपाठकार गार्ग्य ने इसे तीन पद माना है। यास्क ने दोनों को ही ठीक माना है। यह स्थिति है। जब साम का पदपाठ तक यास्क के समय में था और पदपाठ ऋग्वेद के पदपाठ के होते हुए भी पृथक् किया गया तो फिर यह कहना कि सारे मंत्र ऋग्वेद के हैं—कहाँ तक संगत माना जा सकता है। यास्क ने निरुक्त में "येन देवा पवित्रेण" मंत्र दिया है जो सामवेद (५।२।८।५) उत्तरार्चिक में है। यह सामवेद का ही मंत्र है, अन्यत्र उपलब्ध भी नहीं। अधिक विस्तार में न जाते हुए यहाँ पर यही कहना उचित है कि वर्तमान सामवेद-संहिता में विद्यमान सभी मन्त्र सामवेद के ही हैं।

ऋग्वेद और यज्ञोपवीत—यह भी कहने और लिखने का साहस लोग करते हैं कि यज्ञोपवीत संस्कार ऋग्वेद में नहीं मिलता है। परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि आश्वलायन आदि गृह्यसूत्र ऋग्वेद पर आधारित हैं। यदि ऋग्वेद में यह संस्कार वा यज्ञोपवीत नहीं है तो फिर इन सूत्रों में किस आधार पर ये संस्कार लिखे गये। अगर यह ही मान लिया जावे कि नहीं है तब भी क्या हानि? चारों वेदों का स्थान समस्त वाङ्मय में एक ही सा है। सब एक ही समय के और सभी ईश्वरीय ज्ञान माने जाते हैं। अतः सभी शिक्षायें मान्य है और उनके आधार पर संस्कार किये जाते हैं। ऋग्वेद ३।८।४ (युवा सुवासाः परिवीत आगात्) मंत्र यज्ञोपवीत संस्कार में गृह्यसूत्रों में विनियुक्त है। इसमें 'परिवीत' पद भी पड़ा है जो यज्ञोपवीत की सूचना देता है। आश्वलायन-गृह्य-सूत्र में भी इस मंत्र का यज्ञोपवीत संस्कार में विनियोग है।

चार वर्ण चार आश्रम—समाज में मानव के गुण-कर्म और स्वभाव के अनुसार चार विभाग किए जाते हैं। वेद के अनुसार ये चार विभाग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। वेद में मनुष्य के लिए कृष्टि पद का प्रयोग है। कृष्टि पद कृष् धातु से बना है। इसका अर्थ है कि वह संस्कृत और कृषि आदि का जानने वाला है। संस्कृत व्यक्ति (Cultured man) ही मनुष्य है। 'पञ्चजनाः' 'पंच कृष्टयः' आदि प्रयोग वेद में पाए जाते हैं। चार तो गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्ण हैं और पाँचवाँ विना वर्ण का—इस प्रकार सब पाँच प्रकार के मनुष्य हैं। इन सबको वेद के कर्म यज्ञादि का समान अधिकार है। वेदों में "ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद्" आदि मंत्रों में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों का स्पष्ट वर्णन है। वेदों के आधार पर ही धर्मसूत्रों और स्मृतियों में इन वर्णों के कर्तव्य बताये गए हैं।

वेदों में जन्म से वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन नहीं है। कई लोग कहते हैं कि ब्राह्मण आदि में जो व्याकरण के प्रत्यय हैं वे अपत्यार्थक हैं। अतः ये जन्मना माने जाने चाहिएँ। परन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्माधीते तद्वेद इति ब्राह्मणः। वेद का अध्ययन करने वाला और ज्ञाता ब्राह्मण है। इसी प्रकार क्षत्रिय आदि शब्दों की निष्पन्नता भी अन्य नियमों से हो सकती है। इसके लिए मेरी पुस्तक वैदिक ज्योति का वर्ण विभाग प्रकरण देखें। राज्य-सभा[1] गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार वर्ण का निर्धारण करे। यह निर्धारण आचार्य के दिए निर्णय पर हुआ करता है।

इसी प्रकार आश्रम भी चार माने गए हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। पञ्च-जनाः, पञ्चविशः, पञ्चकृष्टयः—शब्दों से जहाँ चारों वर्ण और एक अवर्ण अभिप्रेत हैं वहाँ उससे चार-चार आश्रम और एक अंतोश्रम वाले भी अभिप्रेत हैं। वर्ण-व्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था का भी सम्बन्ध है। यही कारण है कि जहाँ धर्मसूत्रों और स्मृतियों में वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन है वहाँ साथ-ही-साथ आश्रम-व्यवस्था का भी प्रतिपादन है। यास्क ने 'पंचजनाः' के इस रहस्य को भली प्रकार समझा था। अतः उसने जहाँ चार वर्णों का और पाँचवें निषाद से औपमन्यव का[2] मत दिया वहाँ इत्येके कहकर चार आश्रम और एक बिना आश्रम वाले विचार का भी प्रतिपादन कर दिया। यास्क दोनों का समन्वय चाहता है। आश्रम मर्यादा सम्बन्धी अर्थ लेने पर 'गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस—ये पाँच प्रकार के मनुष्य गृहीत होंगे। गन्धर्व का अर्थ ब्रह्मचारी है क्योंकि वह वेदवाणी और इन्द्रिय का संयम करता है। तथा 'पितर' का अर्थ वानप्रस्थ है। 'देव' का अर्थ संन्यासी है। असुर पद वेद में अच्छे और बुरे और उससे विपरीत दोनों अर्थों में है—यह पहले बताया जा चुका है। अतः अपने और दूसरे के प्राणों का धन, अन्न आदि से रक्षक होने से गृहस्थ ही यहाँ 'असुर' पद से अभिप्रेत है। 'रक्षस्' वह है जो आश्रम-मर्यादा का पालन नहीं करता है।

ऋग्वेद १०।१०९।५ में 'ब्रह्मचारी'[3] का वर्णन है। अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त

---

1. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।
ऋग्वेद १०।१२५।५

2. गन्धर्वाः, पितरो, देवा असुरा रक्षांसीत्येके।
चात्वारो वर्णा निषादः पंचम इत्यौपमन्यवः॥ नि० ३।७

3. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमंगम्। १०।१०९।५

ही है जो ब्रह्मचारि-सूक्त कहा[1] जाता है। अन्यत्र भी वेदों में इस आश्रम का वर्णन मिलता है। वेदों में विवाह संस्कार सम्बन्धी जितने मंत्र हैं सभी गृहस्थ धर्म का प्रतिपादन करते हैं। गृहस्थाश्रम का विशेष वर्णन वेदों में मिलता है। इस ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के वेद-प्रतिपादित होने में सभी सहमत हैं। आपत्ति वानप्रस्थ और संन्यास पर लोग उठाते हैं। अतः उस पर विचार किया जाता है।

वानप्रस्थाश्रम को तप, श्रद्धा और दीक्षा का आश्रम कहा जाता है। अतः अथर्ववेद १९।४०।३ का भाव इसी विषय की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है। यजुर्वेद २०।२४[2] में कहा गया है कि हे व्रतपते भगवन्! मैं तुझमें स्थिर होकर समिधा धारण करता हूँ। व्रत, श्रद्धा को प्राप्त करता हूँ। दीक्षित होकर मैं अपनी आत्मा में तुझे प्रकाशित करता हूँ। इसी प्रकार वेद के तपः और श्रद्धा पदों को मुण्डकोपनिषद् ने सीधा ही ग्रहण कर लिया है और कहा है कि शान्त विद्वान् जन तप और श्रद्धा की सिद्धि के लिए भिक्षाचरण करते हुए जंगल में बसते अर्थात् वानप्रस्थ का पालन[3] करते हैं। ऋग्वेद ६।२४।१० में लिखा है कि—हे राजन्! हम दूर हों वा समीप हों हमारी सर्वत्र रक्षा कीजिए। हम उत्तम सन्तानों वाले होकर (गृहस्थ रूप में) घर में हों चाहे (वानप्रस्थ रूप में) अरण्य[4] में हों। वानप्रस्थ के लिए मुनि शब्द का भी प्रयोग वेद में पाया जाता है। ऋग्वेद ७।५६।८ में मुनि की उपमा दी गई है। ऋग्वेद ८।१७।१४ में लिखा है कि इन्द्र मुनियों का सखा (इन्द्रो मुनीनां सखा) है।

संन्यासाश्रम चतुर्थ आश्रम है। इसका भी वेदों में विधान है जो लोग कहते हैं कि वेद में संन्यास का विधान नहीं है वे गलती पर हैं। यदि वेद में संन्यास का वर्णन न होता तो धर्म-सूत्रों और स्मृतियों में भी उसका होना न पाया जाता क्योंकि ये तो श्रुति के पीछे चलने वाले हैं। ऋग्वेद ७।७२।७ में "यतयः देवाः" का वर्णन आया है। आधियाज्ञिक अर्थ इसका निम्न प्रकार होगा—

हे देव=पूर्ण विद्वान् यतयः=संन्यासिजन[5]। जिस प्रकार आकाश में सूर्य

1. अथर्व ११वें काण्ड का ५वाँ सूक्त।
2. अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि। यजु। २०।२४
3. मुण्डक १।२।११॥
4. अमा वंनमरण्ये पाहि······ऋग्वेद ६।२४।१०
5. यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आगूढ मासूर्यमजभर्तन। ऋ १०।७२।७

अपनी किरणों से व्याप्त है उसी प्रकार इस तुम्हारे हृदयाकाश में सबका प्रकाशक परमेश्वर छिपा हुआ व्यापक हो रहा है। उसको ज्ञान से अपने अन्दर धारण करो और आनन्द को प्राप्त करो। जिस प्रकार सूर्य लोगों को सदा प्रकाश दान से सुखी करता है उसी प्रकार आप लोग ज्ञानोपदेश से लोगों को तृप्त करें। इसी प्रकार ऋग्वेद ८।२।६ में भी संन्यासी का वर्णन मिलता है। मंत्रार्थ निम्न प्रकार है—

'हे[1] उग्र इन्द्र=शक्तिमत् परमेश्वर! जो यति=संन्यासी है वे भी आपकी स्तुति करते हैं और जो भृगु=शरीर की ममता से दूर रहने वाले तपस्वी संन्यासी हैं वे भी तुम्हारी स्तुति करते हैं। हे भगवन्! मेरी भी पुकार को सुनो। वेद में यति पद संन्यासी के लिए प्रयुक्त है। ऋग्वेद ८।३।६ में 'यतिभ्यः' पद आया है। ऋग्वेद ६ मण्डल का ११३वां सूक्त संन्यास से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार चारों आश्रमों का वेद में वर्णन है। कुछ लोग यहाँ पर यह शंका करते हैं कि गृहस्थाश्रम के लिए जो मंत्र बोला जाता है उसमें यह कहा गया है कि तुम दोनों इस घर में रहो। तुम्हारा वियोग न हो। लम्बी आयु प्राप्त करो। पुत्र, पौत्र आदि से खेलते हुए प्रसन्न होकर अपने घर में रहो।[2] जब मंत्र में पुत्र-पौत्र के साथ घर में ही विद्यमान रहने को कहा गया है तो फिर वानप्रस्थ और संन्यास का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?। इसका समाधान यह है कि किसी एक के मरण के अनन्तर पति-पत्नी का वियोग होता है या नहीं। यह तथ्य और सर्वथा प्रत्यक्ष है कि होता है। इससे इन्कार किया नहीं जा सकता है। तो पूछना है कि इस मंत्र में बिना लिखा हुआ होने पर भी यह होता है उसी प्रकार वानप्रस्थ और संन्यास भी हो सकते हैं और मंत्र की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं आवेगा। यदि कहा जावे कि 'आयु' शब्द से यह निकल आवेगा कि आयुपर्यन्त वियुक्त मत होवो। तो 'आयुः' शब्द से ही गृहस्थ जीवन के लिए निश्चित समस्त आयुर्भाग को पुत्र-पौत्र आदि के साथ खेलते हुए भोगो—यह अर्थ भी निकल आवेगा।

यह कहना कि किसी वानप्रस्थ और संन्यासी का मंत्रद्रष्टा होना नहीं पाया जाता है—यह भी ठीक नहीं। भृगवः, मन्त्रयः और 'वातं वैखानसाः' आदि से इस कोटि के ऋषियों का ही बोध है।

अन्न और कृषि आदि—वेदों में कृषि का वर्णन है। कहा गया है कि द्यूत

---

1. प्र इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ ऋ० ८।६।१८
2. इहैव स्तं मा वियोष्टम्। ऋग्वेद १०।८५।४२

नहीं खेलना चाहिए —खेती करनी[1] चाहिए। ऋग्वेद में ४।५७।१ में 'क्षेत्रपति' का वर्णन है। क्षेत्रपति होना आवश्यक है यदि कृषि करनी है। इस सूक्त में लांगल=हल, अरत्र, वरत्रा=रस्सी; सीता=हल की लकीर, आदि का वर्णन है। पुनः मंत्र ८ में कहा गया है कि हल से भूमि को फाड़ दिया जावे। घोड़ों आदि से खेत को जोता जावे। यजुर्वेद १८।१४ में कृष्टपच्या और अकृष्टपच्या कृषि का वर्णन है। ऋग्वेद १०।१०१।३ मंत्र में बताया गया है कि हल और उसके जुवे को जोड़कर खेत को जोत डालो। पुनः उसमें बीज डालो। उसकी सिंचाई आदि करने पर फस्ल को हंसिये से काट लेना चाहिए। ऋग्वेद १०।४८।७ में खल=अर्थात् खलिहान और पर्श अर्थात् सटकने की पूलियों का वर्णन है। यजुर्वेद १८।१२ मंत्र में व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियंगु, अणु, श्यामाक, नीवार, गोधूम, और मसूर आदि अन्नों का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद १८।४।३३-३४ मंत्रों में ऐनी, श्येनी, हरिणीः, कृष्ण और रोहिणी नाम के धानों का वर्णन है।

धातु—यजुर्वेद १८।१३ में मृत्तिका, गिरि, सिकता, हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीसा, और त्रपु का वर्णन है। इसी प्रकार अन्य धातुवों का वर्णन भी पाया जाता है।

विज्ञान, गणित आदि—वेद में ऊंची कोटि का गणित विज्ञान पाया जाता है। इसमें गणित के सभी प्रकार आ जाते हैं। इसका विशद वर्णन पृथक् पुस्तक में किया जावेगा। इसी प्रकार यहां पर विविध विज्ञानों का भी वर्णन नहीं किया जा रहा है। क्योंकि ग्रन्थ बहुत बढ़ जावेगा। इन समस्त विज्ञानों के सम्बन्ध में एक पृथक् ग्रन्थ लिखा जावेगा।

दर्शन-विज्ञान के सम्बन्ध में मैंने एक पृथक् पुस्तक में उल्लेख किया है। वह 'दर्शन-तत्त्व-विवेक' है। इसमें मनोविज्ञान, तर्क, आदि सभी विषयों पर विशेष विचार किया गया है और वेदों से सबका मूल इस ग्रन्थ में दिखलाया गया है। जो लोग दर्शन के विस्तार में दाक्षिणात्य तत्त्वों की प्रधानता मानते हैं उनका भी युक्तियुक्त निराकरण इसी ग्रन्थ में कर दिया गया है। गणित-सम्बन्धी कुछ वर्णन मैंने अपनी पुस्तक वैदिक-ज्योति में भी कर दिया है।

शिक्षा-विज्ञान—शिक्षा का प्रकार वेद में आचार्यकुल अथवा गुरुकुल प्रणाली से वर्णित है। उपनयनान्तिक ब्रह्मचारी वेदारम्भ के साथ गुरुकुल में प्रविष्ट किया जाता

1. ऋग्वेद १०।३४।१३

सी हो जाती है। वेद तो अनन्त ज्ञान के भण्डार हैं। उनके अध्ययन को ब्रह्मचारी का मुख्य प्रयोजन कहा गया है।

बालक एक आत्मा है जो मन, बुद्धि और शरीर आदि से युक्त है। उसमें ज्ञान-ग्रहण की एक शक्ति है। इस ग्रहण-शक्ति से वह युक्त है। ब्रह्मचारी की हृदय-गुहा में दो कोष हैं जो ज्ञान-विज्ञान से पूरित रहते हैं। आचार्य का कार्य उनको सुधार कर विकसित कर देना है। ब्रह्मचारी की इस गुहानिधि में समस्त विश्व का ज्ञान निगूढ़ है। शिक्षा का कार्य यह है कि गुहा में निहित ज्ञान को बाहर के संसार से मिला दे। अथर्ववेद ११।५।१०-११ मंत्र में यह भाव भरा हुआ है।

छात्र में किन कारणों से शिक्षा का बीज नहीं जमता और इनको हटाकर न्यूनताओं की पूर्ति की जावे—इसका प्रांजल वर्णन यजुः ६।१५ में मिलता है जो निम्न प्रकार है—

१—मन दोषरहित हो।

२—वाक् दोषरहित हो।

३—प्राण दोषरहित हों।

४—नेत्र दोषरहित हों।

५—श्रोत्र दोषरहित हों।

६—जो वासनाजनित बुराई है वह दूर हो।

ये ऊपर कही गई वस्तुवें ऐसी हैं कि यदि शिक्षा के सत्र को सफल बनाना है तो अध्यापक आदि को इनका ध्यान रखना चाहिए। बालक की आत्मा, शरीर,

है और गायत्री के उपदेश से उसकी शिक्षा को आचार्य प्रारम्भ करता है। गुरुकुल का जीवन व्रत और ब्रह्मचर्य का जीवन होता है। ब्रह्मचर्य २४ वर्ष का वसु संज्ञक है। ३६ अथवा ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य को रुद्र और ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य को आदित्य कहा जाता है। इसी क्रम से वसु, रुद्र और आदित्य संज्ञा इन ब्रह्मचारियों की हुआ करती है। गाय जैसे सर्वोपकारी पशु की ऋग्वेद में इनके साथ माता, दुहिता[1] और स्वसा की उपमा के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है। यजुर्वेद में आदित्य, रुद्र, वसु[2] विद्वानो के द्वारा यज्ञ की अग्नि का समिन्धन करना वर्णित है। इन संज्ञा के विद्वानों को पूर्व खिला पिलाकर पुनः गृहस्थ भोजन करे—इस बात की शिक्षा विवाह में वर के मधुपर्क भक्षण करते समय दिखलाई गई है। वह पहले इनको स्मरण करके पुनः मधुपर्क को खाता है। इन्हीं वैदिक आधारों को लेकर मनु ने रुद्र, वसु और आदित्य की परिभाषा की है। मनु कहते हैं कि वसु पितर कहे जाते हैं, रुद्र पितामह कहे जाते हैं और आदित्यों को प्रपितामह कहा जाता है। यह सनातनी श्रुति[3] है। जब तक वेद की यौगिक परिभाषाओं को न समझ लिया जावे तब तक अनेकों प्रकार की त्रुटियाँ वेदों के समझने में हो सकती हैं। यही कारण है कि लोगों ने अपनी खींचा-तानी करके भिन्न-भिन्न विपरीत परिणाम निकाले हैं।

शिक्षा के मुख्य उद्देश्य का वर्णन वेद के आचार्य पद की व्याख्या से निकल आता है—जो भाषा का ज्ञान, बुद्धि का विकास और आचार का ग्रहण कराना है। ऋग्वेद ७।१०३।१, ५ मंत्रों में यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार मण्डूक एक दूसरे को बोलता देखकर टर्र-टर्र करते हैं उसी प्रकार शिक्षणीय गुरु के शब्दों को दोहराता है।

शिक्षा का क्षेत्र वेद की दृष्टि से बहुत व्यापक है। अथर्ववेद ११।५।२ में तीन समिधाओं की व्याख्या करते हुए यह प्रकट किया गया है कि वेदारम्भ की तीन समिधाओं में से प्रथम से पृथिवी, दूसरी से अन्तरिक्ष और तीसरी से द्युलोक का समस्त ज्ञान प्राप्त करना संगृहीत है। अध्यात्म का ज्ञान पृथक् वर्णित किया जाता है। इस प्रकार तीनों समिधाओं से समस्त व्यापक ज्ञान-क्षेत्र की सीमा निर्धारित

1. माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्—ऋग्वेद ८।१०१।५
2. पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धताम्। यजुः १२।४४
3. मनु ३।२८४

सी हो जाती है। वेद तो अनन्त ज्ञान के भण्डार हैं। उनके अध्ययन को ब्रह्मचारी का मुख्य प्रयोजन कहा गया है।

बालक एक आत्मा है जो मन, बुद्धि और शरीर आदि से युक्त है। उसमें ज्ञान-ग्रहण की एक शक्ति है। इस ग्रहण-शक्ति से वह युक्त है। ब्रह्मचारी की हृदय-गुहा में दो कोष हैं जो ज्ञान-विज्ञान से पूरित रहते हैं। आचार्य का कार्य उनको सुधार कर विकसित कर देना है। ब्रह्मचारी की इस गुहानिधि में समस्त विश्व का ज्ञान निगूढ़ है। शिक्षा का कार्य यह है कि गुहा में निहित ज्ञान को बाहर के संसार से मिला दे। अथर्ववेद ११।५।१०-११ मंत्र में यह भाव भरा हुआ है।

छात्र में किन कारणों से शिक्षा का बीज नहीं जमता और इनको हटाकर न्यूनतावों की पूर्ति की जावे—इसका प्रांजल वर्णन यजुः ६।१५ में मिलता है जो निम्न प्रकार है—

१—मन दोषरहित हो।

२—वाक्-दोषरहित हो।

३—प्राण दोषरहित हों।

४—नेत्र दोषरहित हों।

५—श्रोत्र दोषरहित हों।

६—जो वासनाजनित बुराई है वह दूर हो।

ये ऊपर कही गई वस्तुयें ऐसी हैं कि यदि शिक्षा के सत्र को सफल बनाना है तो अध्यापक आदि को इनका ध्यान रखना चाहिए। बालक की आत्मा, शरीर, मन सभी का विकास शिक्षा में आवश्यक है। सबसे उत्तम और आवश्यक उद्देश्य शिक्षा का है चरित्र का निर्माण (Character-building)। वैदिक शिक्षा-पद्धति में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। यजुर्वेद ६।१४ में स्पष्ट शब्दों में आचार्य द्वारा विद्यार्थी को कहलाया जा रहा है कि "तुम्हारे चरित्र[1] को शुद्ध पवित्र करता हूँ।" शिक्षा का एक उत्तम दर्शन वेदों में दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा और मानव जीवन का परम उद्देश्य सत्य की खोज है। वेदानुसार उस खोज का क्रम व्रत, दीक्षा, दक्षिणा, श्रद्धा और सत्य है। श्रद्धया सत्यमाप्यते का यही भाव है। शिक्षा में मनोविज्ञान का एक उच्च स्थान है। वेद में मनोविज्ञान अत्यन्त उच्च कोटि का पाया जाता है। शिवसंकल्पसूक्त में ही मनोविज्ञान का उदात्त रूप देखने को मिल जाता है। प्रत्येक

1. चरित्रांस्ते शुन्धामि। यजु ६।१४

व्यक्ति समाज की एक इकाई है। अतः समाज का उत्थान भी उसका परम धर्म है। वैदिक शिक्षा में सामाजिक उन्नति का भी पूरा अवसर रहता है। ज्ञान-विज्ञान के लिए पर्याप्त अवसर विद्यार्थी को दिया जाता है। यह बात यहाँ पर नहीं भूलनी चाहिए कि वैदिक शिक्षा-पद्धति केवल भौतिक दर्शन पर नही आधारित है। उसमें आत्मा और प्रकृति दोनों का सन्निवेश है। ससार की समस्या केवल भौतिकी अथवा आर्थिकी ही नही है। यह प्रकृति-पुरुषात्मक और विश्वात्मोद्वलक है।

कुछ अन्य साधन—ऋग्वेद ६।११२ सूक्त मे कारु, भिषक्, आदि के रूप में अनेक कर्मों का वर्णन मिलता है। खेती, वाणिज्य, गोरक्षा वा पशुपालन आदि अन्य अनेक साधन बतलाये गए हैं। वस्त्र का निर्माण सिलाई आदि का भी वर्णन मिलता है। धन जहाँ एकत्र करने का विधान है वहा पर उसको जन-हितार्थ दे देने का भी विधान है। ऋग्वेद १०।११७ सूक्त में धन और उसके दान का विशेष रूप वर्णित है।

प्रथम मंत्र में मानव को यह शिक्षा दी गई है कि भूखों की ही मृत्यु नहीं होती है, अधिक खाने वालों की भी होती है। अतः धन-संचय करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। देने वाले का धन घटता नहीं और कंजूस का धन किसी लाभ का नहीं होता है। पांचवें मंत्र में बताया गया है कि धन तो गाड़ी के चक्के की भाँति घूमने वाला है और एक से दूसरे पर जाता-आता रहता है। वह मूर्ख आदमी जो अपने एकत्र धन का उपयोग केवल अपने लिए ही करता है—अन्यों को नहीं देता है—मानो स्वयं अपनी मौत बुलाता है। वह वस्तुतः अकेला उपयोग करके बड़ा भारी पाप करता है। यह भाव छठे मंत्र में पाया जाता है। धनी अपने धन को सदा दूना, तिगुना, चौगुना और उससे भी अधिक करने की इच्छा से प्रवृत्त रहता है। परन्तु उसे परमेश्वर के नियम और सद्वृति के महान् मार्ग का ध्यान रखते हुए धन को दान में प्रयुक्त करना चाहिए। इतने उत्तम प्रकार के समाजवाद का उपदेश करने के बाद भी वेद की शिक्षा एक दोष की ओर ध्यान को विशेष आकृष्ट करती है। वह यह है कि धन की समाज मे व्यवस्था तो की जा सकती है परन्तु समाज मे सभी मनुष्यों में सर्वथा साम्य नही स्थापित किया जा सकता है। सर्वथा साम्य सृष्टि के नियम के ही अनुकूल नहीं है। नववें मंत्र में उदाहरण देकर स्पष्टीकरण किया गया है कि "दोनों हाथ समान हैं परन्तु दान और कार्य में दोनों की समानता नही है। एक ही गाय की दो सन्तानों में समान मात्रा में दूध नहीं होता है। युगल जोड़वा

सन्तान एक माता से साथ ही उत्पन्न होते हैं परन्तु दोनों के बल में समानता नहीं होती है, एक ही वंश के दो व्यक्ति समान दान वाले नहीं होते है। कितना सुन्दर उपदेश यहाँ पर दिया गया है।

जब तक संसार में लोभ, तृष्णा और शोषण है सारी सामग्री रहते हुए भी मनुष्य भूखा, नंगा, प्यासा ही बना रहेगा। ऋग्वेद ७।८६।४ मंत्र में इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार है—

हे भगवान् ! गले भर पानी में बैठा हुआ भी मैं प्यास से मर रहा हूँ। मेरी रक्षा करो। रक्षा करो।

इसके अतिरिक्त, समुद्री नौका (जहाज) विमान आदि से और अन्य प्रकार के यानों से व्यापार का भी वर्णन वेद में पाया जाता है। उत्तम-उत्तम गृहों का निर्माण आदि भी बताया गया है। औषधि आदि के निर्माण में तो कमाल का विज्ञान वेदों में मिलता है। भारत का वैज्ञानिक एवं उच्चस्तरीय आयुर्वेद वेदों की ही देन है। नौ-निर्माण और विमान-निर्माण आदि विषयों का वैदिक साहित्य[1] में विशिष्ट वर्णन है।

सिंचाई-साधन—वैदिक-साहित्य में आवट, काट, कुल्या, सरः सरसी, प्रपा, कूप, नदी और गर्त आदि जलस्रोतों का वर्णन मिलता है। आवट का सामान्यतः कूप अर्थ है। परन्तु वेद में इसका प्रयोग जलाशय के अर्थ में मिलता है। वेद की कुल्या का अर्थ कृत्रिम नदी है। यही नहर है। यह नदी से निकाली जाती है। अथर्ववेद तीसरे काण्ड के १३वें सूक्त में नदियों से नहर खोदने का वर्णन मिलता है। अन्य सरस् आदि साधन भी सिंचाई के कार्य के पूरक हैं।

आर्य-भोजन—वैदिक एज में एक गलत धारणा यह फैलाई गई है कि अतिथियों के सत्कार के लिए विवाह के समय गायों को मारा जाता था।[2] वेद में गौ को अघ्न्या[3]

---

1. देखें मेरी पुस्तक शिक्षणतरङ्गिणी।
2. The guests are entertained with the flesh of cows got killed on the occasion (of marriage). —Page 389
3. The cow receives the epithet of Aghnya not to be killed in the Rigveda, and is otherwise a very valued possession............we remember the following. —Page 393

कहा गया है फिर उसके साथ इस बात का समन्वय कैसे होगा ?। इसका उत्तर देते हुए वैदिक एज के कर्त्ता युक्ति देते है—

१. बैल का मास खाया जाता था गाय के मास की अपेक्षा। शीघ्र ही इनमें यह एक भेद कर लिया गया था।

२. चूंकि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपनी बहुमूल्य से भी मूल्यवान् वस्तु दी जाया करती थी अत. गोमांस यज्ञ के अवसर पर ही खाया जाता था।

३. ऋग्वेद मे भी केवल वशा (वन्ध्या गौ) का ही यज्ञ मे बलिदान होता था। उदाहरण के रूप मे ऋग्वेद ८।४३।११ में अग्नि को 'वशान्न' कहा गया है। ऋग्वेद १०।९१। ३ में 'प्रतिधिनो गो.'। भी उसी भेद को प्रकट करती है।

यहाँ पर कुछ विचार इस विषय पर किया जाता है। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि आर्यों के भोजन में कहीं पर मांस का भी वर्णन नहीं—गोमास और बैल के मांस की बात तो सर्वथा ही दूर है। फिर यह सारी निराधार कल्पनायें खड़ी करने वाले कितने निचले स्तर पर उतर रहे है यह स्वयं देखने और समझने की बात है। आर्यों के भोजन मे अन्न, अन्ननिर्मित विविध वस्तुवें, दुग्ध, दधि, घृत और दुग्ध आदि से बनने वाली वस्तुवे, ओषधियों का रस, फल, मूल आदि आते हैं। अथर्ववेद २।२६।४ मे धान्य का रस, और गौ का दूध खाद्य है—यह बताया गया है। आज्य घृत को भी वहीं पर वर्णित किया गया है। पुन: अथर्व ४।२७।३ में लिखा गया है कि धेनुवों का दूध, ओषधियों का रस और घोड़ों के वेग को विद्वान् लोग पसन्द करते है और प्रयोग मे[1] लाते हैं। अथर्ववेद १९।३१।५ में बताया गया है कि पशुवों से चाहे वे द्विपाद् हों या चतुष्पाद् हों पुष्टि को ग्रहण करना चाहिए। पशुवों के दूध और ओषधियों के रस को सबका कर्त्ता परमेश्वर हमें प्रदान[2] करे।

इसके अतिरिक्त अथर्व ८।६।२३ मे लिखा है कि जो आम मांस खावें अथवा जो पुरुष के मांस को खावें अथवा जो नवजात पशु-पक्षियों के गर्भों, अण्डों आदि को खावें—उनका नाश कर देना चाहिए। पुन: अथर्व १।१६।४ में यह लिखा है कि यदि हमारे लिए कोई गौ को मारे, घोड़े को मारे अथवा पुरुष को मारे तो उसे सीसे की गोली से मार देना चाहिए। ऋग्वेद १०।८७।१६ मे पुरुष मांस और घोड़े के

1. पयो धेनूना रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ। अथर्व ४।२७।३
2. पय. पशूनां रसमोषधीना बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्। अथर्व १९।३१।५

मांस, और पशुवों के मांस से अपना कार्य चलाने वाले और गाय के दूध को हरण करने वाले को राजा के द्वारा शिर पृथक् कर देने का विधान है । इस प्रकार जब मास खाने का ही वेद में विधान नहीं, निषेध है और पशुवों के मारने का दण्ड-विधान है, तथा पशु-मांस से अपना काम चलाने वालों को इतना कठोर दण्ड है, तो फिर वैदिक एज के लेखक की बात किस प्रकार विश्वास और विचार के क्षम हो सकती हैं ।

अतिथि-सत्कार का वर्णन अथर्ववेद के ९वें काण्ड के कुछ सूक्तों में मिलता हैं। पांचवे सूक्त के ९वें मंत्र में कहा गया है कि जो "बहुत[1] स्वादु जल, दुग्ध और उत्तम मन-प्रसादक भोजन हैं उसे अतिथि को खिलाकर पुनः गृहस्थ को भोजन करना चाहिए" । यहां पर मंत्र में 'अधिगवं' और 'क्षीरम्' तथा 'मांसम्' पद पड़े है । इससे भ्रम होता है । परन्तु इतना तो ज्ञात होना चाहिए कि मांस के साथ दूध का सेवन नहीं होता है । यह अत्यन्त विकार करने वाला है। अतः मांस का अर्थ कुछ और ही है । 'अधिगवम्' शब्द विशेषण नहीं है । यह तत्पुरुष समास है और गोरतद्धित[2] लुकि' सूत्र से 'टच्' प्रत्यय करके बना है ।

तत्पुरुष समास कभी किसी पद का विशेषण नहीं बनता है । अतः उसे 'क्षीर' और मांस का यहाँ पर विशेषण नहीं बनाना चाहिए । यह संज्ञा पद है और इसका अर्थ (अधिकृतस्नामी गौरवेति) अधिकृत जल है । क्षीर का अर्थ दुग्ध है । अब मांस का अर्थ देखना चाहिए । महामुनि यास्क ने निरुक्त ३।४ पर 'मांस' पद की कई प्रकार की निरुक्तियां की हैं । मांस् पद वैदिक साहित्य में कई अर्थों में आता है । मनु ५।५५ के अनुसार यह माम्+स है अर्थात् जिसका मांस खाया है वह परजन्म में मुझ खाने वाले को खावेगा । अतः यह माम्+स पद मास का सूचक है । दूसरा 'मांस' का अर्थ मा+मनन है । यहाँ मा पूर्वक मन प्राप्ने धातु से उणादि ३।६४ से स' प्रत्यय हुआ है । अर्थात् जो जीवन देने वाला नहीं है । उसके बाद वधार्थक जिजन्त मन् धातु से मान पद बनता है जिसका अर्थ है कि वध से प्राप्त होने वाला । एक तीसरा अर्थ भी है जो यह बतलाता है कि जिससे मन प्रसन्न होता है वा जो मनोभव हो वह सुन्दर भोजन भी मांस है । इस प्रकार मन-प्रसन्नता के देने वाले उत्तम भोजन

1. एतद् वा उ स्वादीयो यदधि गवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ।

2. गोरतद्धितलुकि । अ० ५।४।९२ अथर्व ९।५।९

को भी मास कहा जाता है। इसका मांस ही अर्थ सब जगह लेना ठीक नहीं। फलों के गूदे आदि के लिए भी मांस का ही शब्द प्रयुक्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में इसी आधार पर पुरोडाश पकाये जाते समय गूंधे जाते आटे की एक मास संज्ञा भी[1] रखी है। ब्राह्मण ग्रन्थकार कहता है कि जब पिष्ट है तब वह लोम संज्ञक है, जब जल छोड़ता है तब वह त्वक् है, जब संयुत करता है तब वह मास सज्ञक है। जब शृत होता है तब अस्थि कहा जाता है क्योंकि कठिन होता है, जब वास पिष्ट बनाता है तब वह मज्जा-सज्ञक है—इसीलिए इसे पावत पशु कहा जाता है। इस कथन से तो पुरोडाश की भाँति पकाया हुआ मालपूआ भी मास संज्ञावाला ठहरता है।

ऐतरेय ब्राह्मण १।२।६ में लिखा है कि यह जो पुरोडाश बनाया जाता है यही पशु का आलम्भान है। जो किंशा रूप है वह लोम है, जो तुष है वह त्वक् है, जो फलीकरण हैं वे असृक् हैं और जो पिष्ट है वही मास है। यही वास्तव मे पशुमेध है। इसी प्रकार अथर्व ६।२।१३ में इन्द्र और सोम को भी यव कहा गया है। अथर्व ११।४।१३ में प्राण और अपान को भी व्रीहि और यव कहा गया है। अथर्व १८।४।३२, १८।४।३४ में धान को धेनु और तिल को वत्स कहा गया है। धानों का नाम एनी, हरिणी, रोहिणी, आदि कहा गया है। अथर्व ११।३।५-७ मे अन्न कणों को कहा गया है। चावलों को गौ कहा गया है। तुषों को मशक कहा गया है। इस प्रकार जिसको मांस कहा जा रहा है वह मांस नहीं है। उत्तम मन:प्रसादक भोजन ही वहाँ पर मांस से अभिप्रेत है। यही भाव मांस का ६।६।७ मे भी है। अथर्व ६।६।६ में जल का वर्णन है अत: 'अधिगवम्' का जल अर्थ ही लेना ठीक है। इस प्रकार यह भ्रान्त धारणा है कि वेदों में मांस से अतिथि का सत्कार करना लिखा है। ऐसा अनर्गल अर्थ किस प्रकार लोग निकाल लेते ? हैं। पूर्वापर और प्रक्रिया के ज्ञान का सर्वथा ही अभाव ऐसे अर्थों को करने वालों में देखा जाता है। अर्थ करते समय प्रसंग भी तो देखना चाहिए।

'गौ' को अघ्न्या कहा गया है अत: बैल का मांस खाने का नियम बनाया गया और यज्ञ गाय तथा बैल में भेद करके किया गया—यह भी कथन अनर्गल प्रलाप है। वेद में गाय ही अघ्न्या नहीं है—बैल भी अघ्न्य है। यजुर्वेद १२।७३[2] मन्त्र

[1]. यदा पिष्टान्यथलोमानि भवन्ति······यदा संयौत्यथ मांसं भवति।
शतपथ काण्ड १, अध्याय २, ब्रा० ४, कण्डिका ८

2. विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना······। यजु १२।७३

उवट महीधर आदि अनड्ह्=बैल के विमोचन में विनियुक्त करते हैं। अर्थ करते हुए दोनों ही कहते हैं कि देवकर्म के साधक अघ्न्याः=बैलों, गायों को छोड़ो। महीधर भी कहता है कि गाय और बलीवर्द अघ्न्य=अहन्तव्य है। अथर्व ६।४।१७ में "गवां-पतिः[1] अघ्न्य"॥ पदों से गायों के पति बैल को भी अघ्न्य कहा गया है। इस प्रकार वेदानुसार जब गाय ही अघ्न्या नहीं—बैल भी अघ्न्य है तो फिर बैल के मांस खाने का तर्क अपने आप समाप्त हो जाता है। वेद का अर्थ करते समय अटकल पच्चू मारना ठीक नहीं है। परन्तु खेद का विषय है कि ये पश्चात्य शिक्षा-दीक्षा में पले इतिहास-लेखक अपनी व्यर्थ की तुक सर्वत्र ही मारने की कोशिश करते हैं।

अब यहां पर थोड़ा सा विचार वशा के विषय में किया जाता है। अथर्व १।१०।१ में वशा का अर्थ ईश्वर की वह शक्ति है जिसके वश में सारा जगत् चल रहा है। अथर्व १०।१०।४ में वशा के द्वारा द्यौः, पृथिवी और जलें रक्षित कही गई हैं। १०।१०।२५ में बतलाया गया है कि वशा ने यज्ञ का धारण किया है, वशा ने ही सूर्य को धारण किया है। पुनः १०।१०।२८ में लिखा है कि वरुण के मुख के अन्दर तीन जीभें प्रकाशमान हैं उनके जो मध्य में विराजमान है वह वशा है और वह दुष्प्रतिग्रहा है। पुनः मंत्र २६ में लिखा है कि वशा का रेत चार प्रकार का है। आप चौथा, अमृत चौथा, यज्ञ चौथा और पशु चौथा। मंत्र ३० में कहा गया है कि द्यौ वशा है। पृथिवी वशा है, विष्णु प्रजापति भी वशा है। जो साध्य और ऋषि हैं वे भी वशा के ही दुग्ध को पीते हैं। यहां पर जिस वशा का वर्णन है वह तो वैदिक एज के लेखक वाली वशा है नहीं। इसी प्रकार अथर्व १२।४ में भी वशा का वर्णन है। वह वशा भी इसी प्रकार की है।

ऋग्वेद २।७।५ में कहा गया है कि हे सबके धारक! अग्ने परमेश्वर! गायों से और बैलों से तथा अष्ट चरणों वाली वाणियों से युक्त हम लोगों के द्वारा आप ही स्तुति किए जाते हो। यहां पर वशा का अर्थ वन्ध्या गौ तो है नहीं।

ऋग्वेद १।१६४।४३ मंत्र में "उक्षाणं पृश्निम्" पाठ आया है वहां पर लिखा गया है कि वर्धक पृश्नि को धीर लोग पकाते हैं—ये ही प्रथम धर्म हैं। परन्तु यहां पर 'उक्षा' का अर्थ वर्धक वा सेचक है। यहां वह पृश्नि का विशेषण है। बैल अर्थ यहां पर है ही नहीं। शतपथ ८।७।३।२१ में अन्न को पृश्नि कहा गया है। तैत्तिरीय

1. गवां पः पतिरघ्न्यः॥ अथर्व ६।४।१७

१।४।१।५ में पृथिवी को पृश्नि कहा गया है। ताण्ड्य १२।१०।२४ मे लिखा है कि अन्न को ही विद्वान् लोग पृश्नि कहते हैं। निरुक्त २।१४ में लिखा है कि "पृश्नि-रादित्यो भवति" अर्थात् आदित्य ही पृश्नि है। निघण्टु ३।३ में 'उक्षन्' पद महदर्थ मे भी पठित है। अतः यहाँ भी स्पष्ट हो गया कि यहाँ गाय वा बैल अर्थ किसी भी पद का नही है।

वैदिक एज के लेखक ने ऋग्वेद ८।४३।११ मन्त्र मे आये 'उक्षान्नाय', 'वशान्नाय' शब्दों से अर्थान्तर निकालने का व्यर्थ ही प्रयत्न किया है। वहाँ पर 'उक्षान्न' का अर्थ 'सिक्तन्न' अर्थात् जो घृत से सिक्त हो, 'वशान्न' का अर्थ है जो घृतमे पका हुआ और वाञ्छनीय अन्न है। अत उक्षान्न और वशान्न अग्नि को इसलिए कहा गया है कि वह घृतसिक्त अन्न की आहुति वाला और घृत मे पके हुए उत्तम अन्न की आहुति वाला है। आगे घृतपृष्ठ उसे कहा ही गया है। परमात्मा अर्थ जब अग्नि का होगा तब सूर्य और पृथिवी जिसके प्रलय काल मे अन्न हैं—ऐसा परमेश्वर अर्थ होगा।

ऋग्वेद १०।६८।३ में 'गोः' का अर्थ जल है जो मेघ से वर्ष कर पृथिवी पर आता है। 'अतिथिनीः' नाम इसलिए है कि उसकी निश्चित कोई तिथि नही है। यदि "अतिथिनी गौः" का अर्थ अतिथि को देने की गौ ही मान लिया जावे तो यह अर्थ कहाँ से निकला कि बन्ध्या गौ अतिथियों के खाने के लिए है। इस अर्थ के लिए कहाँ अवकाश इस मन्त्र मे मिलता है। साथ ही देवता और प्रकरण का भी तो कोई सम्बन्ध देखना चाहिए।

ऋग्वेद १०।९१।१४ मंत्र में अश्वासः, ऋषभासः, वशा, मेषाः आदि पद आये हैं। 'अश्वा' का अर्थ कण है-यह अथर्ववेद के प्रमाण से बताया जा चुका है। 'अश्वाः' का अर्थ अश्वगन्धा ओषधि भी है। राजनिघण्टु मे यह वर्णन देखा जा सकता है। भावप्रकाश में ऋषभ नाम ओषधि का है। इसी प्रकार वशा नाम अन्न और ओषधि का है। मेष का अर्थ मेषपर्णी ओषधि है। इस प्रकार अग्नि में इन औषधियों का हवन करना लिखा गया है। वहाँ पर अन्यथा कल्पना करने का प्रयत्न व्यर्थ है। सुश्रुत मे लिखा है कि जब तक आम पक नहीं जाता है तब तक स्नायु, अस्थि, मज्जा की सूक्ष्म होने से उपलब्धि नहीं होती है। पक जाने पर ये प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार भावप्रकाश में बैल के कई नाम ओष-धियों के नाम कहे गये हैं। इसी प्रकार भावप्रकाश में अजमोदा के अश्व, खर, मयूरी आदि नाम कहे गये हैं। फलों और कन्दों आदि के गूदे के लिए भी मांस

आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर विस्तार नहीं किया जा रहा है। वैदिक सम्पत्ति आदि पुस्तकों में इस विषय को देखा जा सकता है।

वैदिक एज का कथन है कि ऋग्वेद १०।८६।१४ में १५ और २० बैलों का इन्द्र के खाने के लिए पकाना लिखा है। यहाँ 'उक्षणः' का अर्थ सोम है जो प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है। १५वें मंत्र में 'मन्थ' पद भी आया है और 'तिग्मशृंग वृषभ" पद भी आये हैं जो वृषभ नाम की ओषधि के सूचक है। इन औषधों के सेवन से ही बैल के समान कोई गरज सकता है। यास्क ने १३वें मंत्र में आये 'उक्षणः' का अर्थ अन्तरिक्षस्थ ओस किया है। फिर यहाँ पर बैल अर्थ कहाँ से कूद पड़ा।

वशा का अर्थ 'गौ' और वन्ध्या गौ भी होता है। परन्तु कहीं पर वेद में उसके खानेका विधान नहीं। यह जो खाने की कल्पना वैदिक एज के लेखक ने कर ली है— यह सर्वथा ही अनुचित है।

ऋग्वेद १।१६२वें सूक्त के मंत्रों को अश्वमेध पर लगाकर उसका उल्टा अर्थ लेकर लोग मांस खाने का विधान निकालते है—वह सर्वथा ही विपरीत है। यहाँ पर थोड़ा-सा विचार इस पर भी किया जाता है। १६२वां सूक्त बहुत ही महत्व का सूक्त है। इसमें दो विज्ञानों का वर्णन अधिदैव और अधिभूत विषय में पाया जाता है। इस समूचे सूक्त में विद्युद्रूप में व्याप्त अग्नि और घोड़े के प्रशिक्षण (Horse breaking) की विद्या का वर्णन है। अश्व पद का केवल घोड़ा ही अर्थ नहीं है। ऋग्वेद १।२७।१ मंत्र में अश्व के समान अग्नि कहा गया है। वहां स्पष्ट है कि अश्व अग्नि को कहा जाता है। पुनः ऋग्वेद ३।२७।१४ में कहा गया है कि वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः अर्थात् अग्नि वृष और अश्व दोनों ही नामों वाला है। इसी बात के आधार पर शतपथ ६।३।२।२ में अग्नि को अश्व (अग्निरेव यदश्वः) कहा गया है। पुनः शतपथ १।४।१।२६ में अग्नि को वृष भी कहा गया है। अश्व और वृष सूर्य अर्थ में भी वेद मे प्रयुक्त हैं। इन बातों के स्पष्ट हो जाने से यह ध्यान रखना चाहिए कि इस सूक्त में अग्नि और घोड़े से सम्बन्ध रखने वाले विषय का वर्णन है।

मण्डल १।१६२ सूक्त के प्रथम मंत्र में स्पष्ट ही अग्नि का वर्णन दिखलाई पड़ रहा है। यदि अश्व अर्थ लिया जावे तो स्पष्ट ही है कि ये सांग्रामिक जन हमारी निन्दा मत करें क्योंकि हम संग्राम में इस सरणशील घोड़े के पराक्रम को भली प्रकार जानते हैं। मंत्र ३ में इसके साथ 'छाग' का वर्णन है। साथ ही 'अश्वेन वाजिना"

पद पड़े हैं। ऐसी स्थिति में यौगिक अर्थ ही लेना पड़ेगा क्योंकि वाजी का अर्थ भी घोड़ा है और अश्व का अर्थ भी घोड़ा है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि जब अश्वमेध विपक्षियों के अनुसार अश्व का यज्ञ है तो वहाँ पर छाग की क्या आवश्यकता रह जाती है। अत: मानना पड़ेगा कि छाग का अर्थ यहाँ पर छाग=बकरी का दूध है। विश्वदेव्यः छागः का अर्थ समस्त उत्तगुणों से युक्त बकरी का दूध है। घोड़े को पुष्ट बनाने के लिए उसे बकरी का दूध देना चाहिए। यह शिक्षा यहाँ पर वर्णित है। अग्नि के पक्ष में अर्थ स्पष्ट ही है। लोग ६ठें मंत्र पर आपत्ति करते हैं और उसका उल्टा अर्थ लेकर अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं। यहाँ पर उसका भी निराकरण कर दिया जाता है।

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। ये चार्वते पचनं संभरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इन्वतु ॥६॥

अर्थ—ये=जो लोग (यूपव्रस्का) खम्भे के लिए काष्ठ काटने वाले, (यूपवाहा) खम्भे वा खूंटे को ढोने वाले (अश्वयूपाय) घोड़े के बाँधने के खूंटे के लिए (चषालम्) वृक्ष को (तक्षति) काटते है और (येच) जो (अर्वते) घोड़े के लिए (पचनम्) अन्न आदि पकी वस्तुवों की पूर्ति करते हैं वे ऐसे कार्य में हमारे लिए सहयोग करने वाले हों।

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यदवा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति। यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वाताते अपि देवेष्वस्तु ॥६॥

अर्थ—क्रविषः अश्वस्य=क्रमणशील घोड़े के जिस 'रिप्तम्' लिपे हुए मल को अथवा घोड़े के बदन पर कट जाने आदि से 'क्रविषः' मांस पर जो मक्खियाँ भिनभिनाती है और काटती है और जो(स्वधितौ स्वरौ)कष्ट से हिनहिनाता है···इसको दूर करना (शमितुः) घोड़े के रक्षक के (हस्तयोः) हाथों और नखों मे अर्थात उँगलियों मे है। घोड़े की रक्षा की जितनी क्रिया है वे सब हे रक्षको! तुम मे होनी चाहिए और सेना के लोगों में भी होनी चाहिए।

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति। सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तुत मेधं शृतपाकं पचन्तु ॥१०॥

अर्थ—(शमितारः) हे अश्व की पालना करने वालो! (यत् उदरस्य अवध्यम् अपवाति) घोड़े के पेट से घास आदि न पचने से जो अपान वायु बाहर आता है और कहीं घाव लगने आदि से (आमस्य क्रविषः य गन्धः अस्ति) कच्चे मांस

का जो गन्ध आता है उस सबको ठीक करो और उसकी शिक्षणीय समझ (मेधम्) को परिपक्व हो ऐसी पक्की बना दो ।

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभिशूलं निहतस्यावधावति । मा तद्भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु ११॥

अर्थ=(निहतस्य ते) अश्वारोही सैनिक के पैर से ताडित अर्थात चलने का संकेत दिये गए इस घोड़े के 'अग्निना' उत्साहाग्नि से (पच्यमानाद गात्राद) उछलते हुए शरीर से जाने वाला (सैनिक द्वारा फेंका गया वा प्रयुक्त) जो शूल शत्रुवों की ओर जाता है वह कहीं व्यर्थ जाकर जमीन पर न लगे, न घास में गिरे बल्कि वह चाहने वाले शत्रुओं पर ही पड़े । चूके नहीं ।

यहाँ पर तीसरे पुरुष में अर्थ करने पर द्वितीय पुरुष के "ते" आदि प्रयोग तीसरे पुरुष में हो जावेंगे ।

अथवा दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—

हे क्षुधिताश्वरोहिन् । नितरां चलित क्षुब्ध पुरुष के अग्निसम क्रोध से जलते हुए हाथ से जो शूल (पीड़ाकर अस्त्र) शत्रु पर छोड़ा जावे वह जमीन, घास आदि में व्यर्थ न गिरे । वह शत्रुवों पर ही बिना चूक लगे ।

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति । ये चार्वतो मांसभिक्षा- मुपासत उतो तेषामभि- गूर्तिर्न इन्वतु ॥१२॥

अर्थ—जो लोग घोड़े को (पक्वम्) सुशिक्षित परिपक्व देखते=बनाते है और जो "यह स्वच्छता आदि के कारण बदबू से रहित शोभन गन्ध है अतः 'निर्हर' इसे हमें दो" ऐसा कहते हैं और जो घोड़े के (मांसभिक्षाम्) मांसाभाव को (उतो) तर्क-वितर्क से (उपासते) स्वीकार करते हैं उनका उद्यम हमें प्राप्त हो ।

अथवा

जो घोड़े के मांस की भिक्षा का सेवन करते हैं, अथवा जो इसे इस प्रकार के अनुचित उपयोगों के लिए 'ईम' प्राप्त करते है उन्हें हे राजन (निर्हर) दूर फेंक दे । तथा जो (अश्वम् पक्वम् परिपश्यन्ति) घोड़े को शिक्षा में परिपक्व करते हैं उनका (सुरभिः) सुगन्धमय (अभिगूर्तिः) उद्यम हमें प्राप्त हो । इस मंत्र में भिक्षा पद अभाव और अलाभ का सूचक है । दूसरी बात यह है कि यहाँ पर 'उपासते' क्रिया में उपपूर्वक अस् धातु है जो गत्यर्थक होने से यहाँ पर छोड़ने वा त्यागने अर्थ में है । अथवा असु धातु का रूप है जो छान्दस है और फेंकने के अर्थ में है ।

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि। ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परिभूषयन्त्यश्वम् ॥००

अर्थ—(मांस्पचन्या उखायाः यत् नीक्षणम्) जो लोग अश्व के पुरीष[1] के पकाने के उदर कोष्ठक[2] को भली प्रकार जानते है, जो (यूष्णः पात्राणि आसेचनानि) रस बनने के आसेचन पात्र=कोष्ठक को, तथा जो (ऊष्मण्या अपिधाना चरूणामंकाः) ऊष्मा=जाठराग्नि के पिधान=स्थान और अन्न आदि चर्व्य पदार्थों के परिचय के लक्षण को जानते हैं वे ही अश्व को (परिभूषयन्ति) सुशोभित करते हैं। अर्थात् अश्वायुर्वेदज्ञ ही अश्व को उत्तम रख सकता है।

२ अर्थ—जो लोग मास पकाने की स्थाली से वैमनस्य रखते हैं, रस जल आदि पात्रों का ज्ञान रखते है, गर्मी आदि के छादक वस्तुवो को जानते हैं, तथा चर्व्य पदार्थो के (चने आदि के) गुण वा लक्षण को जानते है वे ही अश्व को भली प्रकार पाल पोष कर सुसज्जित रख सकते हैं।

३ अर्थ—जो लोग अन्न[3] पकाने के पात्र का परिज्ञान रखते है अथवा पुरोडाश[4] पकाने के पात्र का ज्ञान रखते हैं तथा सोमरस वा यवरस आदि के रोचक पात्र का ज्ञान रखते है, अग्नि के ढकने का ज्ञान रखते हैं, और आहुति देने योग्य चरु के लक्षण=प्रकार को जानते हैं वे ही अग्नि को भली प्रकार यज्ञ में सुदीप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार जिन्हें बहुत आपत्तिजनक मन्त्र लोग समझते हैं और अपने पक्ष की पुष्टि मे विपक्षी जिनका उल्लेख करते हैं उनका अर्थ देकर यह सिद्ध किया गया कि वेद मे मास खाने का विधान नहीं है। यज्ञ में भी किसी प्रकार के पशु बलि का विधान नही है। यहाँ पर संक्षेप में ही इस विषय पर विचार करना अभीष्ट था। अन्य ग्रन्थों में जिनका सकेत पहले कर दिया गया है, इस विषय का वर्णन मिलता है। यहाँ इस विषय में जो कुछ लिखा गया वह शंका-शूको के निरसन में पर्याप्त होगा।

1. मांसं वै पुरीषम्। शतपथ ८।६।२।१४, ८।७।३।१
   मांसं पुरीषम्। शतपथ ८।७।४।१९
2. उदरमुखा। शतपथ ७।५।१।३८
3. अन्नमु पशोर्मासम्। श० ७।५।२।४२
4. पहले बतलाया जा चुका है कि पुरोडाश बनाते समय मांस भी उसकी एक स्थिति वा संज्ञा है।

जगत् के मूलतत्व—यह दृश्य संसार क्या है ? इसके मूल में कौन सी सत्तायें हैं ?—ये प्रश्न हैं जिनका समाधान मानव मस्तिष्क चाहता है। वेद का दर्शन इस विषय में बहुत ही उत्तम विचार उपस्थित करता है। ऋग्वेद १।१६४।२० मंत्र में यह कहा गया है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा नाम के दो पक्षी बैठे हुये हैं। जीवात्मा उसके फलों को खाता है। परन्तु परमेश्वर न खाता हुआ साक्षी मात्र होकर देखता है। पुनः आगे २१वें और २२वें मंत्रों में कहा गया है कि इस वृक्ष पर अनेकों जीव अपने कर्मानुसार उत्पन्न होते और फल को भोगते रहते हैं। इससे जीवों का बहुत्व सिद्ध होता है। पुनः १३वें मंत्र में इस जगत् को प्रवाह-रूप से अनादि बताते हुए पाँच अरों वाले अर्थात् पांचभूतों वाले अरों से युक्त चक्र कहा गया है। चक्र कहना ही जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का चक्रवत् वर्तना बतलाता है। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी प्रकृति, जीव और परमेश्वर का वर्णन है। अथर्व १०।८।२५ में तीनों को सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कहा गया है। ऋग्वेद १।१६४।४४ तीन केशी=प्रकाश शक्तियों के नाम से इन तीनों मूल कारणों का वर्णन है। इस प्रकार वेद जगत् के मूल में प्रकृति, जीव और ईश्वर तीन मूल सत्तायें स्वीकार करता है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है और जीव भोक्ता एवं साधारण कारण है। परमात्मा निमित्त—कारण है।

कई लोग यह कहते हैं कि नासदीय सूक्त मे अद्वैतवाद का प्रतिपादन है परन्तु सूक्त के अध्ययन से यह बात उल्टी जाती है।[1] उसमें अतिरिक्त और कोई नहीं है—यह भाव ही प्रतिपाद्य नही है अपितु उसका आशय यह है कि उसके समान उससे भिन्न कोई नहीं था। उसके अतिरिक्त जीव और प्रकृति आदि तत्व नही थे—यह उसका भाव नही है। उस सूक्त में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि स्वधा प्रकृति नीचे थी और परमेश्वर का प्रयत्न उसके ऊपर[2] था। मुक्त जीव और बद्ध[3] जीव भी थे। 'तम आसीत्' सूत्र ही इस सूक्त का रहस्य[4] है। जब मंत्रों में स्पष्ट ही त्रैतवाद का प्रतिपादन हो रहा है तो फिर यह कहना कि इस सूक्त में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है—सर्वथा ही अतथ्यभूत बात है।

1. तस्माद्धान्यः परः किञ्चनास ।
2. स्वधा अधस्तात् प्रयतिः परस्तात्
3. रेतोधा आसन् महिमान आसन्
4. देखें मेरी पुस्तक वैदिक-ज्योति ।

वेद में एक परमात्मा की उपासना का वर्णन है—अनेक देवों की उपासना का नही। वेद मंत्रों के अर्थ को न समझने के कारण यह गलत धारणा लोगों की बन गई है। ऋग्वेद १।१६४।४६ में बताया गया है कि उस परमेश्वर को ही इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहा जाता है। वही दिव्य है, सुपर्ण है, और वही गरुत्मान् है। उस एक ही सत् को मेधावी जन बहुत नामों से पुकारते है। उसे ही अग्नि यम और मातरिश्वा भी कहते हैं।

यहाँ मंत्र में मित्र आदि सभी शब्द एक बार आए हैं परन्तु अग्नि पद दो बार आया है। इसका कारण क्या है? । पता चलेगा कि यहाँ पर 'अग्निम् अग्निम् आहुः' अर्थात् अग्नि को भी अग्नि कहते हैं, इस विशेषण और विशेष्य के भाव को दिखाने के लिए यह पद दो बार आया है। प्रत्येक पद विशेषण और विशेष्य इसी आधार पर यहाँ बन जावेगा। अतः यहाँ पर मंत्र में एक परमात्मा की उपासना का वर्णन है अनेक देवों का नहीं।

परमात्मा के स्वरूप का विशेष वर्णन जो वेद में मिलता है वह यह स्पष्ट करता है कि परमेश्वर जगत् का कर्त्ता, धर्ता, और हर्त्ता है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्व-व्यापक और सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह कभी न मूर्त बनता और न अवतार लेता[1] है। यजुर्वेद ४०।८[2] में यह लिखा गया है कि परमेश्वर में किसी प्रकार का अज्ञान और दोष आदि नही है। वह शुद्ध और पवित्र है अतः सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीर आदि से रहित है। वह कभी जन्म मरण के बन्धन में नहीं आता है। परमात्मा को 'ऋतस्य गोपाः' कहा गया है। सृष्टि में शाश्वत नियम काम करते हैं। वेद में उन्हें ऋत कहा गया है। इस ऋत् का रक्षक एवं प्रवर्त्तक परमेश्वर है। अतः यह 'ऋतस्य गोपाः' है।

वेद में एक विशेषता यह है कि वह ज्ञान और भाषा की प्रेरणा भी परमेश्वर से मानता है। ऋग्वेद के १० मण्डल के ७१ वें सूक्त में इस विषय का वर्णन पाया जाता है। वेद में परमेश्वर को नामधा और एकमात्र कहा गया है। समस्त प्रश्नों का वही एक समाधान है। वह विश्वकर्मा है। समस्त जगत् उसकी सत्ता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। परमात्मा की उपासना में मूर्त्ति आदि का माध्यम वेद में नहीं

1. इस विषय का विशेष वर्णन मेरी पुस्तक आर्य-सिद्धान्त-सागर और दर्शनतत्व-विवेक में है।
2. सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् ० ॥ यजु: ४०।८

है। वेद में मूर्तिपूजा का सर्वथा अभाव है। वह निराकार है—साकार नहीं। उसकी भक्ति या उपासना का क्रम यह है कि प्रथम जगत् और उसके कारण प्रकृति को जाना जावे। पुनः उससे सूक्ष्मतर वस्तु जीवात्मा का परिज्ञान किया जावे और अन्त मे सबसे सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतम तत्त्व परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त किया जावे। जगत् मे तीनो पदार्थ अपने-अपने कार्य कर रहे है। तीनों का विभज्य स्वरूपदर्शन ही सच्ची भक्ति है। वस्तुतः संसार का कोई भी अणुमात्र पदार्थ नही जहां उसकी सत्ता न दिखाई पड़े। वह वेद के शब्दों में 'ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु" है।

जीव—जीव शरीर आदि से पृथक् नित्य, परिच्छिन्न, सूक्ष्म, पृथक् चेतन सत्ता है। जीव अनेक हैं—एक ही नहीं। अपने कर्मानुसार जीव संसार की विभिन्न योनियों में आता है और कर्मों का फल भोगता है। वह भोक्ता, द्रष्टा, कर्त्ता और ज्ञाता[1] है। लोग कभी-कभी यह भी कहते हैं और बलपूर्वक कहने का साहस करते हैं कि वेद में पुनर्जन्म आदि का वर्णन नहीं है। परन्तु उनकी यह धारण सर्वथा ही मिथ्या है। पुनर्जन्म का वर्णन वेद में मिलता है। अथर्व १।१।२ में कहा गया है कि वाणी का स्वामी यह जीव पुनः-पुनः इन्द्रिय और मन के साथ उत्पन्न होता है। ऋग्वेद ४।२७।२ में ऐसा वर्णन मिलता है कि योग की अवस्था मे जीव को यह ज्ञान होता है कि वह अनेकों जन्मों में जा चुका है। ऋग्वेद १।१६४।३१ मंत्र में यह भाव प्रकट किया गया है कि यह इन्द्रियों का स्वामी जीव अपने कर्मानुसार भली बुरी योनियों में जन्म धारण करता है। वहाँ मंत्र मे शब्द ही पड़े हैं—"आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः" जिसका अर्थ है कि पुनः-पुनः भुवनों में उत्पन्न होता है।

जीव का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की की प्राप्ति है। वह संसार में योग आदि साधनों को प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है। उसके जीवन का अन्तिम उद्देश्य ही मोक्ष एवं अपवर्ग है। दुःखों से छूटने और आनन्द को प्राप्त करने की भावना उसमें पाई जाती है। वह इस भावना से पूरित है कि "मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" अर्थात् हे भगवन् मुझे मृत्यु आदि दुःखों ने छुड़ा—अमृत अर्थात् मोक्षानन्द से नहीं। संसार में दुःख भी है सुख भी। परन्तु सुख भी दुःख से मिला हुआ है। सदा दुःख का खटका बना रहता है। इसी को दूर करने का जीव प्रयत्न करता है जो उसकी मोक्ष-प्रवृत्ति का सूचक है। वेद सदा कर्मशील रहने का उपदेश

---

1. ऋग्वेद ६।९।४; १।१६४।३०,३८; १०।१७७।१; १।१६४।२२; १।१६४।३७;

देता है। कर्म जैसे होते है उनका वैसा ही फल भी कर्त्ता को मिलता है। उत्तम कर्म का उत्तम फल और बुरे कर्म का बुरा फल ईश्वर की न्याय-व्यवस्था में मिला करता है। कर्म का विषय बहुत विस्तृत है। इसका यहाँ पर विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता[1] है।

श्रेष्ठ कर्मों का नाम यज्ञ है। यज्ञ का वेदों में बड़ा महत्व है। परन्तु वह अध्वर है क्योंकि उसमें हिंसा का सर्वथा अभाव है। वेद का यज्ञ पद देव-पूजा, संगति-करण और दान के अर्थ को लिए हुए है। सैक्रीफाइस (Sacrifice) शब्द यज्ञ के अर्थ से सर्वथा ही शून्य है। जितने भी पाश्चात्य-सरणि के विद्वान् हैं बहुधा यज्ञ का यही अर्थ लेते है। परन्तु यह सर्वथा अनुचित है। अंग्रेजी का यह पद यज्ञ का अनुवाद है ही नहीं। यज्ञ शब्द वेद में व्यापक अर्थों का देने वाला है। यजुर्वेद में 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' से इस व्यापकता पर अधिक प्रकाश पड़ता है। सभी ज्ञान-विज्ञान उत्तम क्रिया इस यज्ञ के अर्थ में आ जाती हैं। इसी आधार पर शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता ने लिखा कि श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ है। यज्ञ पद परमेश्वर और कई भौतिक पदार्थों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्म और यज्ञ-याग इस यज्ञ की परिभाषा में आते है। जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थायें है। इन अवस्थाओं से जीव का शरीर से पृथक् होना सिद्ध होता है। यहाँ पर यह ज्ञात रहे कि परमेश्वर का नाम 'ओम्' है। यही एक अक्षर है। यह सारी वाणियों का अक्ष है। यह सारा जगत् इस ओम् अक्षर का व्याख्यान है।

प्रकृति—पहले यह कहा जा चुका है कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। वेद में उसे स्वधा, तमः, अदिति, सलिल, अम्भु, अजा, अवि, आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। प्रकृति में सारा जगत् परमात्मा की निमित्तता से उत्पन्न होता है। प्रकृति जगत् का उपादान होने से विभिन्न कार्यों के रूप में परमात्मा की ईक्षण-क्रिया से प्रकट होती है। संसार के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि जितने पदार्थ हैं प्रकृति के कार्य हैं। संसार में कार्यकारण का एक नियम देखा जाता है। प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। बिना कारण कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। आम के बीज में आम और नीम के बीज में नीम का सिद्धांत अटल है। इसका कभी उल्टा नहीं देखा जाता है। दूध से दही बनता है पानी से नहीं। तिल में तेल निकलता है रेत से नहीं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं

1. कर्म के विषय में विशेष जानकारी के लिए मेरी पुस्तक कर्ममीमांसा देखें।

होता है और कारण के गुण उसके कार्य में किसी-न-किसी रूप में अवश्य आते हैं। परन्तु यह नियम उपादान के लिए है। इस नियम के आधार पर ही जगत् की प्रक्रिया को वेद में दार्शनिक रूप दिया गया है। अथर्ववेद १०।८।३१ मे यह लिखा गया है कि अवि=प्रकृति नाम की एक देवता है जो ऋत=परमात्मा के नियम से ढकी है। उसी के तत्व से ये संसार के सारे पदार्थ बने है। यजुर्वेद २३।५६ में कहा गया है कि यह प्रजा=प्रकृति जगत् को अपने अन्दर से प्रकट करती है और प्रलय में अपने अन्दर ले लेती है। अथर्व १०।८।३० मे यह भाव व्यक्त किया गया है कि यह प्रकृति सनातन है और अनादि है। यह पुरातन है और अपने सभी विकारों में उपस्थित है। यह सब कार्यो मे प्रकाशमान हो रही है। प्रत्येक गतिमान जीव के साथ परमेश्वर के नियम में यह अपने स्वरूप को प्रकट करती है। परमाणु रूप से प्रकृति का वर्णन वेद में पाया जाता है। यजुर्वेद १७।१६ में लिखा है कि परमाणुवों द्वारा द्यु और पृथ्वी लोक को उत्पन्न करता हुआ एक देव परमेश्वर सब में व्यापक हो रहा है।

जगत् मिथ्या नहीं है। जिसका उपादान कारण पाया जावे और वह उपादान स्वयं सत्य हो, वह कभी भी मिथ्या नही कहा जा सकता है। वेद में (१०।१२६।३) कहा गया है कि यह जगत् कारण में कार्य रूप मे प्राप्त होता है। जगत् की रचना के विषय में कहा गया है (ऋग्वेद १०।१९०।३) कि सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि समस्त पदार्थों को परमेश्वर ने वैसा ही इस कल्प में भी बनाया है जैसा पहले कल्पों में बनाया था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कल्प में संसार के समस्त पदार्थ एक से ही बनाये जाते हैं। इस आधार पर यह सुतराम् सिद्ध है कि जगत् मिथ्या नहीं— सत्य है। वेद में इस विषय में पचभूतों का भी वर्णन पाया जाता है। पुरुष कितने तत्वों के इस शरीर में आकर प्रविष्ट हुआ है—इसका उत्तर देते हुए लिखा गया है कि 'पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश अर्थात् पांच तत्वों के अन्दर आकर पुरुष ने प्रवेश पाया है और पांच ही ज्ञानेन्द्रिय के रूप में उसे दिये गये हैं। जगत् को अग्निषोमात्मक भी माना गया है। ऋण और धन के रूप में विद्यमान कारण विद्युत् को लेकर जगत् को अग्निषोमात्मक कहा गया है। शतपथ में अग्नि और सोम की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जो शुष्क भाग है वह आग्नेय है और जो आर्द्र भाग है वह सौम्य है। शीतोष्णात्मक द्वन्द्व के विविध परिणाम संसार में देखे जाते हैं।

जगत् में ईश्वर की व्यापकता का वर्णन करते हुये वेद में लिखा गया है कि इस जगती में जो कुछ भी है वह जगत् है —अर्थात् गतिमान है। इसमें परिणाम का

अनुभव हो रहा है। काल और देश में इसकी स्थिति है। इसमें मूर्त्तता होने से देश है और परिणाम एवं परिवर्त्तन होने से काल है। अथर्ववेद के काल-सूक्त में समस्त भुवनों को काल का चक्र कहा गया है। जिस प्रकार पहिये से गाड़ी का चलना प्रकट होता है। उसी प्रकार भुवन-चक्र से काल के प्रवाह का परिज्ञान होता है। समस्त भुवनों को काल अपने गतिप्रवाह मे बहा रहा है। ससार का कोई भी उत्पन्न पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें उत्पत्ति पाई जावे और काल का होना न पाया जावे। अतः काल जन्य-पदार्थों का एक कारण है। इस प्रकार ईश्वर, जीव, और प्रकृति—ये तीन मूलतत्त्व हैं जो जगत् कारण के रूप मे वेदों में स्वीकार किये गये हैं।

कुछ मौलिक शिक्षायें १. जीवन भर (शत समा पर्यन्त) निष्काम कर्म करते रहना चाहिए। इस प्रकार का निष्काम कर्म पुरुष मे लिप्त नही होता है। यजुः ४०।२

२. जो ग्राम, अरण्य, रात्रि-दिन, में जानकर अथवा अजानकर बुरे कर्म करने की इच्छा है अथवा भविष्य में करने वाले है···उनसे परमेश्वर हमे सदा दूर रखे।

३. हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! वा विद्वन् आप हमें दुश्चरित से दूर हटावें और सुचरित में प्रवृत्त करें। यजुः ४।२८

४. हे पुरुष ! तू लालच मत कर, धन है ही किसका। यजुः ४० १

५. हे भगवन् ! हम सत्य का पालन करें, झूंठ के पास भी न जावें, । ऋ.८।६२।१२

६. एक समय में एक पति की एक ही पत्नी और एक पत्नी का एक ही पति होवे। अथर्व ७।३७।१

७. हमारे दायें हाथ में पुरुषार्थ हो और बायें में विजय हो। अथर्व ७।५८।८

८. पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि परस्पर किस प्रकार व्यवहार करें—इसका वर्णन अथर्व ३।३० सूक्त में है।

९. उत्तम मति, उत्तम कृति और उत्तम उक्ति का सदा मानव में स्थान होना चाहिए। ऋग्वेद १०।१९१।१-४

१०. सभा और समिति राजा की पुत्री के समान है। इनमें बैठने पर सत्य और उचित ही सम्मति देनी चाहिए। अथर्व ७।१२।१

११. द्यूत नहीं खेलना चाहिए। इसको निन्द्य कर्म समझें। ऋग्वेद १०।३४ सूक्त।

१२. सात मर्यादायें हैं जिनका सेवन करने वाला पापी माना जाता है। इन सातों पापों को नहीं करना चाहिए। स्तेय, तल्पारोहण, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्कृत कर्म का पुनः-पुनः करना; तथा पाप करके झूठ बोलना—ये सात मर्यादायें हैं। ऋग्वेद १०।५।६

१३. पशुओं के प्रिय बनो और उनका पालन करो। अथर्व १७।४ और यजुः १।१

१४. चावल, खावो, यव खावो, उड़द, खावो, तिल खावो—इन अन्नों में ही तुम्हारा भाग निहित है। अथर्व ६।१४०।२

१५ आयु यज्ञ से पूर्ण हो मन यज्ञ से पूर्ण हो; आत्मा यज्ञ से पूर्ण हो और यज्ञ भी यज्ञ से पूर्ण हो। यजुर्वेद २२।३३

१६. संसार के मनुष्यों में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है। सब एक परमात्मा की सन्तान हैं और पृथिवी उनकी माता है। सबको प्रत्येक के कल्याण में लगे रहना चाहिए। ऋग्वेद ५।६०।५

१७. जो समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में देखता है उसे किसी प्रकार का मोह और शोक नहीं होता है। यजुः ४०।६

१८. ऋतकी प्रकाशरश्मियां पूर्ण हैं। ऋत का ज्ञान बुरे कर्मों से बचाता है। ऋग्वेद ४।२३।८

१९. परमेश्वर यहां वहां सर्वत्र और सबके बाहर भीतर भी है। यजु. ४०।५

२०. इन्द्रियाँ परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकती हैं। यजुः ४०।४

२१. प्रजा के पालक परमेश्वर ने सत्य और असत्य के स्वरूप का व्याकरण कर सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा धारण करने का उपदेश किया है। यजुः १९।७७

२२. अपने ज्ञान और कर्म से मनुष्य परमेश्वर का भक्त बनाता है और इन्हीं से दुर्गुणों से भी दूर रहता है। ऋ. ५।४५।११

२३. कुटिल कर्म अथवा उल्टे कर्म का नाम ही पाप है। ऋग्वेद १।१८९।१

२४. हमारा मन सदा उत्तम विचारों वाला ही हो। यजुः ३४।१

२५. अतपस्वी मनुष्य कच्ची बुद्धि का होता है अतः वह उस परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता है। ऋ. ९।८३।१

२६. यह शरीर अन्त में भस्म हो जाने वाला है। हे जीवात्मन् ! तू अपना, अपने कर्म और ओम् का स्मरण कर। यजुः ४०।१५

२७. परमेश्वर का सखा न मारा जाता है और न वह कभी हानि उठाता है।

२८. सत्य, बृहत् ऋत, उग्र, तपस, दीक्षा, ब्रह्म और यज्ञ पृथिवी का धारण करते हैं।

२९. मनुष्य में उल्लू, भेड़िया, सुपर्ण, गृध्र, श्वा, और कोक का व्यवहार नहीं होना चाहिए।

३०. जो बैठा है, जो चलता है, जो छिपकर चलता है, जो भय देता है, तथा दो आदमी जो बैठकर आपस में कानाफूसी करते हैं—परमात्मा तीसरा होकर इस सबको जानता है।

३१. उस भगवान् को जान कर ही मानव मृत्यु को लांघ जाता है···कल्याण का अन्य कोई मार्ग नहीं। यजुः ३१।१८

३२. बहुत सन्तानों वाला दुःख को प्राप्त होता है। ऋ १।१६४।३२

३३. मनुष्य बनो और उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करो। ऋग्वेद १०।११४।१०

३४. आत्मघाती अन्धकारमय लोकों को प्राप्त होता है। यजुः ४०।३

३५. सब दिशायें हमारे लिए मित्रवत् होवें। अथर्व १९।१५।६

३६. ब्रह्मचर्य और तप से विद्वान् लोग मृत्यु को पार करते हैं।

३७. हम सदा ज्ञान के अनुसार चलें कभी भी इसका विरोध न करें। अथर्व १।१।४

३८. अपने कानों से हम सदा अच्छी वस्तु सुनें, आंखों से अच्छी ही वस्तु को देखें, सदा हृष्ट-पुष्ट शरीर से स्तुति करें और समस्त आयु उत्तम कर्म के लिए ही हो। यजुः २५।२१

३९. उत्तम कर्म करने वालों का किया हुआ उत्तम कर्म हमारे लिए कल्याणकर हो। ऋग्वेद ७।९५।४

४०. हमारे लिए दिन कल्याणकारी हो और रात्रियें भी सुखकारी हों। यजु। ३६। १

उपसंहार—पुस्तक को ६ अध्यायों के कलेवर में यहाँ तक पहुँचाने के बाद अब विराम की तरफ रुचि होना स्वाभाविक है। पर्याप्त विस्तार दिया गया। अभी बहुत सी बातें मस्तिष्क में लिखने की इच्छा से शेष भी हैं परन्तु पुस्तक का विस्तार और अधिक हो जावेगा इसलिए विराम की भावना से उपसंहार करने में प्रवृत्त हो रहा हूँ। वैदिक एज की सभी भ्रान्तियों का निराकरण करने की इन अध्यायों में पूरी चेष्टा की गई। वैदिक एज को दृष्टि-पथ में रखते हुए भी इन अध्यायों में अन्य शतशः पुस्तकों का भी उत्तर दे दिया गया है। कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ इतिहास और वेदकाल आदि के विषय में फैलाकर दृढ़मूल कर दी गई हैं कि उनका निराकरण बिना किए हुए प्रस्तुत विषय के साथ न्याय किया ही नहीं जा सकता था। अतः इन भ्रान्तियों के दूर करने में कोई भी कोर कसर नहीं रखी गई है। इन नव अध्यायों को पढ़ने के अनन्तर एक निष्पक्ष विद्वान् जिस परिणाम पर पहुँचेगा मेरा विचार है कि वह परिणाम भ्रान्त धारणावों को विध्वस्त करके स्थापित किया हुआ वास्तविक तथ्य होगा। अन्य कुछ स्थापना करने का स्थान नहीं रह जावेगा। सत्य में प्राची, प्रतीची और देशकाल का भेद नहीं होता है। परन्तु कभी भी इन दीवारों में रहकर सत्य को लोग सत्याभासों से भी छादित कर देते हैं। वैदिक एज इन सत्याभासों की पुस्तकों में एक है।

बहुधा लोग अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए संभव और संभावना का आश्रय लिया करते हैं। यह सदा अदृढ़ पक्ष की स्थिति रही है। दर्शन के क्षेत्र में दार्शनिक की अशक्तता को छिपाने का एक बड़ा आश्रय 'अकस्मात्' शब्द में मिला। जब भी क्यों ? और कैसे ? का उत्तर नहीं बना तब इस अकस्मात् (By chance) का अवलम्ब पकड़ा गया। बाद में इसे एक दर्शन का रूप ही प्रदान कर दिया गया। यही बात इन संभव और संभाव्यता आदि में भी पाई जाती है। ऐतिहासिक बहुधा अपने सत्याभासों के प्रकटीकरण और स्थिरीकरण में इन शब्दों की आड़ लिया करते हैं। वैदिक एज में इन शब्दों की जादूगरी का पूरा लाभ उठाया गया है। यह वस्तुतः इन शब्दों का एक कोष ही बन गया है। इसके बलाबल का पूरा विचार करके इसका पर्याप्त परीक्षण कर दिया गया है और यह प्रकट कर दिया गया है कि इन शब्दों के प्रयोग से वैदिक एज द्वारा प्रदर्शित समस्त निर्णय, निश्चित तथ्य होना तो दूर रहा, सत्याभास सिद्ध हो गए हैं। ये वाद या सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते हैं।

इतिहासकारों ने अपनी सुविधा के लिए कुछ कल्पित एवं भ्रान्त स्थापनायें स्थापित कर रखी है। उनका अनेकों प्रकार है। इन समस्त प्रकारों पर भी इस पुस्तक में विचार करके इन्हें कल्पित एवं भ्रान्त सिद्ध किया गया है। विभिन्न युगों आदि की कल्पना ऐसी वस्तुवें है कि जिनके रहते हुए आर्येतिहास और वैदिक काल का वास्तविक स्वरूप नहीं रखा जा सकता है। अनेक उपजातियों की कल्पनावों ने मानव के इतिहास को वस्तुतः दानव का इतिहास बना दिया है। सर्वत्र भेद-भाव की लहरें बह रही हैं। इन सबका भी निराकरण कर वास्तविक इतिहास को बताने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। भूस्तरो की गणना और भूगर्भ-शास्त्र के कुछ उपकरणों एवं पुरातात्विकी की उपलब्धियों आदि के आधार पर जो निर्णय किए जाते हैं— इनकी सारासारता की भी परीक्षा की गई है। कई विषयों में इन्हीं की कल्पनावों से इनका खण्डन कर दिया गया है। अगर भूगर्भ का सहारा लेकर कोई वेद के काल का संकोच कर एक सहस्र वर्ष का उसे बनाना चाहता है तो उसी शास्त्र के आधार पर वेद के काल को बहुत लम्बे काल के रूप में स्थापित कर दिया गया है। मानव के उदय काल के विषय में भूगर्भ शास्त्र से ही पर्याप्त प्रकाश डालकर उसे अरबों वर्षों तक ले जाने का सफल उद्योग किया गया है।

वर्तमान में एक बहुत बड़ा होवा भाषा-विज्ञान और विकासवाद का है। इसे लोगों ने विज्ञान और दर्शन नाम दे रखा है। वस्तुतः इनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है इस प्रसंग में अनेक प्रमाणों और युक्तियों आदि से यह सिद्ध कर दिया गया है कि भाषा-विज्ञान के कोई नियम नही हैं। इसे विज्ञान कहना नितान्त भ्रम है। भाषावें की विशेष प्रकार से जाँच-पड़ताल करके भाषा-विज्ञान को निराधार सिद्ध किया गया है। साथ ही यह दिखलाया गया है कि ईश्वरीय ज्ञान वेद का काल भाषा-विज्ञान के आधार पर कृतना समुचित नहीं। भाषा-विज्ञान से न तो काल का निर्णय हो सकता है और न इतिहास की किसी कड़ी का ही निर्धारण किया जा सकता है। जो परिणाम इस आधार पर निकाले गए हैं वे सर्वथा ही विपरीत और असमीचीन हैं वस्तुतः भाषा और ज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से मानव को प्राप्त होते है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है और वेद की भाषा भी ईश्वर-प्रदत्त है। संसार में वेद की भाषा किसी देश और काल में बोल-चाल की भाषा नहीं रही है। वही आदि वाणी है जिसके आधार पर संसार की समस्त भाषायें विकृत होकर बनी। संसार में जिसे भाषा-वैज्ञानिक

उल्टा मार्ग इस में लिया गया है। परिश्रम, तर्क प्रमाण और वैचिती से यह सिद्ध किया गया है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इनकी प्रेरणा का समय लगभग दो अरब वर्ष पूर्व जाता है, इनसे पूर्व संसार में कोई धर्म वा भाषा नहीं थे और न आर्यों से पूर्व संसार में कोई जाति ही थी। वेद सृष्टि के प्रारम्भ में मिला आदि ज्ञान है और आर्य जाति ही आदि जाति है।
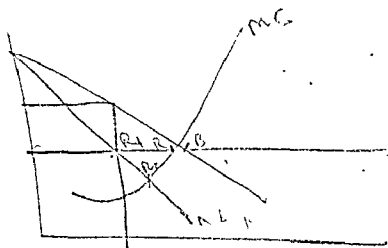
कुछ विशेष ग्रन्थ जिनका सहयोग लिया गया

१. वेद—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व – विभिन्न भाष्यों सहित
२. ब्राह्मण—शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, जैमिनीय और ताण्ड्य
३. उपनिषद्—मुण्डक आदि
४. दर्शन—छः दर्शन और उनके भाष्य आदि
५. वेदाङ्ग—निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण=महाभाष्य—अष्टाध्यायी, गोभिल गृह्यसूत्र
६. स्मृति—मनुस्मृति
७. इतिहास—रामायण, महाभारत
८. आर्यों का आदिदेश—श्री सम्पूर्णानन्द
९. वैदिक सम्पत्ति—श्री रघुनन्दन शर्मा
१०. वैदिक साहित्य—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी
११. अवेस्ता और उसका भाषानुवाद—पं० राजाराम शास्त्री
१२. Hymns of Zorcaster—by Kenneth Sylvan Guthric
१३. Zoroastrianism—by Annie Besent
१४. The Vedic Origin of Zoroastrianism —by Rulia Ram Kashyap M. Sc.
१५. Religion in the Twentieth Century —by Vergilius Ferm
१६. Science of Religions (English Version) —by *Emile Burnouf*
१७. The Origin of Religion—by *Rafael Karsten Ph. D.*
१८. Rigvedic India—by A. C. Das
१९. *The Vedic Fathers of Geology*—by N. B. Pavgee
२०. India What Can It Teach Us—by Maxmuller
२१. The Fountain Head of Religion —by Pt. Ganga Prasad M. A.

२२. सत्यार्थप्रकाश—महर्षि दयानन्द सरस्वती
२३. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—श्री पं० भगवद्दत्त जी बी० ए०
२४. भारतवर्ष का इतिहास—श्री आचार्य रामदेव बी० ए०
२५. Vedic Age—by R. C. Majumdar M. A., Ph. D.
२६. आत्मदर्शन—श्री महात्मा नारायण स्वामी
२७. चरक और सुश्रुत
२८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—महर्षि दयानन्द सरस्वती
२९. Bible In India—by M. Louis Jacolliot
३०. काठक शाखा
३१. मैत्रायणी शाखा
३२. तैत्तिरीय शाखा
३३. अन्यान्य पुस्तकें और लेख आदि